ओ३म्

वेद भाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियायें

डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

पुस्तकालय

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार

विषय संख्या ९४.१ राम-वे आगत नं० 155599

लेखक रामनाथ वेदालंकार

शीर्षक वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

ओ३म् ओ३म् ओ३म्

…तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

ऋग्वेद
यजुर्वेद
सामवेद
अथर्ववेद

ओ३म्

ओ३म्



आर्य धर्मार्थ न्यास श्री घूड़मल प्रह्लादकुमार

ओ३म्

वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाएँ

आचार्य रामनाथ वेदालंकार

प्रकाशक : **श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास**
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी, (राज०)- ३२२ २३०
दूरभाष : ०९३५२६७०४४८
चलभाष : ०९४१४०३४०७२, ०९८८७४५२९५९

संस्करण : तृतीय, २००८ (ऋषि दयानन्द के बलिदान का १२५वाँ वर्ष)

मूल्य : १००.०० रुपये

प्राप्ति-स्थान :
१. **हरिकिशन ओम्प्रकाश,** ३९९, गली मन्दिरवाली, नया बाँस, दिल्ली-६, चलभाष : ०९३५०९९३४५५
२. **सुबोध पॉकेट बुक्स** २/४२४०-ए, अंसारी रोड, नई दिल्ली-२ चलभाष : ०९८१०००५९६३
३. **श्री राजेन्द्रकुमार,** १८, विक्रमादित्य पुरी, स्टेट बैंक कॉलोनी, बरेली (उ०प्र०) चल० : ०९८९७८८०९३०
४. **श्री वैदिकानन्द,** श्री स्वामी दयानन्द ब्रह्मज्ञान आश्रम न्यास, वैदिक सदन, भँवरकुँआ, इन्दौर-४५२ ००१, चलभाष: ०९३०२३६७२००
५. **गणेशदास-गरिमा गोयल,** २७०४, प्रेम-मणि निवास, नया बाजार दिल्ली-६, चलभाष : ०९८९९७५९००२
६. **श्री दयारामजी पोद्दार,** झारखण्ड राज्य आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्यसमाज मन्दिर, स्वामी श्रद्धानन्द पथ, राँची (झारखण्ड)-८३४ ००१ चलभाष : ०९८३५७६५७४३

टाईप सैटिंग : **स्वस्ति कम्प्यूटर्स,** कैलाशनगर, दिल्ली-३१

मुद्रक : **राधा प्रेस,** कैलाशनगर, दिल्ली - ११० ०३१

॥ ओ३म् ॥

वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाएँ

[महर्षि दयानन्द की वेदभाष्यप्रक्रिया के विशेष विचार सहित]

महर्षि-दयानन्द-वैदिक-अनुसन्धान-पीठ,
पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के तत्त्वावधान में लिखित

आचार्य रामनाथ वेदालंकार
एम०ए०, पी-एच०डी०

प्रकाशक
श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ-न्यास
ब्यानिया पाड़ा, हिण्डौन सिटी (राजस्थान)

प्रारम्भिक शब्द

वेदार्थ-प्रक्रियाओं का विषय वेद-व्याख्या की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। वेदों के सम्बन्ध में एक शंका प्रायः यह उठायी जाती है कि एक ही मन्त्र का कोई व्याख्याता एक अर्थ करता है, तो अन्य व्याख्याता उसका उससे भिन्न कोई पृथक् ही अर्थ उपस्थित करते हैं। ऐसी अनिश्चितता क्यों है? यदि वेदमन्त्र एक सार्थक रचना है तो सभी विद्वानों को उसका एक-समान ही अर्थ करना चाहिए, जैसे लौकिक संस्कृत के किसी श्लोक का सभी संस्कृतज्ञ समान अर्थ करते हैं। यदि लौकिक संस्कृत के श्लिष्ट वाक्यों के समान वेदमन्त्रों को द्व्यर्थक रचना भी मान लिया जाये, तो भी वे दो या अधिक अर्थ सबको एक प्रकार के ही स्फुरित होने चाहिएँ, न कि भिन्न-भिन्न प्रकारों के। उदाहरणार्थ संस्कृत के निम्न श्लोक द्रष्टव्य हैं—

१. वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

२. यो ऽ सकृत् परगोत्राणां पक्षच्छेदक्षणक्षमः।
शतकोटिदतां बिभ्रद् विबुधेन्द्रः स राजते॥

३. पृथुकार्त्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव।
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम्॥

प्रथम श्लोक में श्लेष नहीं है। अतः 'मैं वाणी और अर्थ के समान परस्पर संपृक्त जगत् के माता-पिता पार्वती और परमेश्वर की वाणी और अर्थ के ज्ञान के लिये वन्दना करता हूँ', यही एक वाच्यार्थ होता है।

द्वितीय श्लोक में अभंग श्लेष है। 'विबुधेन्द्रः' के दो अर्थ होते हैं, एक देवों का राजा इन्द्र, दूसरा बुद्धिमानों में श्रेष्ठ राजा। विशेषण भी दोनों पक्षों में भिन्न-भिन्न अर्थ देते हैं। इन्द्र अनेकशः श्रेष्ठ पर्वतों के (परगोत्राणाम्) पंखों को काटने में क्षणभर में ही समर्थ है और अपने शतकोटि वज्र से विनाश लीला को धारण करता है।[१] राजा अनेकशः शत्रुवंशों के (परगोत्राणाम्) पक्ष के विनाशोत्सव (छेद-

१. इन्द्रपक्ष में—शतकोटिना वज्रेण द्यति खण्डयतीति शतकोटिदः (दो अवखण्डने)।

क्षण) में समर्थ है और स्वपक्ष के लिए सौ करोड़ मुद्राओं की दानशीलता को धारण करता है[२]।

तृतीय श्लोक में सभंग श्लेष है। कोई निर्धन मनुष्य किसी राजा से कहता है कि सम्प्रति हम दोनों का घर समान है। आपका घर बड़े-बड़े स्वर्ण-पात्रों से युक्त है (पृथु-कार्तस्वर-पात्रं) जिसमें आपका सारा परिवार अलंकृत रहता है, (भूषित-निःशेष-परिजनं) और जो शोभायमान हथिनियों से भरपूर है (विलसत्करेणु-गहनम्)। मुझ निर्धन का घर शिशुओं के आर्तनाद का पात्र है (पृथुक-आर्तस्वरपात्रं), जिसमें मेरा सारा परिवार भूमि पर ही निवास करता है (भू-उषित-निःशेष-परिजनं) और जो बिलशायी चूहों द्वारा निकाली हुई मिट्टी से भरा रहता है (बिलसत्क-रेणु-गहनम्)।

यहाँ प्रथम श्लोक में एक वाच्यार्थ तथा द्वितीय और तृतीय श्लोक में श्लेष से दो-दो वाच्यार्थ, जिस रूप में प्रतिपादित किये गये हैं उसी रूप में, प्रत्येक संस्कृतज्ञ गृहीत करता है।

परन्तु वेदमन्त्रों के अर्थों में ऐसी निश्चयात्मकता नहीं है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र को ले सकते हैं—

विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव।
यद् भद्रं तन्न आसुव॥ —ऋग् ५.८२.५, यजु० ३०.३

इस मन्त्र का सामान्य अर्थ यह है कि—'हे सविता देव, तुम हमारे समस्त दुरितों को दूर कर दो और जो भद्र है, वह हमें प्रदान करो।' यहाँ 'सविता देव' से कोई भौतिक सूर्य को ग्रहण करता है, कोई परमात्मा को, कोई जीवात्मा को, कोई मन को, कोई प्राण को, कोई राजा को, और कोई विद्वान् आचार्य आदि को। किसी कोष में स्पष्टतः यह नहीं लिखा कि सविता के ये सब वाच्यार्थ होते हैं। यदि इस मन्त्र को श्लेष से बह्वर्थक भी माना जाये, तो सभी वेदज्ञों को इस मन्त्र के ये सब अर्थ करने चाहिएँ, जैसे लौकिक संस्कृत के उपर्युक्त शिलष्ट श्लोकों के किये जाते हैं। किन्तु ऐसा देखने में नहीं आता। कोई वेदज्ञ केवल सूर्य अर्थ में ही मन्त्रार्थ की इतिश्री समझ लेता है, कोई परमात्मा आदि किसी अन्य अर्थ में।

इस शंका का उत्तर विभिन्न वेदार्थ-प्रक्रियाओं का परिचय हो

२. राजापक्ष—शतकोटिं ददातीति शतकोटिदः (डुदाञ् दाने)।

जाने पर स्वतः मिल जाता है। वेदार्थ–प्रक्रियाओं के परिचय से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि वेदमन्त्रों के जो अग्नि, मित्र, वरुण, सूर्य, सविता आदि देवता हैं, उनके कैसे विभिन्न अर्थ हो जाते हैं। ऊपर उद्धृत मन्त्र का सविता देवता है। बहुत सूक्ष्मता में न जाकर सामान्यरूप में कहें तो मन्त्र में जिस नाम से किसी से याचना की जाती है, या जिस नाम से किसी वस्तु का वर्णन किया जाता है, या जिस नाम से किसी की स्तुति की जाती है, वह उस मन्त्र का देवता होता है। उक्त मन्त्र में सविता से दुरितों के ध्वंस तथा भद्र के प्रदान की याचना की गयी है, अतः वही इस मन्त्र का देवता कहलाता है। अधिदैवत प्रक्रिया से सविता का अर्थ सूर्य, अध्यात्म प्रक्रिया से परमात्मा, जीवात्मा, मन या प्राण और अधिभूत प्रक्रिया से राजा, विद्वान् आचार्य आदि हो जाता है। उसी के अनुरूप दुरित तथा भद्र के अभिप्राय में भी अन्तर आ जाता है। जो भाष्यकार जिस वेदार्थ–प्रक्रिया को लेकर चलता है, वह उसी के अनुसार अर्थ कर देता है। कोई विद्वान् किस प्रक्रिया का अर्थ करता है, यह उसकी अपनी रुचि पर निर्भर है। भाष्यकारों ने प्रायः किसी एक ही प्रक्रिया को अपना लक्ष्य बना कर भाष्य किये, अतः उनके भाष्यों में यद्यपि अधिकांश मन्त्रों के एक–एक ही अर्थ किये गये हैं, तथापि उन्होंने अपने भाष्यों में कई मन्त्रों के एकाधिक प्रक्रियाओं मं भी अर्थ प्रदर्शित कर दिये हैं। किसी मन्त्र को यथासंभव विभिन्न प्रक्रियाओं में घटा सकना वैदिक रचना की एक अनुपम विशेषता है।

वेदों के मन्त्र ऊपर उद्धृत श्लोकों में से प्रायः द्वितीय श्लोक की कोटि के हैं। उक्त श्लोक में भी 'विबुधेन्द्रः' के केवल देवराज इन्द्र और राजा अर्थ ही गृहीत नहीं होते, अपितु श्लोकार्थ किसी भी विद्वच्छ्रेष्ठ सेनानी, नेता, शास्त्रार्थमहारथी पण्डित, पिता, गृहपति, आचार्य तथा देवश्रेष्ठ सूर्य, विद्युत्, वायु, अग्नि, परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, मन आदि के पक्ष में व्याख्यात किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक शत्रुपक्ष के उच्छेद में समर्थ तथा स्वपक्ष को शतकोटि लाभ पहुँचाने वाला है।

वेदभाष्यकर्ता स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, आत्मानन्द, भट्ट भास्कर, वेंकट माधव, उवट, सायण, महीधर आदि अनेक हुए हैं, जिन्होंने किन्हीं सम्पूर्ण वेदों अथवा वेदों के किन्हीं अंशों पर भाष्य किया है।

यास्काचार्य ने यद्यपि क्रमबद्ध वेदभाष्य नहीं किया है, तो भी उन्होंने अपने निरुक्त नामक ग्रन्थ में अनेक मन्त्रों की व्याख्या कर दी है। विदेशी विद्वानों ने भी वेदों के सम्पूर्ण या आंशिक अनुवाद किये हैं, जिनमें विल्सन, ग्रासमान, लुड्विग्, ग्रिफिथ, ओल्डनबर्ग, ह्विटने, मैक्समूलर, ब्लूमफील्ड प्रमुख हैं। वेदभाष्यकारों में १९वीं ई० शती के भाष्यकार स्वामी दयानन्द सरस्वती का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने ऋग्वेद पर असम्पूर्ण तथा वा०मा० यजुर्वेद संहिता पर सम्पूर्ण भाष्य किया है। वेदमन्त्रों की अनेकार्थक व्याख्या के संकेत यद्यपि अन्य विद्वानों के भाष्यों में भी मिल जाते हैं, तथापि स्वामी दयानन्द ने श्लेष का आश्रय लेकर मन्त्रों की अनेकार्थक योजना सबसे अधिक की है।

प्रस्तुत पुस्तक का उद्देश्य विभिन्न वेदार्थ-प्रक्रियाओं का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत कर 'वेदार्थ-प्रक्रियाओं की दृष्टि से महर्षि दयानन्द की वेदार्थ को क्या देन है?' यह प्रदर्शित करना है। इसमें चार अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में वेदार्थ की विभिन्न प्रक्रियाओं का प्रमाण-पुरस्सर विस्तृत परिचय दिया गया है। द्वितीय अध्याय में प्रमाणपूर्वक यह दर्शाया गया है कि ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, निरुक्त, नैरुक्त आचार्य तथा विभिन्न भाष्यकार न्यूनाधिकरूप में वेदमन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्याएँ करते रहे हैं। इस प्रकार प्रथम दो अध्याय सामान्यत: वेदभाष्यकारों की वेदार्थ-प्रक्रियाओं का निरूपण करते हैं। तृतीय और चतुर्थ अध्याय विशेषत: स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य से सम्बन्ध रखते हैं। तृतीय अध्याय में वेदमन्त्र तथा उनका आंशिक अथवा सम्पूर्ण स्वामिभाष्य उद्धृत करते हुए यह निरूपित किया गया है कि इतर पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा स्वीकृत विविध वेदार्थ-प्रक्रियाओं का अनुसरण करने वाली वेद-व्याख्याएँ स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में प्रचुररूप में उपलब्ध होती हैं। चतुर्थ अध्याय में स्वामिभाष्य के वे प्रसंग लिये गये हैं, जिनमें स्वामी जी ने वेदमन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्याएँ की हैं एवं श्लेषादि द्वारा एक मन्त्र के एकाधिक अर्थ प्रदर्शित किये हैं। महर्षि दयानन्द के ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के भाष्यों में जहाँ श्लेषालंकार मान कर मन्त्रों के एकाधिक अर्थ किये गये हैं, उन सब स्थलों की एक सूची भी परिशिष्ट में दे दी गयी है, जिससे यह स्पष्ट होता है कि श्लेषालंकार का प्रयोग महर्षि

ने कितने व्यापक रूप में किया है तथा वेदमन्त्रों की पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की व्याख्याओं को करते हुए वेदों की अनेकार्थकता को वे कितना अधिक महत्त्व देते हैं। स्वामी दयानन्द की वेदभाष्यशैली की अनेक विशेषताएँ हैं, जिनमें से प्रस्तुत पुस्तक मुख्यतः उनकी अनेकार्थक शैली पर तथा प्रसंगतः कतिपय अन्य विशेषताओं पर भी प्रकाश डालती है।

किसी वेदमन्त्र के स्वामी दयानन्द द्वारा कृत एकाधिक अर्थों का अध्ययन करते हुए एक तथ्य ध्यान में रखना आवश्यक है। यदि किसी मन्त्र में त्वम्, युवाम् अथवा यूयम् शब्द प्रयुक्त या अध्याहृत होते हैं तथा क्रियापद मध्यम पुरुष का होता है, उस मन्त्र का यदि स्वामी जी एक अर्थ चेतन-परक तथा दूसरा अर्थ जड़-वस्तु-परक करते हैं तो जड़ वस्तु के पक्ष में व्यत्यय से 'त्वं, युवां, यूयं' को क्रमशः 'अयम्, इमौ, इमे' अथवा 'सः, तौ, ते' में और मध्यम पुरुष की क्रिया को प्रथम पुरुष में परिवर्तित कर लेते हैं, जबकि चेतन पक्ष में इन्हें तदवस्थ ही रखते हैं। उदाहरणार्थ '**त्वं सोमासि सत्पतिः** ऋग् १.९१.५' में जब सोम का अर्थ चेतन परमेश्वर या विद्वान् मनुष्य लेते हैं, तब अर्थ होता है 'हे परमेश्वर अथवा विद्वन्, तू सत्पति है', किन्तु जब सोम का अर्थ जड़ सोम ओषधि करते हैं, तब अर्थ लेते हैं 'यह सोम ओषधि सत्पति है'। सत्पति का अर्थ दोनों पक्षों में भिन्न होता है। इस प्रकार यहाँ अचेतन पक्ष में 'त्वाम्' को 'अयम्' में तथा 'असि' को 'अस्ति' में परिवर्तित कर लिया है। यही शैली सर्वत्र समझनी चाहिए। इस ग्रन्थ में दयानन्दीय वेदभाष्य के मन्त्र-भावार्थों का जो आर्यभाषानुवाद दिया है, वह अस्मत्कृत है।

प्रस्तुत पुस्तक पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के महर्षि-दयानन्द-वैदिक-अनुसन्धानपीठ की अनुसन्धान-योजना के अन्तर्गत लेखक द्वारा इस पीठ से प्रोफेसर एवं अध्यक्ष के पद पर कार्य करते हुए लिखी गयी है। अन्य दो ग्रन्थ 'वैदिक-शब्दार्थविचारः' तथा महर्षि-दयानन्द-विचार-कोश का प्रथम भाग 'महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार' भी लेखक द्वारा इस पीठ से लिखे जाकर पीठ द्वारा प्रकाशित किये जा चुके हैं।

लेखक ने 'श्री वैद्य रामगोपाल शास्त्री स्मारक समिति',

करौलबाग, नई दिल्ली के तत्कालीन प्रधान प्रोफेसर रामसिंह जी द्वारा आमन्त्रित होकर २७ अगस्त १९७८ को हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय के सभाभवन में इस समिति द्वारा आयोजित वेदगोष्ठी में "वेदार्थ की विभिन्न प्रक्रियाएँ तथा उनके सन्दर्भ में महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य का महत्त्व" विषय पर एक विस्तृत निबन्ध पढ़ा था। उससे भी इस पुस्तक के प्रणयन को प्रगति मिली। अत: लेखक उक्त समिति के प्रति आभार प्रकट करता है।

लेखक पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़ के तत्कालीन कुलपति प्रोफेसर रामचन्द्र पाल का अत्यन्त अनुगृहीत है, जिन्होंने दयानन्द-पीठ के कठिन प्रारम्भिक कार्य में निरन्तर अपना आशीर्वाद प्रदान किया तथा जो साहित्य-सर्जन के लिये सदैव प्रोत्साहित करते रहे हैं।

प्रस्तुत पुस्तक का प्रथम संस्करण सन् १९८० में 'पंजाब-विश्वविद्यालयीय-भारती-शोध-ग्रन्थमाला २५' के अन्तर्गत 'विश्वेश्वरानन्द-विश्वबन्धु-संस्कृत-भारती-शोध-संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय, होशियारपुर' के माध्यम से प्रकाशित हुआ था। अब इसका द्वितीय संस्करण श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास, हिण्डौन सिटी द्वारा प्रकाशित हो रहा है, तदर्थ उक्त न्यास के अध्यक्ष श्री प्रभाकरदेव आर्य का हार्दिक धन्यवाद करता हूँ।

वेदमन्दिर, ज्वालापुर (हरिद्वार) **रामनाथ वेदालंकार**
स्वतन्त्रता-दिवस, २००७

विषयानुक्रमणिका

अध्याय—१

वेदार्थ की विभिन्न प्रक्रियाएँ १३-७६

विभिन्न क्षेत्रों में अर्थदर्शन। वेदार्थ-प्रक्रियाएँ—१. अधिदैवत प्रक्रिया, २. अध्यात्म प्रक्रिया, ३. आर्ष प्रक्रिया, ४. परिव्राजक-प्रक्रिया, ५. अधियज्ञ प्रक्रिया, ६. नैरुक्त प्रक्रिया, ७. वैयाकरण-प्रक्रिया, ८. नैदान-प्रक्रिया, ९. ऐतिहासिक प्रक्रिया, १०. आख्यान-प्रक्रिया, ११. अधिभूत प्रक्रिया, १२. अधिज्योतिष प्रक्रिया, १३. वैज्ञानिक प्रक्रिया। उपसंहार।

अध्याय—२

वेदमन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या ७७-११८

वैदिक शब्दों की अनेकार्थक प्रवृत्ति। ब्राह्मणग्रन्थ और आरण्यक। निरुक्त। नैरुक्त आचार्य—दुर्ग, स्कन्द महेश्वर, वररुचि। वेदभाष्यकार सायण। अन्य वेदभाष्यकार—स्कन्दस्वामी, भट्ट भास्कर, उवट और महीधर। उपसंहार।

अध्याय—३

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की वेदार्थ-प्रक्रियाएँ ११९-१७४

स्वामी दयानन्द : वेदभाष्यकार के रूप में। स्वामी दयानन्दसम्मत पारमार्थिक तथा व्यावहारिक प्रक्रियाएँ। दो ही प्रक्रियाएँ क्यों? स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में वैदिक देवों के विभिन्न प्रक्रियानुसारी अर्थ। स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अधिदैवत प्रक्रियानुसारी अर्थ—शिल्प, भूगोल-परिभ्रमण, सूर्य की स्थिरता, चन्द्रगति, सूर्य के कर्म, विद्युत्। स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अध्यात्मप्रक्रियानुसारी अर्थ—१. ईश्वर सम्बन्धी अध्यात्मप्रक्रिया-सविता, विष्णु, इन्द्र, स्वयम्भू २. शरीरसम्बन्धी अध्यात्मप्रक्रिया—जीवात्मा, योग, प्राण, जाठराग्नि। स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अधियज्ञ प्रक्रियानुसारी अर्थ। स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अधिभूत प्रक्रियानुसारी अर्थ—राजधर्म, शिक्षा व अध्ययन-अध्यापन,

अश्विनी, वैदिक देवियों की नारीपरक व्याख्या, पुत्र को शिक्षा, रुद्र वैद्य, शकुनि उपदेशक, कृषि-विद्या। उपसंहार।

अध्याय-४

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में वेदमन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या १७५-२३२

अनेकार्थकता का उद्घाटन। अध्यात्म और अधिदैवत व्याख्याएँ—अग्नि, वायु, इन्द्र, सविता, सोम, वरुण, रुद्र। अध्यात्म और अधिभूत व्याख्याएँ—इन्द्र, अग्नि, रुद्र, मित्र। अधिदैवत और अधिभूत व्याख्याएँ—इन्द्र, इन्द्राग्नी, स्वराट्। अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत व्याख्याएँ—सोम, वरुण। अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ व्याख्या। अध्यात्म और अधियज्ञ व्याख्या। वाचकलुप्तोपमा द्वारा एकाधिक अर्थों की योजना—योजनाप्रकार; सूर्य और सभासेनाध्यक्ष; ईश्वर, सूर्य और शूरवीर; सूर्य-चन्द्र और सभासेनाधीश; वायुगण और राजपुरुष; उषा और स्त्री; सूर्य और वैद्य; स्वराज्य की अर्चना; गौ और विदुषी स्त्री; ईश्वर और विद्वान्; अग्नि और विद्वान्; विद्युत्, सूर्य, वायु और राजा; सूर्य और विद्वान्; सूर्य और राजा; अग्नि और विद्यार्थी; दूर्वा और पत्नी; इष्टका और पत्नी; अपामार्ग और पापशोधक जन; पृथिवी और गृहिणी। उपसंहार।

परिशिष्ट

१. स्वामि-भाष्य में श्लेषालंकार के स्थल
२. मन्त्रानुक्रमणिका।
३. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची।
४. संकेत-सूची।

अध्याय प्रथम

वेदार्थ की विभिन्न प्रक्रियाएँ

विभिन्न क्षेत्रों में अर्थदर्शन

विभिन्न क्षेत्रों में किसी रहस्य का अर्थदर्शन भारतीय ऋषियों की एक प्रिय वस्तु रही है। ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञों की जो कर्मकाण्डिक विधियाँ वर्णित की गयी है, अनेक स्थलों पर उनका अधिदैवत एवं अध्यात्म से भी सम्बन्ध प्रदर्शित किया गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनेक प्रसंग इस प्रकार के हैं। वहाँ कुछ स्थलों में अधिदैवत और अध्यात्म शब्दों के उल्लेख के बिना ही ऐसा किया गया है, किन्तु ऐसे स्थल भी पर्याप्त हैं, जिनमें इन नामों का उल्लेख भी कर दिया गया है। जहाँ इन नामों का उल्लेख है, ऐसे कुछ स्थल निम्नलिखित है।

अषाढेष्टका-निर्माण के प्रकरण में अधिदैवत दृष्टि से पृथिवी को तथा अध्यात्म दृष्टि से वाक् को अषाढा कहा है। उखा को अध्यात्म में आत्मा माना है और कहा है कि उखा-निर्माण आत्मा का ही निर्माण है[१]। दीक्षणीय आहुति के प्रसंग में अधियज्ञ के वैश्वानर और आदित्य चरु की व्याख्या करते हुए अधिदैवत में क्षत्र को वैश्वानर तथा विट् को आदित्य चरु और अध्यात्म में सिर को वैश्वानर तथा आत्मा को आदित्य चरु कहा है[२]। उख्याग्निपरिग्रहणप्रकरण में अग्नि को शिक्य में रखने की अधियज्ञ विधि की व्याख्या करते हुए लिखा है कि अधिदैवत में संवत्सर अग्नि है, ऋतुएँ शिक्य हैं तथा अहोरात्र प्रतिष्ठा है और अध्यात्म में आत्मा अग्नि, प्राण शिक्य तथा मन प्रतिष्ठा है[३]। चिति-पुरीष-मीमांसा प्रकरण में चिति कौर पुरीष

---

१. श० ६.५.३.१-५ इयं वा अषाढा, इयमु वा एषां लोकानां प्रथमासृज्यत....... इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् आत्मैवोखा वागषाढा.........। अथोखां करोति आत्मानं तत् करोति।

२. श० ६.६.१.७-९ क्षत्रं वै वैश्वानरो विडेष आदित्यश्चरुः......... इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् शिर एव वैश्वानरः आत्मैष आदित्यश्चरुः।

३. श० ६.७.१.१८-१९ यद्वै शिक्येन बिभर्ति। संवत्सर एषोऽग्निः ऋतवः शिक्यम्.... तस्याहोरात्रे एव प्रतिष्ठा.........इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् आत्मैवाग्निः, प्राणाः शिक्यम्........तस्य मन एव प्रतिष्ठा।

का अधिदैवत और अध्यात्म दोनों दृष्टियों से व्याख्यान करते हुए लिखा है कि अधिदैवत की सात चितियाँ क्रमशः पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, यज्ञ, यजमान, स्वर्ग तथा अमृत और अध्यात्म की सात चितियाँ क्रमशः अवाङ् प्राण आदि हैं[४]। चितिसम्पत्ति-प्रकरण में चित अग्नि, महाव्रत तया महदुक्थ की व्याख्या में लिखा है कि अधिदैवत में पृथिवी-लोक चित अग्नि, अन्तरिक्ष महाव्रत और द्यौ महदुक्थ है, तथा अध्यात्म में मन चित अग्नि, प्राण महाव्रत और वाक् महदुक्थ है[५]। एकशतविध वेदी के निर्माण-प्रसंग में अधिदैवत, अधियज्ञ तथा अध्यात्म व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं। यथा "**त्रीणि वा इमानि पञ्च-विधानि, संवत्सरो अग्निः पुरुषः**" का विस्तार करते हुए बताया है कि अधिदैवत दृष्टि से संवत्सर में जो अन्न उत्पन्न होता है वह अन्न है, आपः पान हैं, रात्रि श्री है, दिन ज्योति है, आदित्य अमृत है; अधियज्ञ दृष्टि से अग्नि में उपधान किया जाने वाला अन्न अन्न है, आपः पान है, परिश्रित श्री है, यजुष्मती इष्टकाएँ ज्योति है, अग्नि अमृत है; अध्यात्म दृष्टि से पुरुष में विद्यमान अन्न अन्न है, आपः पान है, अस्थियाँ श्री हैं, मज्जा ज्योति है, प्राण अमृत है[६]। धीर शातपर्णेय तथा महाशाल जाबाल के संवाद में 'अग्नि क्या है' इस प्रसंग में कहा है कि अध्यात्म में प्राण ही महान् अग्नि है, वाक्, चक्षु, मन, श्रोत्ररूपी, इतर अग्नियाँ स्वप्नकाल में प्राण में ही चली जाती हैं तथा जागरणकाल में प्राण से ही पुनः उत्पन्न होती हैं। इसी प्रकार अधिदैवत में वायु ही महान् अग्नि है; अग्नि, आदित्य, चन्द्रमा और दिशाएँ रूप इतर अग्नियाँ बुझते या अस्त होते समय वायु में ही लीन हो जाती हैं और उदित होते समय वायु से ही पुनः प्रकट होती हैं[७]। यजुः तथा पुरश्चरण की व्याख्या के प्रकरण में अधिदैवत दृष्टि से वायु को यजुः, अन्तरिक्ष

४. श० ८.७.४.१२-२१।

५. श० १०.१.२.२,३ अयं वाव लोक एषोऽग्निश्चितः अन्तरिक्षं महाव्रतं द्यौर्महदुक्थ्यम्...... इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम् मन एवाग्निः प्राणो महाव्रतं वाङ् महदुक्थम्।

६. श० १०.२.६.१६-१८।

७. श० १०.३.३.१-८।

को जूः, अग्नि को पुरः तथा आदित्य को चरण कहा है और अध्यात्म दृष्टि से प्राण को यजुः, आत्मान्तर्गत आकाश को जूः, मन को पुरः तथा चक्षु को चरण बताया है[८]। अग्निचयनप्रसंग में अर्क और अन्न की अधिदैवत तथा अध्यात्म व्याख्याएँ उपस्थित करते हुए कहा गया है कि अधिदैवत में आदित्य ही अर्क है और चन्द्रमा अन्न है तथा अध्यात्म में प्राण अर्क है भोक्तव्य अन्न ही उसका अन्न है[९]। सूर्यमण्डल के अर्चिः-पुरुषत्रय का व्याख्यान भी अधिदैवत अधियज्ञ तथा अध्यात्म तीनों दृष्टियों से किया गया है[१०]। इसी प्रकरण में अधिदैवत, में सूर्यमण्डल को अन्न और मण्डलस्थ पुरुष को अत्ता तथा अध्यात्म में शरीर को अन्न और दक्षिण अक्षि में विद्यमान पुरुष को अत्ता कहा गया है[११]। अत्ता और आहिति की व्याख्या करते हुए कहा है कि अधिदैवत दृष्टि से आदित्य अत्ता और चन्द्रमा आहिति है तथा अध्यात्म दृष्टि से प्राण अत्ता और अन्न आहिति है[१२]। अर्क की व्याख्या में कहा है कि अधिदैवत में अग्नि अर्क है, आहुतियाँ उसका 'क' है अथवा आदित्य अर्क है, चन्द्रमा उसका 'क' है, और अध्यात्म में प्राण अर्क है, अन्न उसका 'क' है[१३]। उक्थ की व्याख्या में लिखा है कि अधिदैवत में आदित्य ही 'उक्' है, चन्द्रमा 'थ' है और अध्यात्म में प्राण 'उक्' है, चन्द्रमा 'थ' है और अध्यात्म में प्राण 'उक्' है, अन्न 'थ' है[१४]। पूर्णमा और दर्श क्या हैं यह विचार प्रवृत्त होने पर अधिदैवत तथा

---

८. श० १०.३.५.१-७। ९. श० १०.४.१.२२,२३।

१०. श० १०.५.२.५-७। ११. श० १०.५.२.१८-१९।

१२. श० १०.६.२.३,४ आदित्यो वा अत्ता तस्य चन्द्रमा एवाहितयः, चन्द्रमसं ह्यादित्य आदधतीत्यधिदेवतम्। अथाध्यात्मम् प्राणो वा अत्ता तस्यान्नमेवाहितयः, अन्नं हि प्राणे आदधतीति।

१३. १०.६.२.५-७ अथार्कस्य। अग्निर्वा अर्कः तस्याहुतय एव कम्, आहुतयो ह्यग्नये कम्। आदित्यो वा अर्कः तस्य चन्द्रमा एव कं, चन्द्रमा ह्यादित्याय कमित्यधिदेवतम्। अथाध्यात्मम् प्राणो वा अर्कः, तस्य अन्नमेव कम्, अन्नं हि प्राणाय कमिति।

१४. श० १०.६.२.९,१० आदित्यो वा उक् तस्य चन्द्रमा एव थं, चन्द्रमसा ह्यादित्य उत्तिष्ठतीत्यधिदेवतम्। अथाध्यात्मम्, प्राणो वा उक्, तस्यान्नमेव थम्, अन्नेन हि प्राण उत्तिष्ठतीति।

अध्यात्म दोनों दृष्टियों से उत्तर दिया गया है[१५]। द्वादशाह में होता की दीक्षा के प्रसंग में कहा है कि अग्नि अधिदैवत 'होता' है तथा वाक् अध्यात्म 'होता' है[१६]। संवत्सर-दीक्षा-प्रकरण में सप्तदश प्रजापति के अधिदैवत और अध्यात्मरूप में प्रतिष्ठित होने के ज्ञान का फल बताया है कि ज्ञाता इस लोक में प्रजा और पशुओं से तथा परलोक में अमृतत्व से प्रतिष्ठित होता है[१७]। इसी प्रकार व्रत-मीमांसा-प्रकरण[१८] में ब्रह्म के मूर्त और अमूर्त रूप[१९] की व्याख्या, तथा तीन स्तोत्रियों[२०] की व्याख्या भी अधिदैवत और अध्यात्म दोनों दृष्टियों से की गयी है। शतपथ के बृहदारण्यक में वह अन्तर्यामी कौन है जो इहलोक, परलोक और भूतों के अन्दर विद्यमान होकर उनका नियमन कर रहा है, इस प्रश्नका उत्तर अधिदैवत, अधिलोक, अधिवेद, अधियज्ञ, अधिभूत और अध्यात्म इन छह दृष्टियों से दिया गया है[२१]।

आरण्यकों एवं उपनिषदों के ऋषि भी इस शैली में रुचि लेते हैं। केन उपनिषद् में यक्ष-कथा के प्रसंग में ऋषि अधिदैवत में विद्युत् के विद्योतन को तथा अध्यात्म में मन के संकल्प को ब्रह्म का आदेश कहता है[२२]। तैत्तिरीय आरण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में "**अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः**" यह प्रतिज्ञा कर अधिलोक, अधिज्योतिष, अधिविद्य, अधिप्रज्ञ तथा अध्यात्म इन सब दृष्टियों से व्याख्यान किये गये हैं[२३], और पाङ्क्त उपासना भी अधिभूत तथा अध्यात्म दृष्टियों से वर्णित की गयी है[२४]। प्रश्न उपनिषद् में "प्राण कैसे बाह्यजगत् को धारण कता है तथा कैसे अध्यात्म जगत् को"? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है कि आदित्य ही बाह्य प्राण है जो अध्यात्म चाक्षुष

---

१५. श० ११.२.४।

१६. श० १२.१.१.४ अथ होतारं दीक्षयति। अग्निर्वै होताऽधिदेवतम्, वागध्यात्मम्।

१७. श० १२.३.३.३,४ स यो हैवमेतं सप्तदशं प्रजापतिमधिदेवतं चाध्यात्मं च प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति प्रजया पशुभिरस्मिंल्लोकेऽमृतत्वेनामुष्मिन्।

१८. श० १४.४.३.३०-३४।

१९. श० १४.५.३।

२०. श० १४.६.१.१२।

२१. श० १४.६.७।

२२. केन० ४.४,५।

२३. तै० आ० ७.३, तै० उ० शिक्षावल्ली अनु० ३।

२४. तै० आ० ७.७, तै० उ० शिक्षावल्ली अनु० ७।

प्राण को अनुगृहीत करता है[२५]। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्गीथ की व्याख्या अध्यात्म और अधिदैवत दोनों रूपों में की गयी है[२६]। इसी उपनिषद् में अन्यत्र अध्यात्म में मन को ब्रह्म तथा वाक्, प्राण, चक्षु और श्रोत्र को उसके चार पाद, एवं अधिदैवत में आकाश को ब्रह्म तथा अग्नि, वायु आदित्य और दिशाओं को उसके चार पाद रूप में वर्णित किया है[२७]। इसी उपनिषद् के चतुर्थ प्रपाठक में सयुग्वा रैक्व संवर्ग विद्या का वर्णन अधिदैवत तथा अध्यात्म दोनों दृष्टियों से करता है[२८]।

वेदार्थ-प्रक्रियाएँ

किसी वस्तु या वृत्त की विभिन्न दृष्टियों से अर्थदर्शन की यही शैली वेदार्थ का दर्शन करने वाले मनीषियों ने भी स्वीकृत की है। प्राचीनकाल से ही वेदों के अर्थ विभिन्न प्रक्रियाओं के अनुसार किये जाते रहे हैं। वैदिक शब्द बहुत व्यापक अर्थों को लेकर प्रयुक्त हुए हैं तथा वे विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अभिव्यक्तियों को देते हैं। उदाहरणार्थ इन्द्र विराट् ब्रह्माण्ड में परमेश्वर है, शरीर में जीवात्मा प्राण या मन है, प्रकृति में सूर्य, वायु या विद्युत् है, राजनीतिक क्षेत्र में राजा या सेनापति है, यज्ञ में यजमान या यज्ञाग्नि है[२९]। इसी प्रकार अन्य वैदिक देवों के विषय में भी समझा जा सकता है। वेद स्वयं कहता है कि मनुष्य का शरीर ब्रह्माण्ड का ही छोटा-सा रूप है, ब्रह्माण्ड के सब देवता शरीर में भी अवस्थित हैं—**सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ**

---

२५. प्रश्न ३.८। २६. छा० उ० १.२-७।

२७. छा० उ० ३.१८। २८. छा० उ० ४.३।

२९. इन्द्रः परमेश्वरः, सायण ऋ० भा० १०.९२.८, १०.९८.४। य इन्दति परमैश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः, इन्द्रस्य इन्द्रियस्वामिनो जीवस्य, द० भा०, यजु० १९.३। प्राण एव इन्द्रः, श० १२.९.१.१४। मन एवेन्द्रः, श० १०.४.१.६। अथ यः स इन्द्रोऽसौ स आदित्यः, श० ८.५.३.२। अयं वा इन्द्रो योऽयं वातः पवते, श० १४.२.२.६। यो वै वायुः स इन्द्रो य इन्द्रः स वायुः, श० ४.१.३.१९। इन्द्रात् विद्युतः, द० भा०, ऋग् ५.३०.५। त्वमिन्द्राधिराजः अथर्व० ६.९८.२। इन्द्र शत्रूणां विदारयितः (सेनापते) द० भा० ऋग् १.८४.४। इन्द्रो यजमानः, काठ ७.१०, ३७.८। एष एवेन्द्रः यदाहवनीयः श० २.३.२.२।

इव श्रिताः[३०]। अतः जो वेदमन्त्र बाह्य जगत् के पक्ष में घटित होते हैं, वे शरीरपरक भी घट सकते हैं।

यास्कीय निरुक्त में वेदार्थ की निम्नलिखित प्रक्रियाओं का उल्लेख मिलता है—

१. अधिदैवत प्रक्रिया, २. अध्यात्म प्रक्रिया, ३. आर्ष प्रक्रिया, ४. परिव्राजक प्रक्रिया, ५. अधियज्ञ प्रक्रिया, ६. नैरुक्त प्रक्रिया, ७. वैयाकरण प्रक्रिया, ८. नैदान प्रक्रिया, ९. ऐतिहासिक प्रक्रिया, १०. आख्यान प्रक्रिया।

इनके अतिरिक्त अधिभूत प्रक्रिया, अधिराष्ट्र प्रक्रिया, ज्योतिष प्रक्रिया, वैज्ञानिक प्रक्रिया आदि कुछ इतर प्रक्रियाएँ भी वेदार्थकर्त्ताओं ने स्वीकार की हैं। आगे हम क्रमशः इन प्रक्रियाओं का स्वरूप तथा क्षेत्र वर्णित करते हुए इसका दिग्दर्शन करायेंगे कि वेदार्थ में इनका उपयोग कहाँ तक किया गया है तथा इनमें से किन प्रक्रियाओं को स्वतन्त्र वेदार्थ-प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया जाना उचित है तथा किन्हें नहीं।

१. अधिदैवत प्रक्रिया—

वेदों में अग्नि, वायु, इन्द्र, मित्र, वरुण, सविता, सूर्य, पूषा, अश्विनौ, मरुतः, ऋभवः आदि अनेक देवों का वर्णन मिलता है। इनमें से अधिकांश देवों का प्रकृतिपरक स्वरूप स्पष्ट है। जैसे अग्नि आग है; वायु हवा है; सविता, पूषा, आदित्य आदि सूर्य के ही नामान्तर या विभिन्न रूप हैं; मरुत् वायुएँ हैं। जिन देवों का प्रकृतिपरक स्वरूप स्पष्ट नहीं, उनका भी निश्चित करने का प्रयत्न किया गया है। यथा अश्विनौ को भूमि-आकाश, सूर्य-चन्द्रमा, रात्रि-दिन आदि के रूप में व्याख्यात किया जाता है। कुछ विचारक यह मानते हैं कि ये वेदोक्त देव प्राकृतिक पदार्थों के वाचक हैं, किन्तु अन्य कतिपय आचार्य इन प्राकृतिक पदार्थों के पीछे पृथक्-पृथक् चेतन देवताओं की कल्पना करते हैं, जिसे अभिमानिदेवतावाद[३१] के नाम से पुकारा जाता है। वेदार्थ की अधिदैवत प्रक्रिया में वेदोक्त देवों का यही

३०. अथर्व० ११.८.२९-३२, तुलनीय ऐ० उ० २.४, छा० उ० ८.१.३।

३१. ओषध्यादिमन्त्रेष्वपि चेतना एव तत्तदभिमानिदेवताः तेन तेन नाम्ना संबोध्यन्ते। ताश्च देवता भगवता बादरायणेन अभिमानिव्यपदेशस्तु (ब्र० सू० २.१.५) इति सूत्रे सूत्रिताः। —ऋ०भा०भू०, सायण।

प्राकृतिक या अभिमानिदेवतापरक रूप मान कर वेद-मन्त्रों की व्याख्या की जाती रही है।

अधिदैवत प्रक्रिया का सर्वाधिक पोषण हम यास्कीय निरुक्त में पाते हैं। यास्क ने वैदिक देवों को तीन श्रेणियों में विभाजित कर लिया है—पृथिवीस्थानीय देव, मध्यम-स्थानीय देव तथा द्युस्थानीय देव। पृथिवी स्थानीयों में अग्नि, अन्तरिक्ष-स्थानीयों में वायु या इन्द्र और द्यु-स्थानीयों में सूर्य प्रमुख हैं। अग्नि, जातवेदस्, वैश्वानर, द्रविणोदस् आदि देव पृथिवीस्थान में; वायु, वरुण, रुद्र, इन्द्र, पर्जन्य, बृहस्पति आदि देव मध्यमस्थान में और अश्विनौ, त्वष्टा, सविता, भग, सूर्य, पूषा, विष्णु आदि देव द्युस्थान में परिगणित किये गये हैं, तथा इन समस्त देवों का प्राकृतिक स्वरूप निर्णीत किया गया है। जैसे अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर देव सूक्तभाक् और हविर्भाक् के रूप में पार्थिव अग्नि हैं तथा नैपातिकरूप से माध्यमिक ज्योति (विद्युत्) और द्युस्थानीय ज्योति (सूर्य) के भी वाची हैं। उषस् मध्यमस्थान तथा उत्तमस्थान दोनों में पठित है, तथा मध्यमस्थानीय विद्युत् और उत्तम स्थानीय प्राकृतिक उषा दोनों का वाची है। वरुण, सविता, त्वष्टा और यम भी मध्यम और उत्तम दोनों स्थानों में पठित हैं तथा इनके मध्यमस्थानीय वायु, विद्युत्, प्राण आदि और उत्तम-स्थानीय सूर्य दोनों प्रकार के अर्थ होते हैं। पृथिवी शब्द तीनों स्थानों में पठित है तथा वह भूमि, अन्तरिक्ष और द्यौ तीनों का वाचक होता है। अश्विनौ का काल यास्क के अनुसार अर्धरात्रि से लेकर प्रातः पौ फटने तक है—**तयोः काल उर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु** (निरु० १२.१)। सविता उस काल का सूर्य है, जब प्रातः आकाश में प्रकाश दिखाई देने लगता है, किन्तु पृथ्वी पर अन्धकार ही होता है—**तस्य कालो यदा द्यौरपहततमस्का आकीर्णरश्मिर्भवति** (निरु० १२.१२)। इस सविता के काल के पश्चात् क्रमशः भग, सूर्य, पूषा और विष्णु का काल आता है एवं मध्याह्नकालीन प्रखर सूर्य को विष्णु कहते हैं। वैदिक यम देवता भी अन्य व्याख्याकारों के मत में भले ही पितरों का अधिष्ठाता यम हो, किन्तु यास्क के मत में आदित्य ही है—**देवैः संगच्छते यमो**

रश्मिभिरादित्यः (निरु० १२.२८)। अनेक स्थानों पर निरुक्तकार ने अधिदैवत नाम के उल्लेखपूर्वक भी मन्त्र-व्याख्याएँ की हैं। यास्कीय निरुक्त में अधिदैवत नाम का उल्लेख[३२] अठारह बार आया है। इन व्याख्याओं का दिग्दर्शन आगे हम 'वेद-मन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या' अध्याय के अन्तर्गत करेंगे। अधिदैवत प्रक्रिया के अर्थ यास्क से उत्तरवर्ती वेदभाष्यकारों ने भी किये हैं। जिन भाष्यकारों का सारा बल कर्मकाण्डपरक या याज्ञिक व्याख्या की ओर है, उनका भी अधिदैवत व्याख्या से कोई विरोध नहीं है, केवल वे इन प्राकृतिक पदार्थों के पीछे चेतन देवता की कल्पना करके यह मानते हैं कि यज्ञिय हवि से सन्तुष्ट होकर ये देवता यजमान को अभीष्ट वस्तुएँ प्रदान करते हैं। मैक्समूलर, मैक्डानल प्रभृति विदेशी विद्वानों की वैदिक देवों के सम्बन्ध में यह धारणा है कि अधिकांशतः वेदों में जड़ प्राकृतिक पदार्थों को ही चेतन देवता के रूप में कल्पित कर लिया गया है। मैक्डानल अपने 'ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर' नामक ग्रन्थ में लिखते हैं—

The higher gods of the Rigveda are almost entirely personification of natural phenomena such as Sun, Dawn, Fire, Wind[33].

अर्थात् ऋग्वेद के अपेक्षाकृत बड़े देवता प्रायः पूर्णरूप से प्राकृतिक दृश्यों के ही कल्पित पुरुषविध रूप हैं, जैसे सूर्य, उषा, अग्नि, वायु।

The physical aspect of the Vedic gods is anthropomorphic. Thus head, face, eyes, arms, hands, feet and other portions of the human frame are ascribed to them, but their forms are shadowy and their limbs or parts are oftern simply meant figuratively[34].

---

३२. निरु० ३.१२; १०.२६; ११.४; १२.३७,३८; १३.११; १४.१२-१६,१८,१९,२१,२३-२५,२७।

३३. Macdonell, A History of Sanskrit Literature, Motilal Banarsidas, 1971, P. 56.

३४. वही, पृ० ५८।

अर्थात् वैदिक देवों का भौतिक रूप पुरुषविध है। इस प्रकार सिर, मुख, आँखें, भुजाएँ, हाथ और पैर तथा मानवीय शरीर के अन्य अंग, जो उनके वर्णित किये गये हैं, प्रायः छायारूप तथा आलंकारिक हैं।

अपनी इस प्रकार की मान्यता के आधार पर विदेशी विद्वानों ने वेदमन्त्रों को अधिकतर अधिदैवत प्रणाली से घटाने का यत्न किया है।

निरुक्त के सप्तम अध्याय[३५] में एक प्रकरण आया है, जिसमें वैदिक देवताओं के स्वरूप पर विचार किया गया है। वहाँ चार पक्ष दिये गए हैं। प्रथम पक्ष के अनुसार देवता पुरुषविध अर्थात् मनुष्य के समान चेतन हैं, क्योंकि वेदों में उनके अंगों का तथा खाने-पीने आदि क्रियाओं को करने का वर्णन आता है। दूसरे पक्ष के अनुसार देवता अपुरुषविध हैं, अर्थात् मनुष्यों के समान चेतन न होकर जड़ हैं, क्योंकि अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा आदि जो वेदोक्त देवता हैं वे अचेतन ही दिखाई देते हैं। उनके अंगों और खाने-पीने आदि क्रियाओं को करने का वर्णन इस पक्ष में आलंकारिक माना जाता है। तीसरे पक्ष के अनुसार देवता उभयविध हैं, अर्थात् चेतन भी हैं और अचेतन भी। जब हम अग्नि, वायु आदित्य आदि वेदोक्त देवों का अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, राजा, सेनापति आदि चेतनपरक करते हैं, तब ये देवता चेतन माने जाते हैं, किन्तु जब इनका अर्थ आग, हवा, सूर्य आदि अचेतनपरक करते हैं, तब ये ही अचेतन कहलाते हैं। चौथा पक्ष यह है कि देवता शब्द यहाँ पारिभाषिक है। अचेतन उलूखल-मुसल आदि को भी देवता इस कारण मान लिया गया है, क्योंकि वे चेतनों की कार्यसिद्धि करते हैं, जैसे यज्ञ देवता इस कारण है, क्योंकि वह यजमान को अभीष्ट फल की प्राप्ति कराता है। इस देवतास्वरूप-विचार से वेदोक्त देवों के अधिदैवत स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है। विशेषकर द्वितीय और तृतीय पक्षों से यह स्पष्ट है कि वैदिक देवों का अधिदैवत या भौतिक स्वरूप समझ कर उसके अनुसार वेदमन्त्रों की अधिदैवत व्याख्यायें की जा सकती हैं। आधुनिक युग के वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द ने वैदिक देवों के अधिदैवत या

३५. निरु० ७.२।

भौतिक स्वरूप को दृष्टि में रखते हुए अनेक वेदव्याख्यायें की हैं, जिनका परिचय आगे तृतीय-चतुर्थ अध्यायों में दिया जायेगा।

२. अध्यात्म प्रक्रिया—

शरीर-विद्या तथा ब्रह्म-विद्या परक व्याख्याएँ अध्यात्म प्रक्रिया के अन्तर्गत आती हैं। इस दृष्टि से अध्यात्म प्रक्रिया के दो वर्ग हो जाते हैं। प्रथम के अनुसार वेदमन्त्रों के शरीर, वाक्, मन, प्राण, जीवात्मा आदि परक व्याख्यान किये जाते हैं। द्वितीय में परमात्मा के गुण-कर्म-स्वभाव या मनुष्य द्वारा परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना, उपासना परक व्याख्या होती है। वेदों में अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनमें निर्विवादरूप से अध्यात्म का वर्णन है। यथा ऋग्वेद का विश्वकर्मा-सूक्त (१०.८२), हिरण्यगर्भसूक्त (१०.१२१), वाजसनेयी यजुर्वेद का पुरुषमेधाध्याय (३१), तदेवाग्निः अध्याय (३२), ईशावास्याध्याय (४०) तथा अथर्ववेद का वेनसूक्त (२.१), गन्धर्वसूक्त (२.२), केनसूक्त (९.२) वरुणसूक्त (४.१६), स्कम्भसूक्त (१०.७), ज्येष्ठब्रह्मसूक्त (१०.८), प्राणसूक्त (११.४) आदि। साथ ही वेद के इन्द्र, मित्र, वरुण आदि देव भी एक ब्रह्म के वाचक होते हैं, ऐसे संकेत स्वयं वेदों में ही मिलते हैं[३६]। अतः इन देवताओं के मन्त्रों की भी अध्यात्मपरक व्याख्याएँ की जाती हैं। वेद स्वयं कहता है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते॥

—ऋग् १.१६४.३९, अथर्व० ९.१०.१८

अर्थात् ऋचाएँ उस अविनाशी परब्रह्म का ही प्रतिपादन करती हैं, जिसमें सब देव अधिष्ठित हैं। जिसने ऋचाओं को पढ़ कर भी उस ब्रह्म को नहीं जाना, उसे वेद पढ़ने का क्या लाभ है?

यास्कीय निरुक्त में १७ स्थलों पर अध्यात्म शब्द के नामोल्लेखपूर्वक वेद-मन्त्रों की इतर व्याख्याओं के साथ अध्यात्म व्याख्याएँ भी दी गई हैं[३७]। वेदभाष्यकारों ने भी वेदार्थ की अध्यात्म प्रक्रिया की ओर रुचि प्रदर्शित की है। सायण से पूर्ववर्ती भाष्यकार

---

३६. ऋग् १.१६४.४६; २.१.२-७,१०; यजु० ३२.१।

३७. द्रष्टव्य : टि० ३२ में उद्धृत स्थल, ११.४ को छोड़ कर।

आत्मानन्द ने ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (ऋग् १.१६४) पर भाष्य लिखा है, जो सर्वथा अध्यात्मपरक है। उन्होंने स्वयं लिखा है—

अधियज्ञविषयं स्कन्दादिभाष्यम्। निरुक्तम् अधिदैवत-विषयम्। इदं तु भाष्यम् अध्यात्मविषयमिति।

दिग्दर्शन के लिए इस सूक्त के दो मन्त्रों पर आत्मानन्द के आध्यात्मिक भाष्य का अनुवाद हम नीचे दे रहे हैं, साथ में तुलना के लिए सायण के अधिदैवत भाष्य का अनुवाद भी दिया जा रहा है।

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं तस्मिन्नार्पिता भुवनानि विश्वा॥

—ऋग्१.१६४.१४

आत्मानन्द—(चक्रं) पुनः पुनः उत्पत्ति आदि धर्मों से युज्यमान यह जगत्-चक्र, जोकि (सनेमि) जड़-चेतन-प्रपंचरूप दो नेमियों से युक्त है, अथवा रथनेमि के समान जड़-प्रपंच के ऊपर स्थित चेतन-प्रपंच रूप नेमि से युक्त है, और (अजरं) आत्मज्ञान के अभाव में असमाप्य है, वह (विवावृते) घूम रहा है। (उत्तानायां) अविद्यानिवर्तक उत्कृष्ट ब्रह्मविद्या की उत्पत्ति के लिए (दश युक्ताः) श्रवण, मनन, सिद्धि, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रतिक्षेप, धारणा और समाधि ये दस योग (वहन्ति) अनुवर्तनीय होते हैं। तब (सूर्यस्य) परमात्माका (चक्षुः) ज्ञापक ज्ञान (एति) आता है, जो कि पहले (रजसा) संशय, विपर्यय, असंभावनारूप मल से (आवृतम्) आच्छादित था। (तस्मिन्) उस ज्ञापक ज्ञान में (विश्वा भुवनानि) सब जगत् (अर्पिता) अर्पित या विलीन रहते हैं।

सायण—(चक्रं) यह संवत्सर रूपी चक्र, जो (सनेमि) समान नेमि वाला और (अजरं) सनातन होते हुए भी जरारहित है (वि वावृते) पुनः पुनः विशेषरूप से घूम रहा है। (उत्तानायां) ऊर्ध्वोन्मुख ईषा में अथवा उपरि विस्तृत भूमि में (दश) इन्द्र आदि पाँच लोकपाल तथा ब्राह्मणादि चार वर्ण और पाँचवाँ निषाद ये दस (युक्ताः) अपने-अपने व्यापार में लगे हुए (वहन्ति) सम्पूर्ण जगत् को वहन कर रहे हैं। (सूर्यस्य) सूर्य का (चक्षुः) प्रकाशक अथवा सबका चक्षुस्थानीय

मण्डल (रजसा) वृष्टिजल से (आवृतं) व्याप्त होकर (एति) गति करता है। (तस्मिन्) उस सूर्यमण्डल में (विश्वा भुवनानि) सब भूत (आर्पिता) अर्पित हैं अर्थात् उसके अधीन हैं।

दिव्यं सुपर्णं वायसं बृहन्तमपां गर्भं दर्शतमोषधीनाम्।
अभीपतो वृष्टिभिस्तर्पयन्तं सरस्वन्तमवसे जोहवीमि॥

—ऋग् १.१६४.५२

आत्मानन्द—(दिव्यं) स्वर्गनिवासी कर्मफलभोक्ता (सुपर्णं) सुपर्णवाहनाधिरूढ़ विष्णु के आदि लोक की प्राप्ति के लिए सगुणोपासना करने वाले, (वायसं) कर्म और विद्या से भ्रष्ट होकर नीच कर्म करने के कारण वायस-योनि को प्राप्त आत्मा को तथा (बृहन्तं) ब्रह्मरूपी आत्मा को तथा (अपां गर्भं) अप्-प्रमुख सूक्ष्मभूतेन्द्रिय रूप नदियों के कार्यभूत लिंगदेही को और (दर्शतं) ज्ञान को तथा (ओषधीनां) ओषधियाँ जिसकी 'इन' अर्थात् स्वामिनियाँ या पोषक हैं, उस स्थूल तनू को और (अभीपतः) संसाराब्धि के टापू के समान आचरण करने वाले अतिसंसारी जीवों को (तर्पयन्तं) ज्ञानामृतरसवृष्टियों से तृप्त करने वाले (सरस्वन्तं) ज्ञानवान् गुरु को (अवसे) रक्षा के लिए (जोहवीमि) पुकारता हूँ।

सायण—(दिव्यं) द्युलोक में विद्यमान, (सुपर्णं) शोभन गमन करने वाले, (वायसं) गतिशील, (बृहन्तं) महान् (अपां गर्भं) वृष्टि जलों के गर्भवत् उत्पादक, (ओषधीनां दर्शतं) ओषधियों का दर्शन कराने वाले अथवा (अपाम् ओषधीनां गर्भं) जलों और ओषधियों के गर्भवत् उत्पादक तथा (दर्शतं) दर्शनीय, (अभीपतः वृष्टिभिः तर्पयन्तं) अनुकूलतापूर्वक जगत् को वृष्टियों से तृप्त करने वाले, अथवा उमड़ने वाले जलाधार तालाब आदियों को भरने वाले (सरस्वन्तं) जल वाले देव अथवा सूर्य को मैं (अबसे जोहवीमि) रक्षा के लिए बार-बार पुकारता हूँ।

वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद संहिता के भाष्यकार उवट और महीधर का भाष्य यद्यपि कर्मकाण्डपरक है, तथापि अनेक स्थलों पर उन्होंने भी मन्त्रों की अध्यात्म व्याख्याएँ की हैं।

"**तत् सवितुर्वरेण्यम्** (यजु.३.३५)" में सविता का अर्थ वे आदित्यान्तरपुरुष या हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्न अथवा विज्ञानानन्द-स्वभाव ब्रह्म[३८] लेते हैं। इसी प्रकार प्रजापति[३९] विश्वकर्मा[४०], पुरुष[४१], रुद्र[४२] आदि के प्रकरणों के व्याख्यान भी उन्होंने अध्यात्मपरक किये हैं। वैश्वानरज्योतिर्भूयासम्[४३], वेदाहमस्य भुवनस्य नाभिम्[४४], तदेवाग्नि[४५] अध्याय, तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम्[४६], शिवसंकल्प[४७], एवं ईशावास्याध्याय[४८] की उवट और महीधर कृत व्याख्या भी अध्यात्मपरक है।

---

३८. "तस्य सवितुः सर्वस्य प्रसवदातुः आदित्यान्तरपुरुषस्य देवस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा विज्ञानानन्दस्वभावस्य वा ब्रह्मणः"—उवट। "तस्य देवस्य द्योतनात्मकस्य सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो विज्ञानानन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यवच्छिन्नस्य वा आदित्यान्तरपुरुषस्य वा ब्रह्मणो वरेण्यं सर्वैः प्रार्थनीयं भर्गः सर्वपापानां सर्वसंसारस्य च भर्जनसमर्थं तेजः सत्यज्ञानानन्दादिवेदान्तप्रतिपाद्यं वयं धीमहि ध्यायामः" —महीधर।

३९. यजु० १३.४; २३.३; २५.१३।

४०. यजु० १७.१७–३२।

४१. यजु० अध्याय ३१, उवट ने स्वयं भाष्य न करके शौनक ऋषि का भाष्य दिया है, जिसमें पुरुष से नारायण अभिप्रेत है।

४२. यजु० अध्याय १६।

४३. वैश्वानरज्योतिर्भूयासं विभून् कामान् व्यश्नवै भूः स्वाहा।—यजु० २०.२३। विश्वेभ्यो नरेभ्यो हितो वैश्वानरः परमात्मा तद्रूपं ज्योतिर्ब्रह्मैव भूयासम्। विभून् महतोऽपि कामान् मनोरथान् व्यश्नवै प्राप्नुयाम्। भूः स्वाहा भुवनं भूः सत्तामात्रं ब्रह्म तस्मै स्वाहा सुहुतमस्तु। —महीधर

४४. वेदहामस्य भुवनस्य नाभिं वेद द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्। वेद सर्यस्य बृहतो जनित्रमथो वेद चन्द्रमसं यतोजाः। यजु० २३.६०। वेद जानामि अहम् अस्य नाभिं भुवनस्य नहनं बन्धनं परं ब्रह्म। वेद च द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं च ब्रह्मणो विकारभूतम्। वेद च सूर्यस्य बृहतः यतो जनित्रं परमात्मलक्षणम्। अथो अपि च वेद जानामि चन्द्रमसः यतो जन्म परमात्मनः यज्ञाद् वा।—उवट। महीधर की व्याख्या भी इसी आशय की है।

४५. यजु० अध्याय ३२।

४६. यजु० ३३.८०।

४७. यजु० ३४.१–६।

४८. यजु० अध्याय ४०।

प्रसिद्ध भाष्यकार सायण का भी भाष्य यद्यपि प्रधानतः यज्ञपरक है, तथापि उसमें अनेक ऐसे स्थल हैं, जिनकी केवल अध्यात्मपरक व्याख्या अथवा अन्य किसी व्याख्या के साथ वैकल्पिक रूप में दूसरी अध्यात्मपरक व्याख्या दी गयीहै। अस्यवामीय सूक्त (ऋग् १.१६४) के प्रथम मन्त्र की व्याख्या सायण ने वैकल्पिक रूप में अध्यात्मपरक की है तथा यह लिखा है कि इसी प्रकार सम्पूर्ण सूक्त अध्यात्म दृष्टि से व्याख्यात किया जा सकता है, किन्तु विस्तार-भय से वैसा नहीं कर रहे हैं[४९]। तथापि इस सूक्त के ५२ मन्त्रों में से कतिपय मन्त्र सायग ने अधिदैवत या अधियज्ञ दृष्टि के साथ-साथ अथवा स्वतन्त्र रूप में अध्यात्म दृष्टि से व्याख्यात किये हैं[५०]।

ऋग्वेद के सूर्यसूक्त (१.५०), वैश्वानरसूक्त (६.९), विश्वकर्मा-सूक्त (१०.८१,८२) सुपर्ण-सूक्त (१०.११४), हिरण्यगर्भसूक्त (१०.१२१), वागाम्भृणी-सूक्त (१०.१२५), नासदीय सूक्त (१०.१२९), पुंसूक्त (१०.१३०), मुनिसूक्त (१०.१३६), पतङ्ग-सूक्त (१०.१७७), तथा भाववृत्त-सूक्त (१०.१९१) में भी अध्यात्मपरक व्याख्याएँ मिलती हैं, जिनमें से कुछ की चर्चा आगे सायण की अनेकार्थक व्याख्याओं के प्रसंग में की जायेगी। सायण ने अपने अथर्ववेदभाष्य में भी कई प्रकरणों का अध्यात्म दृष्टि से व्याख्यान किया हैं[५१]। इसी प्रकार अथर्ववेद के शरीरक्रियाविज्ञान एवं शारीरिक, मानसिक, प्राणिक तथा आत्मिक शक्तियों के विकास सम्बन्धी सूक्तों की सायणकृत व्याख्या भी अध्यात्मकोटि में आती है।

आधुनिक युग के वेदभाष्यकार स्वामी दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ की अध्यात्मपरक व्याख्या पर पर्याप्त बल दिया है। उन्होंने अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि वेदप्रतिपादित देवों का स्थान-स्थान पर

---

४९. एवम् उत्तरत्रापि योजयितुं शक्यम्। तथापि स्वरसत्वाभावाद् ग्रन्थ-विस्तरभयाच्च न लिख्यते। यत्र द्वा सुपर्णा, इत्यादौ स्फुटमाध्यात्मिको ह्यर्थः प्रतीयते तत्र तत्र प्रतिपादयामः।

५०. द्रष्टव्यः मन्त्र सं० १, ४, ६, १६, २०-२२, ३०, ३२, ३७-३९, ४१, ४५।

५१. द्रष्टव्य : सायणभाष्य अथर्व० २.२, ४.१६, ९.२, १०.७-८, ११.४-५, ११.८।

परमात्मा, जीवात्मा आदि परक अर्थ प्रदर्शित किया है। योगी श्री अरविन्द भी वेदों के अध्यात्मपरक अर्थ को ही अन्तिम मानते हैं[५२]। एक महाराष्ट्रीय विद्वान् डाक्टर बी०जी० रेले ने अपनी 'वैदिक गाड्स' नामक पुस्तक में यह बतलाया है कि वेदों के अग्नि, मित्र, वरुण आदि देवता मानव शरीर के ही विभिन्न अंगों के वाची हैं। उनका यह प्रतिपादन वेदव्याख्या की शरीरपरक अध्यात्म-प्रक्रिया के ही अन्तर्गत होगा।

३. आर्ष प्रक्रिया—

अध्यात्मपक्ष से मिलती-जुलती ही आर्ष प्रक्रिया है। निरुक्त में आर्ष शब्द का प्रयोग चार[५३] बार हुआ है। "मेधावी विद्वान् तर्कण करके जिस अर्थ तक पहुँचता है, वह अर्थ आर्ष कहलाता है" ऐसा यास्क का वचन है[५४]। वहाँ प्रसंग यह है कि जब साक्षाद् अर्थद्रष्टा ऋषि होने बन्द हो गये, तब मनुष्यों ने जाकर देवों से कहा कि अब हमारा ऋषि कौन होगा? तब देवों ने उन्हें तर्क रूपी ऋषि दिया। अतः तर्क का उपयोग करके जिस अर्थ का अनुसन्धान किया जाता है, वह आर्ष ही होता है। तर्क में प्रमाण, युक्ति, प्रतिभा, मेधा सब समाविष्ट हैं। दूसरे स्थान पर कहा गया है कि जाल-बद्ध मत्स्यों का "**जीवान्नो अभिधेतन** ऋग् ८.६७.५" आदि आर्ष कथन है[५५]। यहाँ जालबद्ध मत्स्य करुण क्रन्दन कर रहे हैं कि हे आदित्यो, तुम कहाँ हो, हमारे मरने से पहले ही, हम जीवितों के पास हमारी रक्षार्थ दौड़ कर आ जाओ। इसे जालबद्ध मत्स्यों का आर्ष वचन कहा गया है। जालबद्ध मत्स्य यहाँ सांसारिक पाशों में बद्ध मनुष्य हैं। इस मन्त्र के ऋषि जालबद्ध मत्स्य ही हैं। तीसरे स्थान पर लिखा है कि "**प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति**" (ऋग् १०.३४) आदि अक्षपरिद्यून ऋषि का आर्ष वचन है[५६]। यहाँ अक्षपरिद्यून ऋषि द्यूत-पाशों के सम्बन्ध में कह रहा है कि ये पासे मुझे जुआ खेलने के लिए मतवाला बनाये

---

५२. द्रष्टव्य : Secret of the Veda, Shri Aurobindo Ashram, Pondicherry.
५३. निरुक्त ६.२७, ९.८, १३.९, १३.१२।
५४. तस्माद् यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवति। —निरु० १३.१२
५५. मत्स्यानां जालमापन्नानामेतदार्षं वेदयन्ते। —निरु० ६.२७
५६. ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतद् आर्षं वेदयन्ते। —निरु० ९.८

रखते हैं; प्रारम्भ में मैं इनके प्रति आकृष्ट होता जाता हूँ, पर अन्त में ये मुझे बर्बाद करके छोड़ते हैं। जालबद्ध मत्स्य और अक्षपरिद्यून के इन स्थलों में निरुक्तप्रोक्त आर्ष का अर्थ ऋषि के हृदय से निकले हुए उद्गार प्रतीत होता है।

किन्तु निरुक्त में ऐसा एक ही स्थल है, जहाँ वेदार्थ के अन्य पक्षों की तुलना में आर्ष पक्ष का पृथक् उल्लेख मिलता है। निरुक्त-परिशिष्ट (१३.९) "**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः** (ऋग् १.१६४.४५)" आदि ऋचा की व्याख्या के प्रसंग में 'चार पद कौन से हैं' इस पर विचार करते हुए कहा गया है कि आर्ष पक्ष के अनुसार एक ओंकार और तीन महाव्याहृतियाँ चार पद हैं[५७]। अन्य पक्ष वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, इतर आचार्य तथा आत्मप्रवादियों के दिये गये हैं। आत्म-प्रवादियों के मतानुसार चार पदों से पृथक्-पृथक् पशु, वाद्य, मृग तथा मनुष्यों की वाणियाँ अभिप्रेत मानी गयी हैं। यहाँ आर्ष-पक्ष तथा आत्मप्रवाद-पक्ष की तुलना करने पर हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दोनों का ही सम्बन्ध अध्यात्म के साथ है। ओंकार और महाव्याहृतियाँ ब्रह्मप्राप्ति का उपाय होने से अध्यात्म हैं तथा वाणियों की परिसमाप्ति मनुष्यवाणी में होने से और वाक् का शारीरिक अध्यात्म से सम्बन्ध होने के कारण वाक्पक्ष भी अध्यात्म ही है। वैसे आर्ष का सम्बन्ध सर्वत्र अध्यात्म से ही हो यह आवश्यक नहीं है। तत्त्वदर्शी ऋषि का दर्शन आर्ष दर्शन कहलाता है, वह अध्यात्म, अधिदैवत आदि किसी भी पक्ष का हो सकता है। इस दृष्टि से विचार करने पर आर्ष पक्ष वेदार्थ की कोई पृथक् प्रक्रिया नहीं रह जाती है।

४. परिव्राजक-प्रक्रिया—

निरुक्त में एक स्थान पर परिव्राजक-पक्ष भी उल्लेख हुआ है। ऋग्वेद के निम्न मन्त्र की व्याख्या में परिव्राजक-पक्ष तथा नैरुक्त पक्ष दोनों दिये गये हैं—

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु तस्मात्।
स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिमा विवेश॥

—ऋग् १.१६४.३२

५७. ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। निरु० १९.९

परिव्राजक-पक्ष के अनुसार मन्त्र का आशय यह है कि बहुत-सी सन्तानों वाला मनुष्य महान् कष्ट में पड़ता है। किन्तु नैरुक्त सम्प्रदाय वाले यहाँ वर्षा का वर्णन मानते हुए अर्थ करते हैं कि बहुत-सी प्रजाओं को उत्पन्न करने वाला मेघ बरस कर भूमि पर आ जाता है— **बहुप्रजाः कृच्छ्रमापद्यत इति परिव्राजका वर्षकर्मेति नैरुक्ताः** (निरु० २.८)। इस प्रकार परिव्राजक-पक्ष का आशय यह प्रतीत होता है कि वेदमन्त्रों के अर्थ इस रूप में किये जायें, जिससे विषयवासनाओं के प्रति विरक्ति सूचित होती हो या अन्तमुर्खीन प्रवृत्ति की ओर प्रेरणा मिलती हो। अध्यात्म पक्ष भी अन्तर्मुख प्रवृत्ति की ओर ही बल देता है। अतः इस परिव्राजक-पक्ष का अन्तर्भाव अध्यात्म-प्रक्रिया में हो जाता है।

५. अधियज्ञ प्रक्रिया—

यास्कीय निरुक्त में लगभग एक दर्जन स्थलों पर वेदार्थ के याज्ञिक सम्प्रदाय की चर्चा हुई है। निरुक्तकार ने उन सब स्थलों पर अधियज्ञ अर्थ का संकेत तो कर दिया है, परन्तु साथ ही उसकी तुलना में प्रायः नैरुक्तों की अधिदैवत व्याख्या भी दी है। सर्वप्रथम निरुक्त में यज्ञविषयक चर्चा ऋग् १०.७१.५ के "**उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुः**" आदि मन्त्र के "**वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्**" की व्याख्या में आयी है। वहाँ कहा है कि या तो अर्थ वेदवाणी का पुष्प-फल है, अथवा यज्ञविषयक ज्ञान (याज्ञ) पुष्प और देवताविषयक ज्ञान (दैवत) फल है, अथवा देवताविषयक ज्ञान पुष्प और अध्यात्म ज्ञान फल है[५८]। पंचम अध्याय में "**एकया प्रतिधा पिवत् साकं सरांसि त्रिंशतम्** ऋग् ८.७७.४" आदि ऋचा की व्याख्या में यास्क लिखते हैं कि याज्ञिकों का कथन है कि यहाँ इन्द्र द्वारा पान किये जाने वाले तीस सरोवर यज्ञ के माध्यन्दिन सवन में इन्द्र को पान कराये जाने वाले तीस उक्थपात्र हैं, किन्तु नैरुक्त पक्षानुसार तीस शुक्लपक्ष के अहोरात्र तथा तीस कृष्णपक्ष के अहोरात्र ही तीस सरोवर है। जो शुक्लपक्ष के तीस अहोरात्रों की चान्द्रमस रश्मियाँ होती हैं, वे सूर्य (इन्द्र) द्वारा कृष्णपक्ष में पी ली जाती हैं। नैरुक्तों के अनुसार यही

---

५८. अर्थं वाचः पुष्पफलमाह, याज्ञदैवते पुष्पफले, देवताध्यात्मे वा।
—निरु० १.२०

इन्द्र द्वारा तीस सरोवरों के पान का रहस्य है[५९]।

सप्तम अध्याय में अनादिष्टदेवताक मन्त्रों में देवता-परीक्षा-विधि के प्रसंग में कहा है कि ऐसे मन्त्रों के विषय में जिनमें देवता निर्दिष्ट नहीं है, यह देखना चाहिए कि वह मन्त्र किस यज्ञ या यज्ञांग में पठित है। जो देवता उस यज्ञ का यज्ञांग का होगा, वही उस मन्त्र का समझ लेना चाहिए। परन्तु वह मन्त्र किसी यज्ञ में भी पठित न हो तो उसका देवता सामान्यत: प्रजापति होगा, ऐसा याज्ञिकों का कथन है[६०]; किन्तु नैरुक्तों के अनुसार उस स्थिति में उस मन्त्र का देवता नराशंस होगा। सप्तम अध्याय में 'वैश्वानर कौन है'? इस विषय पर विचार करते हुए निरुक्तकार ने प्राचीन याज्ञिकों का मत देते हुए लिखा है कि उनके मत में आदित्य वैश्वानर है, तथा उनके पक्ष की प्रक्रिया भी उपस्थित की है[६१]। अनुमति एवं राका तथा सिनीवाली और कुहू के स्वरूप के विषय में भी यास्क ने याज्ञिकों के मत का उल्लेख किया है। अनुमति तथा राका नैरुक्तों के अनुसार देव-पत्नियाँ हैं तथा याज्ञिकों के मत में पूर्वा पौर्णमासी अनुमति है और उत्तरा पौर्णमासी राका[६२]। इसी प्रकार सिनीवाली तथा कुहू नैरुक्तों के अनुसार देवपत्नियाँ हैं और याज्ञिकों के अनुसार पूर्वा अमावस्या सिनीवाली तथा उत्तरा अमावास्या कुहू है[६३]। वैदिक गौ और धेनु किसके वाची हैं, इस प्रसंग में भी निरुक्त में याज्ञिकों के पक्ष की चर्चा मिलती है। याज्ञिकों

---

५९. तत्रैतद् याज्ञिका वेदयन्ते—त्रिंशदुक्थपात्राणि माध्यन्दिने सवन एकदेवतानि तान्येतस्मिन् काल एकेन प्रतिधानेन पिबन्ति, तान्यत्र सरांस्युच्यन्ते। त्रिंशदपरपक्षस्याऽहोरात्रास्त्रिंशत् पूर्वपक्षस्येति नेरुक्तास्तद्या एताश्चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति।

—निरु० ५.११

६०. यद्देवत: स यज्ञो वा यज्ञाङ्गं वा तद्देवता भवन्ति, अथान्यत्र यज्ञात् प्राजापत्या इति याज्ञिका:, नाराशंसा इति नैरुक्ता:। —निरु० ७.४

६१. अथासावादित्य इति पूर्वे याज्ञिका:। —निरु० ७.२२

६२. अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ता:, पौर्णमास्याविति याज्ञिका:।

—निरु० ११.२७

६३. सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता:, अमावास्ये इति याज्ञिका:।

—निरु० ११.२९।

के मत में गौ और धेनु दोनों वैदिक शब्द यज्ञार्थ दूध देने वाली गाय के वाची हैं, किन्तु नैरुक्तों के मत में माध्यमिक वाणी के वाची[६४]। **"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि"** ऋग् १.१६४.४५ की व्याख्या में भी अन्य पक्षों के साथ याज्ञिक पक्ष भी दिया गया है तथा कहा है कि याज्ञिकों के अनुसार मन्त्र, कल्प, ब्राह्मण और चौथी व्यावहारिकी वाणी ये वाणी के चार पद हैं[६५]।

निरुक्त में कतिपय अन्य मन्त्रों की व्याख्या के प्रसंग में भी याज्ञिक पक्ष उपस्थित किया गया है, अथवा केवल यज्ञपरक व्याख्या ही दी गयी[६६] है। यथा अष्टम अध्याय के सभी मन्त्र जिनमें द्रविणोदस् तथा आप्री देवता हैं, यज्ञपरक ही व्याख्यात हुए हैं। इसी प्रकार—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

—ऋग् ४.५८.३

इस मन्त्र की निरुक्तकार ने केवल यज्ञ-परक व्याख्या ही दी है। यह वृषभ या महान् देव यज्ञ है, जिसके चार वेद ही चार सींग हैं, यज्ञ के तीन सवन ही तीन पैर हैं, प्रायणीय और उदयनीय ही दो सिर हैं, सात छन्द ही सात हाथ हैं, मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन स्थानों से यह बँधा हुआ है तथा यजन के लिए सब मनुष्यों को प्राप्त है[६७]।

निम्नलिखित ऋचा को निरुक्त (१.७) में यज्ञ के प्रधान ऋत्विजों होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु के पृथक्-पृथक् कर्मों के प्रतिपादकरूप में व्याख्यात किया गया है—

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान् गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः॥

—ऋग् १०.७१.११

यज्ञ की महिमा के लिए भी 'केपयः' शब्द के प्रसंग में यास्क ने

---

६४. वागेषा माध्यमिका घर्मधुगिति याज्ञिकाः। निरु० ११.३८, ३९

६५. निरु० १३.९।

६६. द्रष्टव्य : निरु० १.७, ३.७, ४.५, ५.६६, ५.७३, ६.१, ६.८४, ६.९४, ७.१५, ७.१९, ७.२५, अ० ८ सम्पूर्ण, १३.६, १३.९, १३.१३।

६७. निरु० १३.७।

एक मन्त्र उद्धृत किया है—

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः॥

—ऋग् १०.४४.६

अर्थात् यज्ञार्थ देवों का आह्वान करने वाले याज्ञिकजन, जो कि असाधारण यशों को प्राप्त करते हैं, पृथक् उच्च मोक्ष रूपी गति को पाते हैं। किन्तु जो यज्ञिय नौका पर नहीं चढ़ पाते और कुत्सित आचरण में लगे रहते हैं, वे ऋणग्रस्त रहते हैं या इसी लोक में पड़े रहते हैं[६८]।

इस प्रकार याज्ञिक का वेद-व्याख्या में एक विशेष स्थान है तथा निरुक्तकार यास्क भी उसकी उपेक्षा नहीं कर सके हैं, यद्यपि उनकी अपनी विशिष्ट प्रक्रिया जिसे उन्होंने प्रबलता के साथ निरुक्त में स्थापित किया है, आधिदैविक प्रक्रिया है।

कतिपय आचार्यों का मत है कि वेदों की रचना यज्ञ के लिए ही हुई है। 'वेदाङ्ग ज्योतिष' के कर्ता लगध का कथन है—**वेदा हि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः**[६९]। याज्ञिक प्रक्रिया के आधार-स्तम्भ शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थ एवं विभिन्न आचार्यों के श्रौतसूत्र हैं। इनमें दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, पितृमेध आदि का विस्तृत वर्णन हुआ है। स्कन्दस्वामी, सायण, उवट, महीधर आदि वेदभाष्यकारों ने प्रायः याज्ञिकप्रक्रियानुसारी ही वेदभाष्य किये हैं। ऋग्वेदभाष्य में स्कन्द स्वामी अपने भाष्य का प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि—सब मन्त्र यज्ञकर्म के अङ्ग है, इसकी सिद्धि के लिए क्योंकि अर्थ-परिज्ञान आवश्यक है, अतः ऋग्वेद का अर्थबोध कराने के लिए हम भाष्य करेंगे[७०]। सायण का लक्ष्य भी यही है तथा उसने प्राचीन ग्रन्थों में मन्त्रों का जो विनियोग मिलता है, उसे भी यथासंभव अपने भाष्य में सूक्त की व्याख्या के पूर्व दे दिया है। वाजसनेयी माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेद के व्याख्याकार

६८. निरु. ५.७३। ६९. वे० ज्यो० श्लोक ३।

७०. सर्वमन्त्राणां कर्माङ्गत्वसिद्ध्यर्थं यतो बोद्धव्योऽर्थः, अतः ऋग्वेदस्यार्थबोधार्थम् अस्माभिर्भाष्यं करिष्यते। स्कन्द, ऋग्भाष्य के प्रारंभ की भूमिका।

उवट और महीधर ने पूर्णतः पूर्व विनियोगों को ध्यान में रखा है तथा महीधर ने प्रायः सर्वत्र प्रमाणस्वरूप कात्यायन श्रौतसूत्र को उद्धृत भी किया है। ये वेदभाष्य एक प्रकार से याज्ञिक प्रक्रिया के पूरक एवं पल्लवक हैं, क्योंकि ये पूर्वोक्त विनियोग के साथ मन्त्रार्थ की संगति लगाते हैं। यज्ञ में मन्त्रों के विनियोगों के अतिरिक्त कहीं-कहीं भाष्यकारों ने विभिन्न वैदिक पहेलियों को भी यज्ञपरक व्याख्यात किया है। उदाहरणार्थ,

रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने।
अस्माकं वीराँ उत नो मघोनो जनाँश्च या पारयाच्छर्म या च॥

—ऋग् १.१४०.१२

यहाँ अग्नि से नित्यारित्रा, पद्वती नौका की याचना की गयी है। सायण के अनुसार यह सोमयागत्मिका नौका है, जिसमं यजमान रथ है, ऋत्विज् चप्पू (अरित्र) हैं, द्रव्य-देवता-मन्त्र आदि पैर हैं और जो पुत्र-पौत्रादि वीरों को हवि रूप धन का धनी बनाती है तथा पारिवारिक जनों को भवसागर से पार उतार कर निरतिशय सुखस्वरूप ब्रह्म को प्राप्त कराती है।

हे अग्ने, उत अपि च रथाय रंहणाय गृहाय सर्वस्यायतनभूताय नः अस्माकं यजमानाय नावं संसारोत्तारिकां सोमयागात्मिकां नावम्। ...कीदृशीं ताम्? नित्यारित्रां नियतऋत्विग्रूपोदकाकर्षणकाष्ठसाधनोपेतां, पद्वतीं ...द्रव्यदेवतामन्त्रादिरूपपादोपेताम् ईदृशीं यज्ञात्मिकां नावं रासि देहि संपादय। ...सैव विशेष्यते। उत अपि च या नौः अस्माकं वीरान् अस्मत्संबन्धिनः पुत्रादीन् मघोनः हविर्लक्षणान्नवतः करोति। जनाँश्च यजमानानस्मानपि या नौः पारयेत् उत्तारयेत्....जननमरणादिबहुदुःखात्मकस्य पारं निरतिशयसुखास्पदं ब्रह्मलोकं प्रापयेत्। ....एवं प्रापय्य च या नौः शर्म सुखं निरतिशयं ब्रह्म प्रापयेत्... ?

समानं वत्समभि संचरन्ती विष्वग् धेनू वि चरतः सुमेके।
अनपवृज्याँ अध्वनो मिमाने विश्वान् केताँ अधि महो दधाने॥

—ऋग् १.१४६.३

यहाँ समान बछड़े की ओर दौड़ने वाली दो धेनु सायण की व्याख्या के अनुसार यजमान और यजमान-पत्नी अथवा अध्वर्यु और यजमान है[७१]—

''समानम् एकमेव वत्सं वत्सस्थानीयं पुत्रवत् हर्षहेतुम् अग्निम् अभिमुखं संचरन्ती संचरन्त्यौ द्वे धेनू अग्निहितकरणेन प्रीणयित्र्यौ पत्नीयजमानलक्षणे धेनू विष्वक् वि चरतः संचरतः स्तन-पानादिसदृशेन्धनप्रक्षेपसंमार्जनादिना सभ्यग् वर्धयतः इत्यर्थः। कीदृश्यौ ते? सुमेके शोभनकर्माणौ शोभनमेहने वा परिचरण-कुशले इत्यर्थः। किं च अनपवृज्यान् अपवर्जनीयरहितान्...अध्वनः मार्गान् अग्नेः प्रान्तप्रदेशान् केशाद्यमेध्यरहितान् मिमाने संपाद-यित्र्यौ। किं च विश्वान् केतान् सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रवर्धनविषयाणि महः महान्ति अधि अधिकं दधाने धारयन्त्यौ। ईदृश्यौ अध्वर्यु-यजमानरूपे जायापतिरूपे वा धेनू विष्वग् विचरतः।''

प्राता रथो नवो योजि सस्निश्चतुर्युगस्त्रिकशः सप्तरश्मिः।
दशारित्रो मनुष्यः स्वर्षाः स इष्टिभिर्मतिभी रंह्यो भूत्॥

—ऋग् २.१८.१

इस मन्त्र में प्रातःकाल रथ के नियुक्त किये जाने का वर्णन है, जिस रथ में चार युग, तीन कशाएँ, सात रश्मियाँ और दस अरित्र लगे हैं। सायण की व्याख्यानुसार यह रथ यज्ञ है। चार युग चार ग्रावा अथवा अध्वर्यु आदि चार ऋत्विज् हैं। तीन कशाएँ मन्द्र, मध्यम और उत्कृष्ट ये त्रिविध वाणियाँ अथवा तीन सवन हैं। गायत्री आदि सप्त छन्द ही सात रश्मियाँ हैं। दस अरित्र दस ग्रह या चमसाध्वर्यु हैं।

''रथः रंहणाद्रथो यज्ञः। स च नवः नूयते स्तूयतेऽत्रेति नवः स्तुतिमान्। सस्निः। स्ना शौचे। आदृगमहन इति किन्प्रत्ययः। शुद्धः। एवंविधो यज्ञः प्रातः प्रातःकाले योजि अयोज्यस्माभिः। चतुयुर्गः युज्यन्त इति युगानि ग्रावाणः, चत्वारि युगानि यस्य स तथोक्तः, अध्वर्य्याद्यृत्विगभिप्रायं वा। त्रिकशः, तिस्रः कशा वाचो मन्द्रमध्यमोत्कृष्टरूपा यस्य स तथोक्तः, सवनत्रयाभिप्रायं वा। सप्तरश्मिः, अश्नुवते ध्याप्नुवन्ति कर्माणीति रश्मयश्छन्दांसि,

---

७१. वेंकट ने ये धेनुएं अहोरात्र तथा ग्रिफिथ ने द्यावापृथिवी मानी हैं।

सप्तसंख्याकानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि यस्य स तथोक्तः। दशारित्रः अरिभ्यः पापेभ्यस्त्रायन्त इत्यरित्रा ग्रहाः, दशसंख्याका ग्रहा यस्य स तादृशः, चमसाध्वर्य्वभिप्रायं वा। मनुष्यः मनुष्याणां हितः। स्वर्षाः स्वर्गस्य दाता। सः एवंविधो यज्ञः इष्टिभिः प्रायणीयातिथ्यादिभिः मतिभिः मननीयैः स्तोत्रैः रंह्यः शब्दनीयः भूत् अभूत्।''

इसी प्रकार ऋग् १.१६४.१७ में एक गौ का वर्णन है, जो अपने गर्भस्थ वत्स को नीचे की ओर पिछले दो पैरों से तथा ऊपर की ओर अगले दो पैरों से थामे हुए ऊपर उड़ती है। सायण की एक व्याख्या के अनुसार यह गौ अग्नि में हूयमान आहुति है, अग्नि ही वत्स है[७२]। **'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते'**। मनु० ६.७६ के अनुसार आहुति का आदित्य की ओर जाना ही ऊपर उड़ना है। ऋग् १०.११२ में एक जलीय गन्धर्व-स्त्री का वर्णन है, वह भी सायण के मत में आहुति ही है[७३]। ऋग् १०.११४.६ में एक रथ वर्णित हुआ है, जिसमें ३६ और ४ चक्र हैं तथा जिसे कवि-जन अपने बुद्धि-चातुर्य से बनाकर ऋक्-साम द्वारा चलाते हैं। सायण के अनुसार यह रथ यज्ञ ही है[७४]।

६. नैरुक्त प्रक्रिया—

ग्रन्थ-रूप में नैरुक्त प्रक्रिया का समर्थक केवल यास्कीय निरुक्त उपलब्ध होता है। तो भी यास्क से पूर्व भी वेदार्थ की नैरुक्त प्रक्रिया आदृत थी। स्वयं यास्क ने अपने निरुक्त में अपने से पूर्ववर्ती आग्रायण, औदुम्बरायण, और्णवाभ, कात्थक्य, कौष्टुकि, शाकपूणि प्रभृति १४ आचार्यों के नामों का उल्लेख किया है। यास्क वेदों के समस्त नाम-पदों को धातुज मानते हैं। इसके विपरीत यास्क से पूर्ववर्ती आचार्य गार्ग्य तथा कतिपय वैयाकरणों का यह मत था कि वेद के सभी नाम

---

७२. अत्र अग्नौ हूयमानाहुतिर्गोरूपेण स्तूयते। गौः गोरूपा गमनशीला एषा आहुतिः आहुतिसंघेन पोष्यं वत्सं वत्सस्थानीयम् अग्निम्। सायण

७३. ''रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा।'' रपत् रपितवती अग्निगुणान् उक्तवती गन्धर्वीः गन्धर्वस्य स्त्री अप्या अद्भिः संस्कृता योषणा आहुतिलक्षणा स्त्री च अग्निं तर्पितवतीति शेषः। सायण

७४. रमन्त्यत्रेति रथो यज्ञः। सायण

धातुज नहीं हैं, अपितु उन्हीं नामों को धातुज मानना चाहिए, जिनमें प्रकृति-प्रत्यय-विभाग आदि स्पष्टतया प्रतीत होता हो। निरुक्त पूर्वार्द्ध की भूमिका में यास्क ने गार्ग्यमत की युक्तियों का खण्डन करते हुए सभी नामों के धातुज होने के सिद्धान्त का प्रबल पोषण किया है। इसी सिद्धान्त की परिपुष्टि के लिए निरुक्त में निर्वचन के कतिपय नियमों का सोदाहरण निर्देश किया गया है तथा लगभग १३०० वैदिक शब्दों का निर्वचन भी यास्क ने कर दिखाया है। अनेक शब्दों के निर्वचन एक से अधिक भी किये गये हैं, तथा कई स्थानों पर स्वकृत निर्वचन की पुष्टि में मूल वेद या ब्राह्मणग्रन्थों आदि के प्रमाण भी दिये हैं। एक शब्द के अनेक निर्वचन करने में यास्क का तद्विषयक सन्देह कारण नहीं है, अपितु यह रहस्य है कि प्रायः स्वयं वेदों में ही उस शब्द से वाच्य वस्तु उन-उन क्रियाओं को करती हुई वर्णित की गयी है, जो यास्ककृत निर्वचनों से सूचित होती है। उदाहरणार्थ, निरुक्त में पर्जन्य शब्द के निम्न निर्वचन किये गये हैं—१, तर्पयिता जन्यः, २. परो जेता, ३. परो जनयिता, ४. प्रार्जयिता रसानाम्[७५]। अर्थात् पर्जन्य नाम इस कारण है, क्योंकि तद्वाच्य मेघादि पदार्थ १. तृप्तिकारक तथा जनहितकारी हैं, (तृप्+जन्य, पृत्+जन्य=पर्जन्य), २. परम जेता हैं (पर+जि जये), ३. परम जनयिता हैं (पर+जनी प्रादुर्भावे) और ४. रसों के प्रकृष्ट अर्जयिता हैं (प्र-अर्ज)। पर्जन्य के ये सभी गुणधर्म ऋग्वेद के पर्जन्यसूक्तों[७६] में वर्णित हैं। एक शब्द के अनेक, निर्वचनों में एक रहस्य यह भी है कि एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, एक निर्वचन एक अर्थ में संगत होता है, तो दूसरा निर्वचन दूसरे अर्थ में संगत हो सकता है। इस तथ्य को कहीं-कहीं यास्क ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। उदाहरणार्थ, उषस् के निर्वचन दिखाते हुए वे कहते हैं कि उषस् का अर्थ जब उषा होता है तब यह शब्द कान्त्यर्थक वश् धातु से बनता है, क्योंकि उषा चमकीली होती है; और जब माध्यमिक वाणी अर्थ होता है, तब यह शब्द विवासनार्थक उछी धातु से बनता है[७७], क्योंकि माध्यमिक वाणी मेघों से जलों का

---

७५. निरु० १०.११।

७६. ऋग् ५.८३, ७.१०१.१०२।

७७. उषा वष्टेः कान्तिकर्मणः उच्छतेरितरा माध्यमिका (निरु० १२.६)।

विवासन करती है।

अधिदैवत प्रक्रिया के विवरण के प्रसंग में हम लिख चुके हैं कि यास्कीय निरुक्त से अधिदैवत व्याख्या को सर्वाधिक पोषण मिला है। परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि नैरुक्त प्रक्रिया और अधिदैवत प्रक्रिया पर्यायवाची हैं। नैरुक्त प्रक्रिया वैदिक शब्दों के निर्वचन पर बल देती है तथा निर्वचन द्वारा अधिदैवत, अध्यात्म एवं याज्ञिक प्रक्रियाओं की विरोधी न होकर पूरक है[७८]। नैरुक्त प्रक्रिया की विशेष देन है, निरुक्त के बल से वैदिक शब्दों के विविध अर्थों को बताना। कोई शब्द लौलिक संस्कृत में जिस अर्थ में प्रचलित है उसका वही अर्थ वेद में भी हो, यह आवश्यक नहीं है। उससे भिन्न अर्थ भी हो सकता है, तथा लौकिक संस्कृत में जो अर्थ प्रचलित हैं, उससे अतिरिक्त अन्य अर्थ भी हो सकते हैं। उदाहरणार्थ हम पुरोहित, पुरीष, घृत, समुद्र, वायस, अश्व, अद्रि, गिरि आदि शब्दों को ले सकते हैं। यदि पुरोहित का लोकप्रसिद्ध अर्थ ही लिया जाये तो अग्नि का 'पुरोहित' विशेषण कैसे संगत होगा? 'संमुख निहित' यह यौगिक अर्थ करने पर ही संगति लग सकती है।[७९] पुरीष शब्द लौलिक संस्कृत में विष्ठा का वाचक है, परन्तु इसका वैदिक अर्थ जल[८०] है। घृत शब्द का लोक में घी अर्थ है, किन्तु वेद में पानी और तेज अर्थ

निरु० २.९ में उषावाची नामों के प्रसंग में प्रातःकालीन उषा के अर्थ में भी उषस् शब्द को "उषाः कस्मात् उच्छतीति सत्याः" लिखते हुए यास्क ने उछी धातु से ही निष्पन्न कहा है। अतः यह अभिप्राय लेना चाहिए कि उषा अर्थ में तो उषस् शब्द 'वश् कान्तौ' और 'उछी विवासे' दोनों धातुओं से बन सकता है, क्योंकि उषा जहाँ चमकीली होती है, वहाँ साथ ही अपनी चमक से अन्धकार का विवासन भी करती है। किन्तु माध्यमिक वाणी केवल विवासन ही करती है, चमकीली नहीं होती, अतः उस अर्थ में उषस् शब्द केवल 'उछी विवासे' धातु से ही निष्पन्न होगा। द्रष्टव्यः दुर्गटीका।

७८. द्रष्टव्यः युधिष्ठिर मीमांसकः "वैदिक सिद्धान्तमीमांसा" में वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं की मीमांसा विषयक लेख, पृ० ९९।

७९. अग्निमीडे पुरोहितम् ऋग् १.१.१, पुरोहितः पुर एनं दधति, निरु० २.१२।

८०. पुरीषम्...उदकम्। पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा। निरु० ३.२२

भी होते हैं। यह शब्द क्षरण तथा दीप्ति अर्थ वाली घृ धातु से बनने के कारण का आश्रय लेकर घी, पानी और तेज तीनों का वाची हो जाता है।[८१] समुद्र लौकिक संस्कृत में पृथिवीस्थानीय सागर का वाचक होता है, किन्तु वेद में इसके अर्थ अन्तरिक्ष, आदित्य आदि भी होते हैं[८२]। वायस का लौकिक अर्थ कौआ है, किन्तु वेद में यह सूर्य के लिए आया है[८३]। अश्व शब्द लोक में घोड़े का वाचक है, किन्तु वेद में 'व्याप्तिमान्' अर्थ को लेकर यह पर्जन्य, सूर्य, अग्नि आदि के लिए भी प्रयुक्त हुआ है[८४]। अद्रि, गिरि आदि शब्द लोक में पर्वत के ही वाची हैं, परन्तु वेद में मेघ, वज्र प्रभृति अर्थों को भी देते हैं[८५]। इसी प्रकार अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवतावाची शब्द भी विभिन्न क्षेत्रों में परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, राजा, सेनापति आदि अर्थों के वाचक हो जाते हैं। यह सब नैरुक्त प्रक्रिया का अवलम्बन करने से ही सम्भव है।

नैरुक्त प्रक्रिया ही वेद के व्यक्तिवाचक प्रतीत होने वाले अनेक नामों की यौगिक व्याख्या करके उन नामों को गुणबोधक बनाती है। यास्कीय निरुक्त में प्रियमेध, अत्रि, अङ्गिरस्, प्रस्कण्व, भृगु, जमदग्नि, अथर्वा आदि अनेक नामों की निरुक्तियाँ प्रदर्शित की गयी हैं। इस सरणि से परिचित होने पर ही हम यह समझ सकते हैं कि वेदमन्त्र

---

८१. घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः (निरु० ७.२४)। घृतं दीप्तं रसरूपं वा द्रव्यम्, ऋग् ४.५८.४ का सा० भा०।

८२. निघं० १.३, निरु० २.११, १२.३१, समुद्रात् समुद्द्रवणसाधनाद् आदित्यात्, ऋग् ४.५८.१ का सा० भा०।

८३. दिव्यं सुपर्णम् वायसं बृहन्तं ऋग् १.१६४.५२। वायसं गमनशीलं....देवं सूर्यं वा—सायण। अन्ते चादित्यं स्तौति—वेंकट।

८४. अश्वः कस्मात्? अश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा निरु० २.२८। प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम् ऋग् १०.१८८.१, प्रहिणुत जातवेदसं कर्मभिः समश्नुवानम् निरु० ७.१९; "प्र पिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः ऋग् ५.८३.६, अश्वस्य व्यापकस्य मेघस्य"—सायण। श्वेतं नयन्ती सदृशीकमश्वम्, ऋग् ७.७७.३—अश्वं सर्वदा गन्तारमादित्यम्—सायण।

८५. अद्रि=मेघ, निघं० १.१०; पर्वत, निरु० २.२२; वज्र, निरु० ४.४, अद्रिवः वज्रवन् ऋग् ५.३९.१ का सायण-भाष्य; ग्रावा, निरु० ९.८।

जमदग्नि आदि के लिए जब त्र्यायुष की प्रार्थना करता है, तब उसे इन नामों के कोई व्यक्तिविशेष अभिलषित न होकर चक्षु आदि अभिप्रेत होते हैं—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
यद् देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम्॥ —यजु० ३.६२

"हमारे चक्षु (जमदग्नि) को त्रिगुणित आयु प्राप्त हो, हमारे प्राण (कश्यप) को त्रिगुणित आयु प्राप्त हो। विद्वानों को जो त्रिगुणित आयु प्राप्त होती है, वह त्रिगुणित आयु हमें प्राप्त हो[८६]।"

इस प्रकार नैरुक्त प्रक्रिया का वेदार्थ में अत्यन्त महत्त्व है तथा यह अन्य प्रायः सभी प्रक्रियाओं में सहायक सिद्ध होती है। यास्क ने अपने निरुक्त में स्वयं जो कुछ लिखा है, उसके अतिरिक्त नैरुक्त प्रक्रिया के अनुयायियों के अभिप्रेत अर्थों का दिग्दर्शन 'इति नैरुक्ताः' कहकर किया है। निरुक्त के वे स्थल दो प्रकार के हैं। प्रथम वे हैं जिनसे किन्हीं शब्दों के निर्वचन के सम्बन्ध में यह प्रकाश पड़ता है कि यास्क से पूर्व के नैरुक्त उन शब्दों का क्या निर्वचन करते थे। यहाँ यास्क ने अपने से पूर्ववर्ती नैरुक्तों के मत का उल्लेख उनके प्रति आदरप्रदर्शनार्थ किया है। इससे यह विनय भी सूचित हो जाता है कि अमुक निर्वचन मेरी सूझ का परिणाम नहीं है, अपितु पहले निरुक्तकार ऐसा निर्वचन करते थे। कहीं-कहीं यास्क ने प्राचीन नैरुक्तों से अभिमत निर्वचन के विकल्प रूप में अपना दूसरा निर्वचन भी दिया है। निर्वचन से सम्बन्ध रखने वाले 'इति नैरुक्ताः' के स्थल यास्कीय निरुक्त में निम्नलिखित हैं—

१. **निषादः कस्मात् निषदनो भवति, निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः (३.७)।**
२. **तस्करस्तत्करो भवति यत् पापकमिति नैरुक्ताः, तनोतेर्वा स्यात् सन्ततकर्मा भवति, अहोरात्रकर्मा वा (३.१४)।**
३. **स्तेनः कस्मात्? संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः (३.१९)।**
४. **तायुरिति स्तेननाम, संस्त्यानमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः, तस्यतेर्वा स्यात् (४.२३)।**

---

८६. दया० ऋ०भा०भू०, वेदसंज्ञाविचारप्रकरण।

५. **शुचिः शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। अयमपीतरः शुचिरेतस्मादेव, निष्षिक्तमस्मात् पापकमिति नैरुक्ताः (६.१)।**
६. **सललूकं संलुब्धं भवति पापकमिति नैरुक्ताः, सररूकं वा स्यात् सर्तेरभ्यासात् (६.३)।**
७. **क्रव्यं विकृत्ताज्जायत इति नैरुक्ताः (६.११)।**
८. **त्वष्टा तूर्णमश्नुते इति नैरुक्ताः, त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणः, त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः (८.१४)।**
९. **मङ्गलं गिरतेर्गृणात्यर्थे, गिरत्यनर्थानिति वा, अङ्गलम् अङ्गवत्। मज्जयति पापकमिति नैरुक्ताः, मां गच्छत्विति वा (९.३)।**

दूसरे प्रकार के स्थल वे हैं, जहाँ निर्वचन का प्रसंग न होकर किसी विषय में अन्य पक्षों की तुलना में नैरुक्तों का मत उद्धृत किया गया है। इन स्थलों में एक में परिव्राजक[८७] सम्प्रदाय की तुलना में, दो में ऐतिहासिक[८८] सम्प्रदाय की तुलना में, चार में याज्ञिक[८९] पक्ष की तुलना में तथा दो में आख्यानवादियों[९०] की तुलना में नैरुक्त मत प्रदर्शित किया गया है। एक स्थान पर आर्ष, वैयाकरण, याज्ञिक, इतर आचार्य तथा आत्मप्रवाद पक्षों[९१] की तुलना में नैरुक्त मत दिया गया है। इनमें से कुछ स्थलों की चर्चा पूर्व आ चुकी है तथा कुछ की आगे यथास्थान की जायेगी। अतः यहाँ उन्हें पृथक् रूप से नहीं दिया जा रहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि नैरुक्त प्रक्रिया केवल निरुक्तकार यास्क तक ही सीमित नहीं है। शब्दों के निर्वचन यास्ककृत निर्वचनों से भिन्न भी किये जाते रहे हैं और आज भी किये जा सकते हैं। वेदभाष्यकारों ने अनेक स्थलों पर यास्क के नामोल्लेख के बिना भी सामान्य रूप में किन्हीं व्याख्याओं को नैरुक्त व्याख्यान कहा है, जिनमें से कई व्याख्याएँ ऐसी भी हैं जो यास्कीय निरुक्त में नहीं

८७. निरु० २.८।
८८. निरु० २.१७, १२.१०।
८९. निरु० ५.१०, ७.४, ११.२७, ११.२९।
९०. निरु० ११.१८, १२.४०।
९१. निरु० १३.९।

आतीं। विशेषकर ऐतिहासिक और नैरुक्त सम्प्रदाय का मतभेद प्रायः प्रदर्शित किया गया है, जिसकी चर्चा आगे ऐतिहासिक प्रक्रिया के प्रकरण में भी की जायेगी।

७. वैयाकरण-प्रक्रिया—

व्याकरण की चर्चा निरुक्त में चार स्थलों पर आयी है। प्रथम, यास्क-भूमिका में 'सब नाम आख्यातज हैं या नहीं?' इस विचार के प्रसंग में कहा है कि 'सभी नाम आख्यातज हैं' यह शाकटायन तथा नैरुक्त मानते हैं और 'सब आख्यातज न होकर कुछ आख्यातज हैं तथा कुछ रूढ हैं' ऐसा गार्ग्य और कुछ वैयाकरणों का कथन है[९२]। दूसरे, निरुक्ताध्ययनप्रयोजन-प्रकरण में निरुक्त का एक प्रयोजन यह बताया गया है कि यह व्याकरण-शास्त्र का पूरक है[९३]। इस द्वितीय स्थल में 'निरुक्तशास्त्र और व्याकरणशास्त्र में अन्तर है' इसकी सूचना भी मिलती है। वस्तुतः निरुक्तशास्त्र शब्दों के निर्वचन तक सीमित है और व्याकरण-शास्त्र, प्रकृति-प्रत्यय, आगम, विकार आदि का अनुसन्धान कर शब्द की सिद्धि करता है। व्याकरण-शास्त्री के लिए निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि निरुक्ति के बिना वह कोई शब्द किस धातु से निष्पन्न हुआ है, यह नहीं जान सकता। निरुक्त से आगे व्याकरण का क्षेत्र आता है, अर्थात् निरुक्त द्वारा जब यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक शब्द में अमुक धातु है, तब आगे वैयाकरण उसमें प्रत्ययादि की कल्पना करता है। नैरुक्त के लिए भी व्याकरण का ज्ञान सहायक अवश्य है; पर अनिवार्य नहीं है। अर्थात् निरुक्तशास्त्र शब्दसिद्धि के ज्ञान के विना भी प्रवृत्त होता है।

व्याकरण की चर्चा करने वाला निरुक्त का तीसरा स्थल वह है जहाँ मण्डुक शब्द का निर्वचन किया गया है। यास्क कहते हैं कि मण्डूक शब्द डुबकी लगाने वाली मस्ज् धातु से, मोदनार्थक मदी धातु से और तृप्त्यर्थक मदि धातु से निष्पन्न हो सकता है। इसके अनन्तर वे लिखते हैं कि वैयाकरणों का कथन है कि मण्डूक मडि

---

९२. तत्र नामान्याख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च, न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके। निरु० १.१२

९३. तदिदं विद्यास्थानं व्याकरणस्य कार्त्स्न्यं स्वार्थसाधकं च। निरु० १.१५

भूषणे धातु से बना है, मेंढक भूषित शरीर वाले होते हैं अथवा इनका निवासस्थान सरोवर आदि भूषित होता है, इस कारण इन्हें मण्डूक कहते हैं[९४]। इससे ज्ञात होता है कि कहीं-कहीं नैरुक्त तथा वैयाकरण किसी शब्द के विषय में धातु अनुसन्धान करते हुए भिन्न परिणामों पर भी पहुँचते हैं, यद्यपि प्रस्तुत स्थल में वैयाकरण पक्ष का उल्लेख यास्क ने वैयाकरणों से अपनी असहमति प्रदर्शित करने के लिए न कर एक चौथा विकल्प देने के उद्देश्य से ही किया प्रतीत होता है। किसी शब्द की सिद्धि में नैरुक्तों और वैयाकरणों के मतभेदों को देखने के लिए यास्कीय निरुक्त तथा उणादि सूत्रों का तुलनात्मक अध्ययन उपयोगी होगा।

वैयाकरणपक्ष का उल्लेख करने वाला निरुक्त का चतुर्थ स्थल निरुक्तपरिशिष्ट में **"चत्वारि वाक् परिमिता पदानि"** ऋग् १.१६४.४५ आदि ऋचा की व्याख्या है, जिसमें कहा गया है कि वैयाकरणों के अनुसार यहाँ चार पद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात हैं[९५]। इससे संकेत मिलता है कि वैयाकरण आचार्य कुछ वेदमन्त्रों की व्याख्या भी अपने पक्षानुसार करते हैं। पतंजलि ने निम्न मन्त्र की वैयाकरण-पक्ष के अनुकूल ही व्याख्या की है, जबकि याज्ञिक पक्ष की व्याख्या भिन्न है, जिसका उल्लेख अधियज्ञ क्रिया में किया जा चुका है।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्या पादा, द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति, महो देवो मर्त्यां आविवेश॥

—ऋग् ४.५८.३, यजु० १७.९१

"एक बैल है, जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं। तीन स्थानों से बँधा हुआ वह अतिशय बोल रहा है। वह एक महान् देव है, जो मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है।"

पतञ्जलि के अनुसार यह बैल शब्द है। शब्द के चार भेद नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ही इसके चार सींग हैं, भूत, भविष्य,

---

९४. मण्डूका मज्जूका मज्जनात्, मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो मण्डयतेरिति वैयाकरणाः, मण्ड एषामोक इति वा। निरु० ९.५; तुलनीयः शलिमण्डिभ्यामूकण् उणादि, ४.४३।

९५. नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः (निरु० १३.९)।

वर्तमान काल ही तीन पैर हैं। सुप् और तिङ् दो सिर हैं। सात विभक्तियां सात हाथ हैं। उरस्, कण्ठ और सिर इन तीन स्थानों में बँधा हुआ वह बोल रहा है, यतः तीनों स्थानों की सहायता से उच्चरित होता है[९६]।

किन्तु ऐसे मन्त्र अंगुलिगण्य ही हैं। वस्तुतः व्याकरण निरुक्त से पृथक् सत्ता रखते हुए भी वेदार्थ-प्रक्रिया की दृष्टि से कोई पृथक् प्रक्रिया नहीं है, अपितु सभी प्रक्रियाओं में सहायक होता है।

८. नैदान-प्रक्रिया—

नैदान सम्प्रदाय का उल्लेख निरुक्त में दो बार हुआ है। प्रथम नैघण्टुक काण्ड में जहाँ 'स्याल' शब्द पर नैदान पक्ष उपस्थित करते हुए कहा है कि पत्नी के भाई को 'स्याल' इस कारण कहते हैं कि वह 'आसन्न संयोग वाला' होता है अथवा अपनी बहिन के विवाह में लाजाहोम विधि में शूर्प (स्य) में रखी हुई खीलें (लाज) होम के लिए बहिन की अंजलि में डालता है[९७]। द्वितीय स्थल दैवतकाण्ड में है, जहाँ 'सामन्' नाम का निर्वचन करते हुए अन्य विकल्पों के साथ एक पक्ष नैदानों का भी दिया है। नैदानों के अनुसार 'सामन्' नाम इस कारण है, क्योंकि 'साम' ऋचा के समान माना जाता है[९८]।

वस्तुतः यह नैदान सम्प्रदाय भी वेदार्थ की कोई प्रक्रिया-विशेष न होकर शब्द-साधन का ही सम्प्रदाय है। नैदान सम्प्रदाय के आचार्य शब्द के निदान का अनुसन्धान करते हैं कि किसी अर्थ में कोई शब्द प्रचलित क्यों हुआ। ऊपर यास्कीय निरुक्त में नैदानों के नाम से उल्लिखित जो दो उदाहरण दिये गये हैं, उनसे इनके अनुसन्धान-प्रकार पर प्रकाश पड़ता है। यद्यपि 'स्याल' शब्द की निष्पत्ति गत्यर्थक श्यैङ् धातु से तालव्य श् को दन्त्य स् करके हो सकती है[९९], तो भी नैदानों ने ''आसन्न'' से स् और 'संयोग' से य् लेकर की है, अथवा

---

९६. महाभाष्य आह्निक १, व्याकरणाध्ययनप्रयोजनप्रकरण।

९७. स्याल आसन्नः संयोगेनेति नैदानाः स्याल्लाजानावपतीति वा। निरु० ६.९

९८. साम संमितम् ऋचा स्यतेर्वा, ऋचा समं मेन इति नैदानाः। निरु० ७.१२
सम+मन्=स+मन्=सामन्।

९९. लौकिक संस्कृत में श्याल शब्द ही प्रयुक्त होता है।

स्य और लाज[१००] के योग से मानी है। इसी प्रकार "षो अन्तकर्मणि" धातु से साम शब्द निष्पन्न हो सकता है, जैसा कि निरुक्तकार ने निर्दिष्ट किया है, तथा उणादि[१०१] से भी यह अनुमोदित है, तो भी नैदानों ने सम और मन् के योग से इसे सिद्ध किया है। इससे प्रतीत होता है कि नैदानों की प्रवृत्ति सीधे धातु से शब्दनिष्पत्ति न करके किसी शब्द के मूल में जो विधियाँ, परम्पराएँ आदि रहीं हैं, उनके आधार पर करने की है। ब्राह्मण-ग्रन्थों की अनेक शब्द-निष्पत्तियाँ इसी कोटि में आती हैं। यथा 'उरु' और 'कर' के योग से उलूखल [१०२] की की सिद्धि, जिसे यास्क[१०३] ने भी वैकल्पित रूप में स्वीकार किया है। यास्क ने नैदान सम्प्रदाय का उल्लेख यद्यपि दो ही स्थानों पर किया है, तो भी नैदानों की प्रक्रिया को कई स्थानों पर अपनाया है[१०४]। उपर्युक्त स्याल तथा सामन् शब्दों पर भी यास्क ने जिस नैदानमत का उल्लेख किया है, उससे वह सहमत ही प्रतीत होता है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि वैयाकरण सम्प्रदाय के समान नैदान सम्प्रदाय भी वेदार्थ की नैरुक्त प्रक्रिया में ही अन्तर्भूत हो जाता है। अतः इसे भी पृथक् वेदार्थ-प्रक्रिया के रूप में परिगणित किये जाने की आवश्यकता नहीं है। यास्क ने शब्दों के निर्वचन करते हुए वैयाकरण और नैदान सम्प्रदायों से यत्र-यत्र लाभ उठाया है।

९. ऐतिहासिक प्रक्रिया—

वेदार्थ का ऐतिहासिक सम्प्रदाय नया नहीं है, किन्तु यास्क से भी पहले विद्यमान था। यास्कीय निरुक्त में इस सम्प्रदाय का कई बार उल्लेख हुआ है। यास्क ने निरुक्त में कई स्थलों पर ऐतिहासिक सम्प्रदाय से अपना मतभेद प्रदर्शित किया है। यथा—

---

१००. स्यलाज=स्याजल=स्याल।

१०१. सातिभ्यां मनिन्मनिणौ। उ० ४.१५४

१०२. उरु मे करदिति तस्मादुरुकरम्। उरुकरं ह वै तदुलूखलमित्याचक्षते परोक्षम्। श० ७.५.१.२२

१०३. निरु० ९.२०।

१०४. द्रष्टव्य : निरु० गायत्री-उष्णिक्-अनुष्टुप्-त्रिष्टुप्-जगती ७.१२, अग्नि ७.१४, रुद्र १०.६, इन्द्र १०.८, ऋभवः ११.१३ शब्दों के निर्वचन।

१. 'वेदिक इन्द्र-वृत्र-युद्ध में वृत्र कौन है?' इस पर विचार करते हुए लिखा है कि 'नैरुक्तों के मत में मेघ वृत्र है' विद्युत् के साथ उसका युद्ध होता है, तथा मेघ परास्त होकर भूमि पर गिर पड़ता है। किन्तु ऐतिहासिक मानते हैं कि 'त्वष्टा का पुत्र एक वृत्रासुर था, उसी का वेदों में इन्द्र के साथ युद्ध वर्णित हुआ है'—

तत् को वृत्रः? मेघ इति नैरुक्ताः त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपां च ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणो वर्षकर्म जायते। तत्रोपमार्थेन युद्धवर्णा भवन्ति॥ —निरु० २.१७

२. 'अश्विनौ कौन हैं?' इस विषय में लिखा है कि ऐतिहासिकों के अनुसार 'अश्विनौ' कोई दो पुण्यकर्मा राजा थे, किन्तु स्वमत में अर्धरात्र से लेकर प्रातः प्रकाशोदयपर्यन्त का काल अश्विनौ का माना है, जिसमें एक तमोभाग तथा दूसरा ज्योतिर्भाग होने से दो हो जाते हैं।

तत् कावश्विनौ? द्यावापृथिव्यावित्येके, अहोरात्रावित्येके, सूर्याचन्द्रमसावित्येके, राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः। तयोः काल ऊर्ध्वमर्धरात्रात् प्रकाशीभावस्यानुविष्टम्भमनु। तमोभागो हि मध्यमो ज्योतिर्भाग आदित्यः, निरु० १२.१

३. "**अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः** ऋग् १०.१७.२" आदि मन्त्र की व्याख्या में "**अजहात् उ द्वा मिथुना सरण्यूः**—सरण्यू अपने पीछे दो मिथुनों को छोड़ गयी" इस वाक्य का आशय खोलते हुए लिखा है कि नैरुक्तों के अनुसार ये मिथुन मध्यमस्थानीय देव तथा माध्यमिक वाणी हैं, किन्तु ऐतिहासिकों के अनुसार यम और यमी।

ऐसे स्थलों से यह स्पष्ट है कि निरुक्तकार की वेद-मन्त्रों को ऐतिहासिक प्रक्रिया से व्याख्यात करने की रुचि नहीं है।[१०५]

निरुक्तकार वेद में इतिहास मानते हैं या नहीं, इस विषय में यद्यपि ऐकमत्य नहीं है, तथापि इतना तो सर्वसम्मत है कि ऐतिहासिक स्थलों की अधिदैवत, अध्यात्म आदि व्याख्या करने की ओर नैरुक्त सम्प्रदाय की प्रवृत्ति है। सायण ने भी अपने भाष्य में कई स्थानों पर

---

१०५. निरुक्त में जिन स्थलों में यास्क ने केवल इतिहास ही दिया है, उनकी भी नैरुक्त व्याख्या अपने निरुक्तभाष्यों में स्कन्दस्वामी और दुर्गाचार्य ने प्रदर्शित की है। द्रष्टव्यः ब्रह्मदत्त जिज्ञासुः 'निरुक्तकार और वेद में इतिहास', रामलाल कपूर ट्रष्ट, बहालगढ़, सोनीपत।

इस प्रवृत्ति की ओर संकेत किया है। यथा—

सुपर्णा एत आसते मध्य आरोधने दिवः। ते सेधन्ति पथो वृकं तरन्तं यह्वतीरपो वित्तं मे अस्य रोदसी॥ —ऋग् १.१०५.११

"व्याप्त आकाश के मध्य में ये सुपर्ण स्थित हैं। वे सुपर्ण महान् जलों को तैर कर पार करते हुए वृक (भेड़िये) को मार्ग से हटा देते हैं। हे द्यावापृथिवी, मेरी इस पहेली को बूझो।"

इस मन्त्र की व्याख्या में 'वे आकाशस्थित सुपर्ण कौन हैं, जो मार्ग से उस वृक को हटा देते हैं, जो विशाल जलों को पार कर रहा है'? इस प्रश्न का समाधान करते हुए सायण प्रथम आख्यानपरक अर्थ देते हैं, फिर यास्क का पक्ष। आख्यान यह है कि कूप में गिरने से पूर्व त्रित ऋषि को देखकर नदी के परले पार स्थित कोई भेड़िया उसे खाने के लिए नदी पार करना चाहता था, किन्तु वह सुपर्णों (सूर्य-रश्मियों) को देख कर लौट गया। फिर 'यास्कपक्षे तु' लिख कर यास्क-पक्ष में यह अर्थ दिया है कि 'आपः' अन्तरिक्षवाची हैं, अन्तरिक्ष में द्वादशराश्यात्मक मार्ग को पार करने वाला चन्द्रमा है, उसे सूर्य-रश्मियाँ रोक देती हैं, उनसे रोका हुआ वह निष्प्रभाव हो जाता है[१०६]।

दनो विश इन्द्र मृध्रवाचः सप्त यत् पुरः शर्म शारदीर्दत्।
ऋणोरपो अनवद्यार्णा यूने वृत्रं पुरुकुत्साय रन्धीः॥

—ऋग् १.१७४.२

इस मन्त्र की व्याख्या सायण ने प्रथम ऐतिहासिक पक्षानुसार दी है कि—"हे इन्द्र, वृत्र सम्बन्धी असुरों के पुरभेदन के समय आपने आसुरी प्रजाओं का दमन किया तथा उनकी वर्ष भर दृढ़ की हुई सात पुरियों का विदारण किया और दुर्ग में स्थित जलों को अर्थात् जल-

---

१०६. "कूपपतनात् पूर्वं त्रितं दृष्ट्वा एनं भक्षयितुं कश्चिदरण्यश्वा महतीं नदीं तितीर्षुः आजगाम। स च सूर्यरश्मीन् दृष्ट्वा अयमवसरो न भवतीति निववृते। अतो रश्मयो वृकं निषेधन्तीत्युच्यते। यास्कपक्षे तु आप इत्यन्तरिक्षनाम। यह्वतीरपो महदन्तरिक्षं पथः पथा द्वादशराश्यात्मना मार्गेण तरन्तं वृकं चन्द्रमसं सूर्यरश्मयो निषेधन्ति। अहनि हि सूर्यरश्मिभिः निरुद्धश्चन्द्रमा निष्प्रभो दृश्यते। अतो निष्प्रभं कुर्वन्तीत्यर्थः" सायण। यह मन्त्र निरुक्त में व्याख्यात नहीं हुआ है।

भरे तालाब आदियों को तोड़ दिया, साथ ही युवा पुरुकुत्स के लिए वृत्र का वध कर दिया।'' यह अर्थ देने के पश्चात् वे लिखते हैं कि यह तो ऐतिहासिक पक्ष है, पर नैरुक्त परम्परा के अनुसार मन्त्र वर्णित 'विशः' वृष्टिरूप प्रजाएँ हैं, जिनका इन्द्र दमन करता है, अर्थात् उन्हें भूमि पर बरसाता है; सप्त पुरियाँ सर्पणस्वभाव वाले जगत्पूरक मेघ हैं, जिन्हें इन्द्र विदारित करता है, वृत्र भी मेघ ही है[१०७]।

विश्वेत्ता विष्णुराभरदुरुक्रमस्त्वेषितः। शतं महिषान् क्षीर-पाकमोदनं वराहमिन्द्र एमुषम्॥ —ऋग् ८.७७.१०

इस मन्त्र की व्याख्या में सायण लिखते हैं कि इस ऋचा की नैरुक्तों और ऐतिहासिकों के मतभेद से दो प्रकार व्याख्यायोजना हो सकती है। नैरुक्तों के अनुसार विष्णु व्यापनशील आदित्य है। अर्थ होगा—''हे इन्द्र, तुझसे प्रेरित आदित्य (विष्णु) त्वत्स्रष्टव्य जलों का आहरण करता है, अर्थात् लोक को प्रदान करता है। साथ ही वह सौ महिषों (महिष, गौ आदि पशुओं) अथवा अपरिमित महान् यज्ञों को यजमानों के लिए प्रदान करता है। दूध में पका भात (खीर) भी यजमानों को देता है तथा जल के पोषक उदकपूर्ण मेघ (वराह) का हनन करता है।'' ऐतिहासिकों के अनुसार विष्णु यज्ञ है। वह देवों के सामने से अन्तर्हित हो गया। अन्य देवता उसे नहीं खोज सके, किन्तु इन्द्र ने खोज लिया। उसने इन्द्र से पूछा—आप कौन हैं? इन्द्र ने कहा—मैं दुर्गों और असुरों का हन्ता हूँ, आप कौन हैं? यज्ञ (विष्णु) ने कहा—'मैं दुर्ग से आहर्ता हूँ, आप यदि दुर्गों और असुरों के हन्ता हैं, तो यह वराह वाममुष अश्ममयी इक्कीस पुरियों के पार रहता है, उसके अन्तर असुरों का वाम वसु है, उसका हनन करें। तब इन्द्र ने

१०७.........''अयमैतिहासिकपक्षः। निरुक्तरूढ्या तु हे इन्द्र मृध्रवाचो विशो मर्षणध्वनियुक्ता वृष्टिरूपाः प्रजा दनः अदमयः अशब्दयो वा। अवर्षय इत्यर्थः। कदा? यदा सप्त पुरः शारदीः दर्त् सर्पणस्वभावान् प्रत्यग्रान् वृष्ट्या जगत्पूरकान् मेघान् अदारयः तदेत्यर्थः। तथा कृत्वा हे अनवद्य अर्णा अरणस्वभावा अपः ऋणोः अगमयः प्रावर्तयः कुल्यादिरूपेण। अनन्तरं यूने पुरुकुत्साय वृत्रं मुख्यं मेघं रन्धीः असाधयः अहनः'' —सायण। निरुक्त (६.३१) में इस मन्त्र का केवल प्रथम चरण आया है तथा वहाँ यह व्याख्या की है—दानमनसो नो मनुष्यान् इन्द्र मृदुवाचः कुरु।

उन नगरियों का भेदन कर उसके हृदय को विद्ध कर दिया। उसी इतिहास का प्रस्तुत मन्त्र में वर्णन है[१०८]।'

याभिः शुचन्तिं धनसां सुषंसदं तप्तं धर्ममोम्यावन्तमत्रये।
याभिः पृश्निगुं पुरुकुत्समावतं ताभिरूषु ऊतिभिरश्विना गतम्॥

—ऋग् १.११२.७

इस मन्त्र में अश्वी देवों का आह्वान किया गया है कि जिन रक्षाओं से तुमने 'शुचन्ति' को धनी बना दिया और 'अत्रि' के लिये अग्नि को दाहरहित तथा रक्षक कर दिया और जिन रक्षकों के साथ तुम 'पृश्निगु' तथा 'पुरुकुत्स' के पास आये, उन्हीं रक्षाओं के साथ हमारे पास भी आओ। यहाँ सायण ने प्रथम अत्रि को ऐतिहासिक ऋषि मान कर यह अर्थ किया है कि शतद्वार यन्त्रगृह के अन्दर असुरों से पीड़ित किये जाते हुए अत्रि ऋषि के लिए पीड़ा के साधन तापकारी अग्नि को अश्विनौ ने सुखदायक कर दिया था। फिर कहा है कि यास्क के मत में यहाँ अत्रि का अर्थ हवियों का अदन करने वाला अग्नि है। उस अग्नि के लिए हवियों की उत्पत्ति के निमित्त अश्वि-युगल ग्रीष्म से तपते दिन को तर्पक वृष्टिजल से युक्त कर देते हैं[१०९]। निरुक्त ६.३६ में यास्क ने "**ऋबीसे अत्रिमश्विनावनीतम्** ऋग् १.११६.८" की व्याख्या करते हुए अत्रि का अर्थ अग्नि किया है, यद्यपि वहाँ इसका निर्वचन नहीं दिया[११०]। सायण का संकेत उसी की ओर प्रतीत होता है। यास्क ने अग्नि को अत्रि इस कारण माना है, क्योंकि अग्नि हवि आदि का भक्षण करता है (अत्ति इति अत्रिः)।

---

१०८. "अस्या ऋचो नैरुक्तैतिहासिकमतभेदेन द्विधा योजना। नैरुक्तपक्षे तावत्.....। निरुक्तपक्षे एवम्। ऐतिहासिकपक्षे चरकब्राह्मणे इतिहास आम्नायते.....।" सायण

१०९. .....शतद्वारे यन्त्रगृहे असुरैः पीड्यमानाय धर्मं दीप्तं पीडासाधनम् अग्निं तापकारिणम् ओम्यावन्तं सुखवन्तम् अकुरुतम्। यथा अस्मै सुखं भवति तथा हिमेनोदकेन तम् अग्निम् अवारयेथाम्। यास्कपक्षे तु अत्रये हविषामत्त्रे अग्नये, हविरुत्पत्त्यर्थं सूर्यकिरणसंतप्तं घर्मं नैदाधम् अहः ओम्यावन्तं तृप्तिहेतुवृष्ट्युदकोपेतं कृतवन्तौ इति योज्यम्। सायण

११०. योऽयम् ऋबीसे पृथिव्याम् अग्निः अन्तरोषधिवनस्पतिष्वप्सु तमुन्निन्यथुः। निरु० ६.३६

जब यास्क अत्रि को ऐतिहासिक ऋषि न मान कर उसका योगरूढ़ अर्थ लेते हैं, तब इस मन्त्र में आये शेष नाम 'शुचन्ति', 'पृश्निगु' और 'पुरुकुत्स' भी उनके मत में योगरुढ़ ही होने चाहिएँ।

कहीं-कहीं सायण ने अपने वेदभाष्य में नैरुक्तों के साथ अपने आपको एक कर लिया है, तथा नैरुक्त नाम का उल्लेख बिना किये ही प्रथम ऐतिहासिक अर्थ तथा फिर नैरुक्त अर्थ दिया है। उदाहरणार्थ—

प्र सूनव ऋभूणां बृहन्नवन्त वृजना।
क्षामा ये विश्वधायसोऽश्नन् धेनुं न मातरम्॥

—ऋग् १०.१७६.१

मन्त्र का ऋषि ऋभु-पुत्र सूनु है। सायण लिखते हैं कि यद्यपि वह एक है तो भी पूजार्थ 'सूनवः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग है। ऐतिहासिक पक्ष में सायण ने यह मन्त्रार्थ दिया है—"उन ऋभुओं के पुत्र सूनु विशाल संग्राम में जाते हैं, जो ऋभु विश्व के धारक होकर उस भूमि पर फैले हुए थे, जो भूमि गौ माता के समान है।" फिर वे ऋभुओं को सूर्यकिरणवाची मान कर मन्त्र की दूसरी व्याख्या देते हैं—"उरु भासमान सूर्य-रश्मियाँ सब रसों को पीती हुई अथवा वृष्ट्यादि प्रदान द्वारा सबकी धारक होती हुई भूमि का भोग करती हैं, अर्थात् भूमिष्ठ रस का पान करती हैं, जैसे बछड़ा अपनी माता गाय का स्तन्यपान करता है[१११]। 'ऋभवः' का सूर्यरश्मि अर्थ सायण ने निरुक्त से ही लिया है। वहाँ यह मन्त्र तो व्याख्यात नहीं हुआ है, किन्तु ऋभवः का अर्थ सूर्यरश्मि होता है, इसके प्रमाणस्वरूप अन्य मन्त्र दिया है[११२]।

इसी प्रकार निम्नलिखित मन्त्र में भी सायण ने प्रथम इतिहास-परक अर्थ, फिर विकल्प रूप में नैरुक्त अर्थ दिया है, यद्यपि नैरुक्त

१११. सूनवः एतत्संज्ञाः ऋभूणाम्, ऋभुर्विभ्वा वाज इति त्रयाणामपि प्रथमेन निर्देशः, तेषां पुत्राः....यद्वा सूर्यरश्मयोऽपि ऋभव उच्यन्ते। य उरु भासमानाः सूर्यरश्मयो विश्वं सर्वं रसं धयन्तः पिबन्तः, यद्वा वृष्ट्यादिप्रदानेन सर्वस्य धारकाः एवंभूताः सन्तः क्षाम भूमिम् अश्नन् अभुञ्जत तदीयं सर्वं रसमपिबन्। सायण

११२. आदित्यरश्मयोऽप्यृभव उच्यन्ते—अगोह्यस्य यदसस्तना गृहे तदद्येदमृभवो नानु गच्छथ, (ऋग् १.१६१.१७)। निरु० ११.२

शब्द का उल्लेख नहीं है। नैरुक्त मत का उल्लेख न करना इस बात का द्योतक हैं कि सायण ने इसे आत्माभिमत अर्थ के रूप में ही वैकल्पिकरूप से प्रस्तुत किया है।

कुमारं माता युवतिः समुब्धं गुहा बिभर्ति न ददाति पित्रे।
अनीकमस्य न मिनज्जनासः पुरः पश्यन्ति निहितमरतौ॥

—ऋग् ५.२.१

व्याख्या में प्रारम्भ में सायण ने शाट्यायनब्राह्मणोक्त तथा ताण्डकोक्त इतिहास दिया है। प्रथम के अनुसार त्रिवृष्ण के पुत्र इक्ष्वाकुवंशी त्र्यरुण राजा का पुरोहित था जन-पुत्र वृश ऋषि। पुरोहित वृश ने राजा के रथ के घोड़ों की रास अपने हाथों में पकड़ी हुई थी। तभी मार्ग में खेलता हुआ एक कुमार रथ चक्र से कुचला जाकर मर गया। पुरोहित और राजा दोनों एक-दूसरे पर आरोप लगाने लगे कि कुमार के घातक तुम हो। अन्त में इक्ष्वाकुओं ने निर्णय दिया कि रथस्वामी नहीं, किन्तु रथचालक ही घातक माना जायेगा। तब वृश ने वार्श साम के द्वारा उस कुमार को जीवित कर दिया। किन्तु क्योंकि इक्ष्वाकुओं ने अन्याय से रथ-स्वामी के स्थान पर रथ-चालक को दोषी ठहराया था, अतः उनके घरों से अग्नि का तेज निकल गया तथा घरों से पाकादि क्रियाएँ सब अवरुद्ध हो गयीं। तब उन्होंने पुरोहित वृश का आदर किया। पुरोहित के प्रयत्न से अग्नि में पुनः तेज आ गया। द्वितीय इतिहास के अनुसार वृश त्रसदस्यु राजा का पुरोहित था। राजा ही स्वयं रथ दौड़ा रहा था। तभी अचानक रथ-चक्र से ब्राह्मणकुमार कट गया। राजा ने पुरोहित से कहा कि तुम्हारे पुरोहित होते हुए मुझे हत्या का दोष लग रहा है। तब उसने वार्श साम के द्वारा कुमार को जीवित कर दिया। इतनी भूमिका देने के पश्चात् सायण मन्त्र का इतिहासपरक अर्थ करते हैं—"जन्मदात्री युवति माता रथ-चक्र से कटे हुए (समुब्धं) कुमार को गुहा में छिपा कर रखे हुए है, उसके पिता को नहीं दे रही। अतः लोग कुमार के हिंसित रूप को नहीं देख पा रहे हैं। वे अरमणीय प्रदेश में निहित उसको पुरः प्रदेश में रखा हुआ ही समझ रहे हैं।" सायण कहते हैं कि या तो वृश पुरोहित से पुनरुज्जीवित कुमार ही अपने विषय में यह कह रहा है, अथवा उसे जिलाने के बाद पुरोहित कह रहा है। फिर सायण

लिखते हैं कि अथवा क्योंकि सूक्त का देवता अग्नि है, अतः यहां अग्नि को ही कुमार कहा गया है। उसकी माता अरणि है। वह उसे गुहा में छिपा कर रखे हुए है, पिता यजमान को नहीं देती। अतः उसके दाहक तेज को लोग नहीं देख पा रहे हैं, उसे अरणि के अन्दर ही निहित देख रहे हैं[११३]। इसी सूक्त के द्वितीय मन्त्र में फिर सायण ने कुमार को अग्निपरक लिया है[११४], तथा राजकुमारपरक व्याख्या भी दी है। यहीं यह भी सूचना दे दी है कि इसी प्रकार शेष मन्त्र भी दोनों शैलियों से व्याख्यात किये जा सकते हैं।

क्वचित् सायण ने ऐसा भी किया है कि किसी मन्त्र को एक स्थान पर तो ऐतिहासिक प्रक्रिया से व्याख्यात किया है, किन्तु उसी मन्त्र को अन्यत्र किसी दूसरी प्रक्रिया से। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र को ले सकते हैं—

तिस्रः क्षपस्त्रिरहातिव्रजद्भिर्नासत्या भुज्युमूहथुः पतङ्गैः।
समुद्रस्य धन्वन्नार्द्रस्य पारे त्रिभी रथैः शतपद्भिः षडश्वैः॥

—ऋग् १.११६.४

अपने ऋग्भाष्य में सायण इसकी यह व्याख्या करते हैं—"तृग्र नामक राजर्षि का पुत्र भुज्यु नाम का कोई ऐतिहासिक व्यक्ति था। उसके पिता ने उसे सेनासहित द्वीपान्तर्वर्ती शत्रुओं को जीतने के लिए नौका से समुद्र पार भेजा। किन्तु समुद्र के मध्य में ही नौका टूट गई। तब भुज्यु ने अश्विनौ की स्तुति की। अश्विनौ ने आकर उसे अपनी नौकाओं पर चढ़ा कर तीन अहोरात्रों में उसे उसके पिता के पास पहुँचा दिया।" किन्तु यही मन्त्र कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यक

---

११३. अथवा सूक्तस्य आग्नेयत्वात् कुमार इत्यग्निरुच्यते। तं माता अरणिर्युवतिर्मिश्रयन्ती समुब्धं निगूढं गुहायां बिभर्ति पित्रे उत्पादकाय यजमानाय न ददाति। अस्याग्नेःमिनत् हिंसत् दाहकम् अनीकं तेजो जना न पश्यन्ति। किन्तु अरतौ अरण्यां हितं पश्यन्ति। सायण

११४. कमेतं त्वं युवते कुमारं पेषी बिभर्षि महिषी जजान। अत्राग्नेरुत्पाद्यमानत्वात् कुमारशब्देन व्यवहारः। ...राजकुमारपक्षे हे युवते भूदेवि कमेतं कुमारं पेषी सती बिभर्षि। अवशिष्टं कुमारजननपरतया योज्यम्। एवम् उत्तरत्रापि कुमाराग्निहरसोः परत्वेन यथोचितं व्याख्येयम्।

(१.१०.३) में भी आया है। वहाँ सायण ने इसकी अधिदैवत व्याख्या की है। पतङ्ग का अर्थ किया है पक्षिवत् इतस्ततः संचारी मेघ और भुज्यु को जलसमूह के अर्थ में ग्रहण किया है। अश्वीदेव मेघों द्वारा जलसमूह रूप भुज्य को समुद्र पार निर्जल मरुदेश में पहुँचाते हैं—

"नासत्या असत्यरहितौ अश्विनौ देवौ, तिस्रः क्षपो रात्रित्रयं त्रिरहा अहस्त्रयं च नैरन्तर्येण अतिव्रजद्भिरतिशयेन गच्छद्भिः पतङ्गैः पक्षिसदृशैरितस्ततः संचारिभिर्मेघैर्भुज्युं पालकं जलसमूहम् ऊहथुर्युवां वहथः। कुत्र देश इति ? तदुच्यते, आर्द्रस्य जलपूर्णस्य समुद्रस्य पारे परभागे धन्वन् निर्जले मरुदेशे। कीदृशैर्मेघैः ? त्रिभिः तत्तद्देशमनुसृत्योत्तममध्यमाधमभावेन त्रिविधैः। रथैः रथसदृशैः, यथा रथा उपरि महान्तं भारं वहन्ति तथा बहुजलभारवाहिन इत्यर्थः। शतपद्भिः शतसंख्याकाः पदो जलधाराः पादसदृशा येषां तादृशैः अनन्तधारैरित्यर्थः, षडश्वैः षट्प्रकारव्याप्तियुक्तैः। उत्तमादीनां त्रयाणामागमनार्थास्तिस्रो व्याप्तयः पुनर्गमनार्थास्तिस्र इत्येवं षड्विधव्याप्तयः इति॥"

कहीं-कहीं किन्हीं शब्दों को सायण ने ऐतिहासिक नाम भी माना है, किन्तु साथ ही वैकल्पिक रूप में उनका यौगिक अर्थ देकर दूसरा नैरुक्त अर्थ भी किया है। यथा, ऋग् १.१७२.३ में 'तृणस्कन्द शब्द आया है, जिसे इस नाम वाले असुरविशेष रूप में भी लिया है तथा तृण के समान चंचल स्वभाव वाला' अथवा 'तृण के समान शुष्यमाण' यह यौगिक अर्थ भी किया है[११५]। ऋग् १.१७४.७ में प्रयुक्त दुर्योण को एक पक्ष में तो इस नाम वाला राजा कहा है, विकल्प रूप में दुःस्थान अर्थ भी दिया है[११६]। ऋग् २.१३.११ में जातूष्ठिर को प्रथम ऐतिहासिक नाम माना है, किन्तु वैकल्पिक रूप में 'सदा स्थिर' यह यौगिक अर्थ भी किया है[११७]। ऋग् ५.६१.६ में

---

११५. तृणस्कन्दस्य तृणवत् चलनस्वभावस्य शुष्यमाणस्य वा। यद्वा तृणलक्षणकालस्यासुरविशेषस्य वा।

११६. दुर्योणे दुष्टयोनौ स्थाने, एतन्नामकस्य राज्ञः प्रीत्यर्थं वा।

११७. जातूष्ठिरस्य एतन्नामकः कश्चित् तस्य, यद्वा जातु कदाचित् सर्वदा स्थिरस्य।

शशीयसी को प्रथम महिषी का नाम माना है, फिर वैकल्पिक रूप में इसका यौगिक अर्थ प्रशस्या किया है[११८]। ऋग् ७.१८.१८ में 'भेद' का प्रथम मर्यादा-भेदक नास्तिक अर्थ किया है, फिर 'भेद नाम का कोई राजा सुदास् का शत्रु' यह ऐतिहासिक अर्थ भी दिया है[११९]। ऋग् ८.१७.१३ में इन्द्र को "शृङ्गवृषो नपात्" कहा गया है, जिसकी व्याख्या करते हुए सायण कहते हैं कि शृंगवृष नाम का कोई ऋषि था, इन्द्र स्वयं उसके पुत्र रूप में उत्पन्न हुआ था, अतः इन्द्र शृंगवृष का पुत्र है। फिर यौगिक व्याख्या देते हैं कि शृंग का अर्थ है रश्मियाँ, रश्मियों द्वारा वर्षक होने से आदित्य शृंगवृष कहलाता है, उसका नपात् अर्थात् उसे न गिरने देने वाला इन्द्र है[१२०]। ऋग् ८.८७.३ में "प्रियमेधाः" का प्रथम 'प्रिय है यज्ञ जिन्हें ऐसे यजमान' यह यौगिक अर्थ देते हैं, फिर विकल्प उपस्थित करते हैं कि यह ऐतिहासिक ऋषि का नाम भी हो सकता है, बहुवचन पूजार्थ है[१२१]।

अन्य भाष्यकारों के भाष्यों में भी ऐसा विकल्प पाया जाता है। यथा "**न्यविध्यदिलीविशस्य दृळहा वि शृङ्गिणमभिनच्छुष्णमिन्द्रः**, ऋग् १.३३.१२" के भाष्य मे स्कन्द स्वामी प्रथम इलीविश का अर्थ मेघ और शुष्ण का अर्थ बलवान् करते हैं। वे लिखते हैं कि इडा निघण्टु (२.७) में अन्नवाची पठित है, बिस धातु भेदनार्थक या वृद्ध्यर्थक (निरु. २.२४), अथवा गत्यर्थक (निघ. २.१४) है। मेघ क्योंकि बीज रूप अन्न का भेदन करता है, उसे अंकुरित कर बढ़ाता है अथवा जल रूप में उसके पास पहुँचता है, अतः वह इलाबिस

---

११८. उत त्वा स्त्री शशीयसी पुंसो भवति वस्यसी। "शशीयसी इत्येतन्महिष्या नाम, सैव स्त्री। यद्वा उतेत्ययम् एवकारार्थे स्त्रीषु सैव प्रशस्येत्यर्थः", सायण।

११९. भेदस्य भिनत्ति मर्यादा इति भेदो नास्तिकः तस्य, यद्वा भेदो नाम सुदासः शत्रुः कश्चित् तस्य।

१२०. शृङ्गवृषा नाम कश्चिद् ऋषिः, तस्य चेन्द्रः स्वयमेव पुत्रतया जज्ञे इत्याख्यायिका। नपादित्यपत्यनाम। शृङ्ग्वृगषः पुत्रः। यद्वा शृणन्ति हिंसन्तीति शृङ्गाणि रश्मयः, तैः वर्षतीति शृङ्गवृड् आदित्यः, तस्य नपातयितः स्वकीये स्थानेऽवस्थापयितः।

१२१. प्रियमेधाः, मेधो यज्ञः, प्रियतमयज्ञा यजमानाः। यद्वा प्रियमेधाः, एतन्नामकः ऋषिः पूजायां बहुवचनम्।

हुआ। इलाबिस को ही इलीविश कह दिया गया है। शुष्ण बलवाची है (निघ. २.१), यहाँ अन्तर्णीतमत्वर्थ होकर बलवान् का वाचक होता है। फिर वे दूसरा विकल्प उपस्थित करते हैं कि शुष्ण असुर का नाम भी हो सकता है, और उसके साहचर्य से इलीविश भी कोई असुर ही होगा।[१२२] इसी प्रकार "**त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः**", ऋग् १.३१.१ में स्कन्द स्वामी ने प्रथम अङ्गिराः का यौगिक अर्थ दिया है—शरीर (अंग) की स्थिति के कारणभूत रस का कर्ता[१२३]। फिर यह विकल्प दिया है कि सर्वप्रथम जो अंगिरा नाम का ऋषि हुआ था, वह भी यहाँ अभिप्रेत हो सकता है[१२४]।

कहीं-कहीं ऐसा भी देखने में आता है कि एक भाष्यकार किसी नाम को ऐतिहासिक मानता है, तो दूसरा भाष्यकार उसे यौगिक या योगरूढ़ मान कर नैरुक्त शैली से व्याख्या करता है। यथा ऋग् २.१३.८ में आये पृक्ष और दासवेश को वेंकट ने ऋषि-विशेष माना है, किन्तु सायण पृक्ष का अर्थ अन्न-लाभ और दासवेश का अर्थ दस्युओं का विनाश लेते हैं। ऋग् २.११५.९ में रम्भी को वेंकट व्यक्तिवाचक नाम मानते हैं, किन्तु सायण इसका अर्थ वेत्रधारी करते हैं।

वेदों में ऐसे भी अनेक नाम हैं जो इतिहास में भी मिलते हैं, फिर भी किसी भाष्यकार ने वेदार्थ-व्याख्यान में उन्हें इतिहासपरक नहीं माना है। पर यदि कोई उनके आधार पर वेदों से इतिहास देखना चाहे तो बड़ी सरलता से वैसा कर सकता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित नाम द्रष्टव्य हैं—महावीर, दशरथ, वातापि, धनञ्जय, हिरण्यकशिपु, पाञ्चजन्य, अजातशत्रु, विभीषण, पराशर, गोविन्दु, सीता, राम, लक्ष्मण्य, अयोध्या, दशास्य, पुलस्ति[१२५]। इन सब स्थितियों को देखते

---

१२२. अथवा "शुष्णं पिप्रुं कुयवं वृत्रम्, ऋग् १.१०३.८" इत्यादिषु दर्शनात् शुष्णो नामासुरः। ...शुष्णसम्बन्धाच्च इलीविशोऽप्यसुर एव।

१२३. अङ्गिराः शरीरस्थितिहेतोः अशितपीतरसस्य कर्तेत्यर्थः। जाठरो ह्यग्निरन्नं रसीकरोति। रसो लोहिलमांसस्नाय्वस्थिमज्जाशुक्रभावेन परिणममानः शरीरस्थितिहेतुर्भवति।

१२४. अथवा योऽयं प्रथमोऽङ्गिरा नाम ऋषिः स त्वमेव त्वत्कारणत्वात्।

१२५. क्रमशः, ऋग् १.३२.६, १.१२६.४, १.१८७.८, ३.४२.६, अथर्व० ५.७.१०, ऋग् ५.३२.११, ५.३४.१, ५.३४.६, ७.१०४.२१, ९.९६.१९, ४.५७.६-७, १०.९३.१४, ५.३३.१०; अथर्व० १०.२.३१, ४.६.१; यजु० १६.४३।

हुए यह आसानी से समझा जा सकता है कि वेदों का ऐतिहासिक सम्प्रदाय अधिकतर कल्पनाप्रधान है।

आधुनिक युग में भारतीय ऐतिहासिक विद्वानों तथा मैक्समूलर, विल्सन, ग्रासमैन, ग्रिफिथ, मैक्डानल, कीथ आदि अन्यदेशीय वेदविचारकों ने वेदार्थ की ऐतिहासिक पद्धति का पर्याप्त पोषण, समर्थन और पल्लवन किया है तथा उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से वेदों का अध्ययन कर वेदों में वेदकालीन भारत के इतिहास, भूगोल आदि का पर्यवेक्षण किया है। उनके मतानुसार आर्य लोग भारत के मूल निवासी नहीं थे, वे बाहर से आये। यहाँ के मूल निवासी दस्यु लोग थे। आर्यों को अपना प्रभुत्व जमाने के लिए यहाँके निवासी दासों या दस्युओं से युद्ध करने पड़े, जिनका वर्णन ऋग्वेद में आता है। इन्हीं दस्युओं में यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु नामक जातियाँ भी थीं, जिनका उल्लेख वेदमन्त्रों में आता है[१२६]। ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुसार ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ८३ में एक विकट युद्ध का वर्णन है, जिसमें आर्य राजा सुदास् तथा उसकी प्रजा तृत्सु एक पक्ष में तथा दूसरे पक्ष में १० दस्यु राजा थे, जिनका अग्रणी दस्युराज बेद था। इस सूक्त में विजय दिलाने के लिये तृत्सुगण अपने देवता इन्द्र और वरुण का धन्यवाद कर रहे हैं। परन्तु नैरुक्त सम्प्रदाय के अनुसार युद्ध आदि के ये सब वैदिक वर्णन किसी इतिहास को नहीं बताते; अपितु ये देवासुरसंग्राम आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक आदि क्षेत्रों में सदा ही होते रहते हैं। वेद इन युद्ध-वर्णनों के द्वारा शिक्षा देना चाहता है कि मनुष्य को असुरों पर विजय पानी चाहिए। अन्य ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले वर्णनों के सम्बन्ध में भी यही बात है।

आधुनिक युग के प्रख्यात वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द ने वेदार्थ की ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रबल विरोध किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदसंज्ञाविचारप्रकरण में प्रतिपक्षी की "वेदों में भी जमदग्नि, कश्यप आदि ऐतिहासिक नाम आते हैं" इस शंका

---

१२६. द्रष्टव्यः ऋग् १.१०८.८।

This verse contains the name of the five well-known Aryan Tribes of families, said to be descendants of the five similarly named sons of yayati—Griffith.

का उत्तर देते हुए वे कहते हैं कि "**त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्,** यजुः ३.६२" इत्यादि मन्त्रों में जमदग्नि, कश्यप आदि देहधारी मनुष्य के नाम नहीं है, किन्तु जमदग्नि चक्षु को कहते हैं तथा कश्यप प्राण को कहते हैं[१२७]। अन्त में निष्कर्ष देते हुए लिखते हैं कि मन्त्रभाग में इतिहास का लेश भी नहीं है, अतः सायणाचार्य आदि ने अपने वेदमन्त्रों में जहाँ कहीं इतिहास का वर्णन किया है, वह भ्रममूलक ही है[१२८]।

स्वामी दयानन्द अपने वेदभाष्य में भी कहीं इतिहास-परक अर्थ नहीं करते हैं। ऋग् १.३१.११ में नहुष शब्द आया है, जिसे सायण ने नहुष नामक राजा के रूप में लिया है[१२९]। किन्तु स्वामी जी निघण्टु में मनुष्यवाची पठित होने से इसका अर्थ मनुष्य ही करते हैं, और सायण की आलोचना करते हुए लिखते हैं कि सायण ने जो नहुष को राजा का नाम माना है वह ठीक नहीं है, क्योंकि वेदों के सनातन होने से उनमें पश्चाद्वर्ती किसी नहुष की गाथा नहीं हो सकती[१३०]।

ऐतिहासिक प्रक्रिया का अर्थ करने पर अपने वेदभाष्य में अन्यत्र भी स्वामी जी सायण की आलोचना करते है। '**कक्षीवन्तं य औशिजः,** ऋग् १.१८.१' की व्याख्या में सायण ने उशिक् नामक माता का पुत्र कक्षीवान् ऋषि अर्थ किया है। स्वामी जी लुप्तोपमा मान कर औशिजः का अर्थ करते हैं "विद्याप्रकाश में प्रसिद्ध विद्वान् के पुत्र के समान—

---

१२७. नैवात्र जमदग्निकश्यपौ देहधारिणो मनुष्यनाम्नी स्तः। अत्र प्रमाणम्—चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत् पश्यत्यथो मनुते तस्माच्चक्षुर्जमदग्निर्ऋषिः। शत० ८.१.२.३, कश्यपो वै कूर्मः (प्राणो वे कूर्मः) शत० ७.५.१.५,७। ऋग् भा०भू० वेदसंज्ञाविचारप्रकरण।

१२८. अतो नात्र मन्त्रभागे हीतिहासलेशोऽप्यस्तीत्यवगन्तव्यम्। अतो यच्च सायणाचार्यादिभिर्वेदप्रकाशादिषु यत्रकुत्रेतिहासवर्णनं कृतं तद् भ्रममूलमस्तीति मन्तव्यम्। वही

१२९. नहुषस्य एतन्नामकराजविशेषस्य। सायण

१३०. नहुषस्य मनुष्यस्य। नहुष इति मनुष्यनामसु पठितम्, निघं० २.३, नहुषस्येत्यत्र सायणाचार्येण नहुषनामकराजविशषो गृहीतः, तदसत्। कस्यचिन्नहुषस्येदानींतनत्वाद् वेदानां सनातनत्वात् तस्य गाथाऽत्र न संभवति, निघण्टौ नहुषस्येति मनुष्यनाम्नः प्रसिद्धेश्च। दया०

औशिजः य उशिजि प्रकाशे जातः स उशिक् तस्य विद्यावतः पुत्र इव। कक्षीवान् का भी यौगिक अर्थ लेते हैं, हाथ की अंगुलियों की क्रियाओं में होने वाली शिल्पविद्या का प्रशस्त वेत्ता—**कक्षीवन्तं याः कक्षासु कराङ्गुलिक्रियासु भवाः शिल्पविद्यास्ता प्रशस्ता विद्यन्ते यस्य तम्।** स्वामी जी लिखते हैं कि सायण ने कल्पितपुराणेतिहास की भ्रान्ति से इस मन्त्र की अन्यथा ही व्याख्या की है[१३१]।" ऋग् १.३१.१७ के भाष्य में सायण ने 'ययातिवत्' का अर्थ 'ययाति नामक राजा के समान' किया है। स्वामी जी ययाति का अर्थ प्रयत्नवान् पुरुष करते हैं तथा यहाँ भी सायण की आलोचना करते हैं[१३२]। ऋग् १.३६.१८ के भाष्य में सायण ने तुर्वश, यदु, उग्रदेव, नववास्तु, बृहद्रथ और तुर्वीति को ऐतिहासिक राजर्षि-विशेष माना है। किन्तु स्वामी जी इनका यौगिक अर्थ करते हैं[१३३] तथा सायण के अर्थ को भ्रान्त बताते हैं[१३४]। मन्त्र तथा सायण और स्वामी दयानन्द के अर्थ इस प्रकार है—

अग्निना तुर्वशं यदुं परावत उग्रादेवं हवामहे।
अग्निर्नयन्नववास्त्वं बृहद्रथं तुर्वीतिं दस्यवे सहः॥

सायण—हम (अग्निना) अग्नि के साथ अवस्थित (तुर्वशं) तुर्वश नामक राजर्षि को, (यदुं) यदु नामक राजर्षि को और (उग्रदेवं) उग्रदेव नामक राजर्षि को (परावतः) दूर देश से हवामहे) बुलाते हैं। वह (दस्यवे) हमारे उपद्रव के कारणभूत चोर का (सहः) तिरस्कर्ता

---

१३१. इमं मन्त्रं सायणाचार्यः कल्पितपुराणेतिहासभ्रान्त्याऽन्यथैव व्याख्यातवान्।

१३२. इदं सायणाचार्येण भूतपूर्वस्य कस्यचिद् ययाते राज्ञः कथासम्बन्धे व्याख्यातं तदनजर्यम्।

१३३. तुर्वशं तुरा शीघ्रतया परपदार्थान् वष्टि काङ्क्षति सः। यदुम् इतरधनाय यततेऽसौ यदुर्मनुष्यस्तम्। उग्रादेवम् उग्रान् तीव्रस्वभावान् विजिगीषुम्। नववास्त्वम् नवानि नवीनानि अरण्ये निर्मितानि वास्तूनि गृहाणि येन तम्। बृहद्रथम् बृहन्तो रथा रमणसाधका यस्य तम्। तुर्वीतिम् तुर्वति हिनस्ति यस्तम्।

१३४. सायणाचार्येणायं मन्त्रोऽर्वाचीनपुराणाख्यमिथ्याग्रन्थरीतिमाश्रित्य भ्रान्त्याऽनर्थो व्याख्यातः।

(अग्निः) अग्नि (नववास्त्वं) नववास्तु नामक, (बृहद्रथं) बृहद्रथ नामक और (तुर्वीतिं) तुवीर्ति नामक राजर्षियों को (नयत्) यहाँ ले आये।

दयानन्द—हम लोग जिस (अग्निना) अग्नि के समान तेजस्वी सभाध्यक्ष राजा के साथ मिलके (उग्रादेवं) तेज स्वभाव वालों को जीतने की इच्छा करने वाले तथा (तुर्वशम्) शीघ्र ही दूसरे के पदार्थों को ग्रहण करने वाले (यदुम्) दूसरे का धन मारने के लिये यत्न करते हुए डाकू पुरुषों को (परावतः) दूसरे देश से (हवामहे) युद्ध के लिए बुलावें, वह (दस्यवे) अपने विशेष बल से दूसरे का पदार्थ हरने वाले डाकुओं का (सहः) तिरस्कर्ता (अग्निः) अग्रणी सभाध्यक्ष (नववास्त्वम्) एकान्त में नवीन घर बनाने वाले, (बृहद्रथम्) बड़े-बड़े रमण के साधन रथों वाले (तुर्वीतिम्) उन हिंसक दुष्ट पुरुषों को (नयत्) कैद में रखे।

इसी रीति से ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुसार जो वैदिक नाम किन्हीं राजाओं, ऋषियों, नगरों, नदियों आदि के व्यक्तिवाचक नाम माने जाते हैं, उन सबकी स्वामी दयानन्द अपने भाष्य में यौगिक या योगरूढ़ व्याख्या करते हैं[१३५]।

योगी श्री अरविन्द वेद के भारतीय इतिहासद्रष्टाओं तथा पाश्चात्त्य ऐतिहासिक वेद-विचारकों को एक ही तराजू पर रखते हैं और दोनों में केवल इतना ही अन्तर मानते हैं कि भारतीय इतिहासद्रष्टा वेदमन्त्रों पर विचित्र अप्राकृतिक घटनाओं से भरी कहानियाँ घड़ते थे, तो पाश्चात्त्य विद्वन्मण्डली संभव घटनाओं का वेदमन्त्रों में अवलोकन करती है। पर उनके मत से हैं दोनों ही वेद-रहस्य से कोसों दूर।

"कुमारं माता युवतिः समुब्धम्" आदि ऋग्, मण्डल ५, सूक्त २ पर, जिसके प्रथम मन्त्र की सायणकृत ऐतिहासिक तथा याज्ञिक व्याख्या अभी ऊपर दी जा चुकी है, ऐतिहासिक खिलवाड़ से विक्षुब्ध होकर महर्षि अरविन्द लिखते हैं—"ऐतिहासिकगण इस सूक्त के इस सरल अर्थ को नहीं समझ सके कि जब माता पेषी होती है तब

१३५. विभिन्न नामों की महर्षिकृत यौगिक व योगरुढ़ व्याख्या के लिए द्रष्टव्यः वेदिक कोष, राजवीर शास्त्री, आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, २ एफ कमलानगर, दिल्ली-७।

कुमार 'समुब्ध' होता है, माता की संपिष्ट अर्थात् संकुचित अवस्था में कुमार की भी निष्पिष्ट अर्थात् ढकी हुई अवस्था होती है। ऋषि की भाषा और विचार सम्बन्धी इस सामंजस्य को वे न तो देख सके और न हृदयंगम ही कर सके। उन्होंने 'पेषी' को पिशाची समझा, सोचा किसी पिशाचिनी ने अग्नि का तेज हरण किया है। 'महिषी' का अर्थ राजा की महिषी समझा, 'कुमारं समुब्धम्' से किसी ब्राह्मण कुमार को रथ के पहिये से निष्पेषित हो मरा हुआ समझा। इस अर्थ के सहारे एक अच्छी-खासी आख्यायिका की भी सृष्टि हो गई। फलतः सीधी ऋक् का अर्थ दुरूह बन गया। कुमार कौन है, जननी कौन है, पिशाचिनी कौन है, अग्नि की कहानी है या ब्राह्मण-कुमार की, कौन किसे किस विषय में कह रहा है, कुछ समझ में नहीं आता। सब घपला हो गया है। सर्वत्र ऐसा ही अत्याचार दिखाई देता है, अनुचित कल्पना के उपद्रव से वेद का प्रांजल और गम्भीर अर्थ विकृत और विकलांग हो गया है[१३६]।"

पाश्चात्त्य वेदविदों के सम्बन्ध में वे लिखते हैं—"वे कहते हैं कि पंचनदनिवासी आर्यजाति का युद्ध वास्तव में भारतवासी द्राविड़ जाति के साथ था और पड़ौसियों के बीच जैसे युद्ध विग्रह सदा होता रहता है वैसे आर्य-आर्य में आपसी कलह था। जिस तरह प्राचीन ऐतिहासिक वेद की अलग-अलग ऋचाओं अथवा सूक्तों को आधार बना नाना प्रकार का इतिहास तैयार करते थे, इनकी भी ठीक वही प्रणाली है। अतः विचित्र अतिप्राकृतिक घटनाओं से भरी विचित्र कहानी न घड़...ये आर्य तृत्सुराज सुदास के साथ मिश्रजातीय दस राजाओं के युद्ध, एक ओर वशिष्ठ और दूसरी ओर विश्वामित्र का पौरोहित्य, पर्वतगुहानिवासी द्राविड़ जाति द्वारा आर्यों के गोधन का हरण तथा नदी प्रवाह का बंधन, देवशुनी सरमा की उपमा के बहाने द्राविड़ों के निकट आर्यों के दूत या राजदूती का प्रेरण आदि सत्य या मिथ्या सम्भव घटनाओं को ले प्राचीन भारत का इतिहास लिखने की चेष्टा करते हैं। इस प्राकृतिक क्रीड़ा के परस्परविरोधी रूपक में और इस इतिहाससम्बन्धी रूपक में मेल बैठाने की चेष्टा करते हुए पाश्चात्त्य पंडितमण्डली ने वेद के विषय में जो गोलमाल किया है, वह वर्णनातीत

१३६. द्रष्टव्यः श्री अरविन्दः **वेदरहस्य**, उत्तरार्ध, पृ० २९५-९६।

है।''

१०. आख्यान-प्रक्रिया—

निरुक्त में कुछ स्थल ऐसे हैं जहाँ यास्क ने 'इतिहास' या 'ऐतिहासिक' शब्द न रखते हुए 'आख्यान' शब्द का प्रयोग किया है। आख्यान से कथानक अभिप्रेत है। आख्यान और इतिहास में अन्तर यह है कि इतिहास में तो सचमुच घटना घटित हुई होती है, किन्तु आख्यान काल्पनिक होता है। किसी विषय को रोचकरूप में उपस्थित करने के लिए आख्यान रच लिये जाते हैं। निरुक्त के कतिपय ऐसे स्थल निम्नलिखित हैं—

१. वृक शब्द का एक अर्थ आदित्य भी होता है, यह बताते हुए प्रमाणस्वरूप यास्क ने निम्न मन्त्रांश उद्धृत किया है—

अजोहवीदश्विना वर्तिका वा—
मास्नो यत् सीममुञ्चतं वृकस्य॥ —ऋग् ५.१७७.१६

अर्थात् ''हे अश्वी देवो, तुम्हें वर्तिका ने पुकारा था और तुमने आकर आदित्यरूप वृक के मुख से उसे छुड़ा दिया था।'' इस मन्त्र पर यास्क लिखते हैं—''**आह्वयदुषा अश्विनावादित्येनाभिग्रस्ता तामश्विनौ प्रमुमुचतुरित्याख्यानम्** निरु० ५.२१''। अभिप्राय यह है कि वर्तिका यहाँ उषा है, उषा को आदित्य ने ग्रस लिया तथा अश्वो देवों ने आकर उसे आदित्य के मुख से छुड़ा दिया।

इसे यास्क ने आख्यान कहा है। उषःकाल में आगे-आगे उषा होती है, उसके पीछे आदित्य। मानो आदित्य अपने मुख में उषा को दबोचे हुए आता है, अश्विनौ उसे आदित्य के मुख से छुड़ा देते हैं तथा वह छूट कर भाग जाती है। इसलिए जब सूर्यमण्डल उदित हो जाता है, तब वह दिखाई नहीं देती। इसी प्राकृतिक दृश्य को आख्यान नाम से कथानक के रूप में उपस्थित किया गया है।

२. मध्यमस्थानीय देवताओं में 'सरमा' के प्रसंग में ''**किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड्** ऋग् १०.१०८.१'' आदि मन्त्र की व्याख्या कर अन्त में उसके विषय में यह परिचय दिया गया है कि 'इन्द्र से भेजी गई देवशुनी ने पणि नामक असुरों से संवाद किया था' ऐसा आख्यान है—**देवशुनीन्द्रेण प्रहिता पणिभिरसुरैः समूद इत्याख्यानम्** निरु. ११.२५। इन्द्र की गौओं को पणि चुरा कर ले गये, तब इन्द्र ने उनका

पता लगाने के लिए देवशुनी सरमा को दूती बना कर भेजा। उस समय सरमा और पणियों का संवाद हुआ। यह एक वैदिक आख्यान है, जिसकी व्याख्या विभिन्न पक्षों में भिन्न-भिन्न हो सकती है[१३८]।

३. यमी की व्याख्या के प्रसंग में ऋग्वेद के यम-यमी-सूक्त के "**अन्यमु षु त्वं यमि** १०.१०.१४" आदि मन्त्र की व्याख्या में निरुक्तकार लिखते हैं कि यमी ने यम की चाहना की थी, उसको यम ने प्रत्याख्यान कर दिया ऐसा आख्यान है—"**यमी यमं चकमे तां प्रत्याचचक्षेत्याख्यानम्।** निरु० ११.३४"। शिक्षा देने के लिए यम-यमी संवाद का एक आख्यान रचा गया है। सचमुच कोई ऐतिहासिक यम-यमी हुए थे, ऐसा अभिप्राय नहीं है। इस कथानक की भी व्याख्या अध्यात्म, अधिदैवत आदि क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न हो सकती है।[१३९]

अभी हम कह आये हैं कि इतिहास वस्तुतः घटित होता है तथा आख्यान काल्पनिक होता है। परन्तु निरुक्तकार जहाँ "**तत्रेतिहा-समाचक्षते**" कह कर कोई वृत्त प्रस्तुत करतेहैं, वहाँ इतिहास शब्द भी आख्यान का ही द्योतक होता है। ऐसे प्रसंग निम्नलिखित हैं—

१. अन्तरिक्षवाची नामों में पठित समुद्र शब्द की व्याख्या के प्रसंग में समुद्र शब्द वेद में अन्तरिक्ष तथा पार्थिव समुद्र दोनों के लिए प्रयुक्त हुआ है, इसके प्रमाणस्वरूप वृष्टिसूक्त का मन्त्र उद्धृत करने से पूर्व निरुक्तकार उसका इतिहास देते हैं—देवापि आर्ष्टिषेण और शंतनु दो कुरुवंशी भाई थे। शतनु ने छोटा होते हुए भी अपना राज्याभिषेक करा लिया, इस पर बड़ा भाई देवापि तप करने चला गया। तब शन्तनु के राज्य में १२ वर्ष वर्षा नहीं हुई। ब्राह्मणों ने उसे कहा कि तूने अधर्म किया है, बड़े भाई की उपेक्षा करके तू स्वयं राजा बन गया है, इस कारण तेरे राज्य में वर्षा नहीं हो रही है। तब शन्तनु ने देवापि से ही राज्य संभालने की प्रार्थना की। देवापि ने उसे

---

१३७. वही, पृ० २९८-९९।

१३८. द्रष्टव्यः लेखक का शोध-प्रबन्ध "वेदों की वर्णन-शैलियां" द्वितीय संस्करण, श्री घूड़मल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट, हिण्डौन सिटी, २००४, पृ० २००-२१०।

१३९. द्रष्टव्यः वही, पृ० १६५-१७२।

कहा कि मैं तेरा पुरोहित हो जाता हूँ और वृष्टियज्ञ करवाता हूँ। इसी इतिहास पर वर्षकामसूक्त[१४०] है। आगे निरुक्तकार ने वर्षकाम सूक्त के दो मन्त्र दिये हैं, जिनमें से एक यह है—

आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन् देवापिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद् वर्ष्या अभि॥

—ऋग् १०.९८.५

अर्थात् आर्ष्टिषेण देवापि ऋषि यज्ञ में बैठा जो कि देव की सुमति को प्राप्त करना जानता था। उसने उतर समुद्र अन्तरिक्ष से दिव्य जलों को वर्षोन्मुख कर दिया।

२. नदीवाची नामों के प्रसंग में नदी शब्द का निर्वचन कर निरुक्तकार लिखते हैं कि नदियों की नैघण्टुक देवता के रूप में चर्चा तो बहुल रूप से आई है, किन्तु प्रधान देवता के रूप में बहुत कम है। प्रधान देवता के रूप में विश्वामित्र-नदी-संवाद (ऋग् ३.३३) को उद्धृत करने से पूर्व वे उसका इतिहास देते हैं—विश्वामित्र ऋषि सुदास् पैजवन का पुरोहित था। वह धन लेकर विपाट् और शुतुद्रि के संगम पर आया। उसके अन्य साथी भी उसके पीछे-पीछे आये। विश्वामित्र नदियों की स्तुति करने लगा कि तुम उथली हो जाओ। आगे निरुक्तकार कहते हैं कि उस स्तुति में कहीं द्विवचन का प्रयोग है, कहीं बहुवचन का। विश्वामित्र ने "**रमध्वं मे वचसे सोम्याय** (ऋग् ३.३३.५)" आदि मन्त्र बोलकर नदियों से अपने प्रवाह को रोक लेने की प्रार्थना की। "**इन्द्रो अस्माँ अरदद् वज्रवाहुः**" ऋग् ३.३३.६ आदि मन्त्र से नदियों ने उत्तर दिया कि हमें तो इन्द्र ने आकाशवर्ती मेघ से नीचे गिराया है और सविता देव हमें प्रवाहित कर रहा है, हम उसी के शासन में बह रही हैं, आपके कहने से कैसे रुक जायें? इस प्रकार पहले तो नदियों ने रुकने से मना किया, किन्तु अन्त में वे मान गईं और "**आ ते कारो शृणवामा वचांसि,** ऋग् ३.३३.१०" द्वारा उन्होंने विश्वामित्र को पार हो जाने की अनुमति दे दी[१४१]।

३. वृषभ शब्द के निर्वचन के प्रसंग में '**इमं तं पश्य वृषभस्य**

१४०. निरु० २.१०। १४१. निरु० २.२४-२७।

युञ्जम्, ऋग् १०.१०२.९' मन्त्र की व्याख्या से पूर्व यह इतिहास दिखाया गया है कि मुद्गल भार्म्यश्व ऋषि ने वृषभ और द्रुघण को जोड़कर संग्राम में उपयोग करके युद्ध को जीत लिया, उसी को बताने वाली यह ऋचा है—

तत्रेतिहासमाचक्षते। मुद्गलो भार्म्यश्व ऋषि र्वृषभं च द्रुघणं च युक्त्वा संग्रामे व्यवहृत्याजिं जिगाय, तदभिवादिन्येषर्ग् भवति।

इमं तं पश्य वृषभस्य युञ्जं काष्ठाया मध्ये द्रुघणं शयानम्।
येन जिगाय शतवत् सहस्त्रं गवां मुद्गलः पृतनाज्येषु॥

—(ऋग् १०.१०२.९) निरु० ९.२३

तदनुसार ऋचा का अर्थ होगा "वृषभ के सहयोगी और युद्धभूमि के मध्य में शयन करते हुए द्रुघण को देखो, जिसके द्वारा मुद्गल ने संग्रामों में सैकड़ों-सहस्त्रों गौओं को जीत लिया।"

४. विश्वकर्मा की व्याख्या के प्रसंग में "**य इमा दिश्वा भुवनानि जुह्वद्,** ऋग् १०.८१.१" आदि ऋचा पर निम्न इतिहास दर्शाया है—विश्वकर्मा भौवन ने सर्वमेध में सब भूतों की आहुति दे दी, अन्त में अपनी भी आहुति दे दी, उसी का कथन करने वाली यह ऋचा है।

तत्रेतिहासमाचक्षते। विश्वकर्मा भौवनः सर्वमेधे सर्वाणि भूतानि जुहवाञ्चकार। स आत्मानमप्यन्ततो जुहवाञ्चकार। तदभिवादिन्येषर्ग् भवति, य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदिति॥

—निरु० १०.२६

५. सरण्यू के प्रकरण में यास्क ने "**अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः** ऋग् १०.१७.२" **तथा** "**त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति,** ऋग् १०.१७.१" मन्त्र उद्धृत किये हैं। इन पर निम्न इतिहास प्रदर्शित किया है—त्वष्टा की पुत्री सरण्यू ने विवस्वान् आदित्य से युगल मिथुनों को जना। वह सरण्यू अपनी सवर्णा किसी अन्य को अपने स्थान पर रख कर स्वयं अश्वा (घोड़ी) का रूप धारण कर भागी। तब विवस्वान् आदित्य ने भी अश्व (घोड़े) का रूप बना कर उसका पीछा किया, दोनों के संयोग से अश्विनौ उत्पन्न हुए। सवर्णा से मनु उत्पन्न हुआ[१४२]।

इन स्थलों में निरुक्तकार ने केवल इतिहास या आख्यान प्रदर्शित

१४२. निरु० १२.१०।

कर दिया है, उसकी स्वमतानुसार व्याख्या नहीं दी। तो भी नैरुक्त व्याख्या कल्पित कर लेनी चाहिए, जैसा कि निरुक्त के टीकाकार स्कन्द स्वामी और दुर्गाचार्य ने इस सम्बन्ध में प्रयास किया है। इन प्रकरणों की अध्यात्म, अधिदैवत आदि विभिन्न व्याख्याएँ की जा सकती हैं। विश्वकर्मा और सरण्यू के प्रसंग में तो स्वयं ही यास्क ने व्याख्या के संकेत कर "**विश्वकर्मा विमना आद् विहायाः** (ऋग् १०.८२.२)" आदि की व्याख्या अधिदैवत तथा अध्यात्मपरक की है, जिसमें अधिदैवत दृष्टि से विश्वकर्मा का अर्थ आदित्य तथा अध्यात्म दृष्टि से आत्मा किया है। अतः आगे प्रस्तुत मन्त्र "**विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः** ऋग् १०.८२.६" आदि का भी विश्वकर्मा सम्बन्धी जो इतिहास दिखाया है, उससे विश्वकर्मा नाम का कोई ऐतिहासिक व्यक्ति अभिप्रेत न होकर पूर्वोक्त आदित्य तथा आत्मा अर्थ ही अभिप्रेत होने चाहिएँ। सरण्यू विषयक स्थल में भी निरुक्तकार ने स्पष्ट ही ऐतिहासिकों के साथ अपना मतभेद प्रदर्शित कर दिया है, जबकि वे लिखते हैं कि सरण्यू जिन मिथुनों को छोड़ जाती है, वे यद्यपि ऐतिहासिकों के अनुसार यम और यमी हैं तथापि नैरुक्तों के मत में मध्यमस्थानीय देव तथा माध्यमिक वाणी हैं।

आख्यान वेदों में बड़ी संख्या में पाये जाते हैं। उनमें से कुछ का आख्यानात्मकरूप स्पष्ट है और कुछ संकेतरूप में हैं, जिन्हें ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, बृहद्देवता, पुराण आदि के साहित्यकारों ने आख्यान के रूप में विकसित कर लिया है। विशद आख्यान का रूप देते हुए स्वभावतः कुछ नवीन पात्रों की कल्पना भी कर ली गई है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद के वृष्टिकाम-सूक्त (ऋग् १०.९८) में आने वाले पात्र बृहस्पति, आर्ष्टिषेण, देवापि ऋषि तथा शन्तनु हैं। शन्तनु को वृष्टि की अभिलाषा है, जिसके लिए वृष्टियज्ञ का आयोजन होता है। देवापि पुरोहित बन कर होतृकर्म में नियुक्त होता है, बृहस्पति ब्रह्मा का कार्य करता है। देवापि वृष्टियज्ञ द्वारा अन्तरिक्ष-समुद्र से जलों को पार्थिव समुद्र की ओर लाने में सफल हो जाता है। इतना वृत्त स्वयं सूक्त में ही उपलब्ध हो जाता है। किन्तु देवापि और शन्तनु दोनों का बड़ा-छोटा भाई होना, बड़े भाई को अतिक्रमण कर छोटे का राजगद्दी ले लेना, बारह वर्ष राज्य में वर्षा न होना आदि वृत्त रोचकता की दृष्टि से कल्पित किया गया है। बृहद्देवताकार शौनक ने निरुक्त-प्रदर्शित इस आख्यान

में एक और बात जोड़ दी है कि देवापि त्वग्-दोष से पीड़ित था, अतः उसने स्वयं ही प्रजा को यह कहा था कि मैं राज्य के योग्य नहीं हूँ, शन्तनु को तुम राजा बना लो[१४३]। आज कोई व्यक्ति इस आख्यान में कोई अन्य पात्र या अन्य घटना भी जोड़ सकता है। पर उससे वैदिक सूक्त की व्याख्या में कोई अन्तर नहीं आयेगा, यदि हम वैदिक आख्यानों का रूपान्तर या विस्तार कैसे होता है, इसे हृदयंगम किये रहेंगे। प्रस्तुत सूक्त आख्यान की रोचक शैली से यही बताना चाहता है कि अनावृष्टि होने पर यज्ञ द्वारा वर्षा कराई जा सकती है।

ऋग् १.२४ में शुनः शेप के पाशबद्ध होने का वर्णन आता है। इस आधार को लेकर ऐतरेय ब्राह्मण में राजा हरिश्चन्द्र से सम्बद्ध एक विस्तृत शौनः शेप आख्यान रच लिया गया है[१४४]। सम्बद्ध वेदमन्त्र इस प्रकार हैं—

शुनः शेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः।
अवैनं राजा वरुणः ससृज्याद् विद्वाँ अदब्धो वि मुमोक्तु पाशान्॥
उदुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रथाय।
अथा वयमादित्य व्रते तवानागसो अदितये स्याम॥

—ऋग् १.२४.१३,१५

आख्यान के अनुसार शुनः शेप को बलि के लिए यज्ञिय यूप के साथ खड़ा करके नीचे, मध्य में और ऊपर तीन स्थानों से बाँध दिया गया है। ये ही उसके अधम, मध्यम और उत्तम पाश हैं। उनसे मुक्त होने के लिए वह आकुलता के साथ वरुण देव से प्रार्थना कर रहा है। आचार्य वररुचि आख्यान-पक्ष देकर उसकी व्याख्या इस रूप में करते हैं—

...एवम् आख्यानसमय इयं मन्त्रस्य योजना। अथवा कश्चिद् यजमानः उत्तमाधममध्यमैः पाशैर्बद्धो राजानं वरुणं प्रार्थयते। उत्तमम् उत्कृष्टं घोरं हे वरुण पाशं बन्धनहेतुभूतं पापं ब्रह्म-हत्यादिमहापातक-रूपम् अस्मत्तः उच्छ्रय अवनयेत्यर्थः। अधमम् अपि पापम् अभोज्यभोजनादिनिमित्तम् अपनय। मध्यमम् अपि

---

१४३. द्रष्टव्यः बृ० दे० ७.१५५ से ८.९ तक।

१४४. ऐ० ब्रा०, अध्याय ३३।

पापम् उपपातकादिरूपं नाशय[१४५]।

स्वामी दयानन्दने शुनःशेप का अर्थ विद्वान् पुरुष किया है तथा त्रिविध बन्धन दुःख के बन्धन हैं और वरुण ईश्वर है, ऐसी व्याख्या की है[१४६]।

य ईश्वराज्ञां यथावत् पालयन्ति ते पवित्रास्सन्तः सर्वेभ्यो दुःखबन्धनेभ्यः पृथग् भूत्वा नित्यं सुखं प्राप्नुवन्ति नेतर इति।

—भावार्थ, मन्त्र १५

इसी प्रकार विष्णु के सम्बन्ध में ऋग्वेद १.१५४ में इतना ही वर्णन मिलता है कि उसके तीन पगों में सब भुवन समा जाते हैं या वह तीन पदों से सुदीर्घ विस्तीर्ण लोक को माप लेता है। किन्तु महाभारत, पुराण आदि के कथाकारों ने इस आधार को लेकर बलि और वामन विष्णु की रोचक कथा रच ली है।

वेदार्थ की आख्यान-प्रक्रिया इस प्रकार वैदिक प्रकरणों की व्याख्या आख्यान रच कर करती है। उन आख्यानों को कभी-कभी सच्चा इतिहास भी समझ लिया जाता है, यद्यपि आख्यानकारों का वैसा अभिप्राय नहीं होता।

वेदार्थ का ऐतिहासिक सम्प्रदाय भी वेदवर्णित सभी वृत्तों को ऐतिहासिक घटना के रूप से नहीं लेता। कुछ को वह भी शिक्षोपयोगी कल्पित कथानक या आख्यान ही मानता है। परन्तु कभी-कभी सभी वृत्तों के लिए सामान्यरूप से इतिहास शब्द का प्रयोग कर दिया जाता है। ऐतिहासिक सम्प्रदाय में और जो उनसे असहमति रखते हैं उनमें अन्तर यह है कि ऐतिहासिक सम्प्रदाय तो कुछ वृत्तों को अनैतिहासिक आख्यान मानता हुआ भी अधिकतर वैदिक वृत्तों की इतिहासपरक व्याख्या करता है, किन्तु इतर सम्प्रदाय वाले किसी भी वृत्त को इतिहासपरक नहीं मानते, अपितु उन्हें आख्यानरूप में लेकर उनकी स्वरुचि के अनुकूल अधिदैवत, अध्यात्म आदि विविध दृष्टियों से व्याख्या करते हैं।

---

१४५. नि० स०, मन्त्र १३।

१४६. शुनः शेपः शुनो विज्ञानवत इव शेपो विद्यास्पर्शो यस्य सः। श्वा शुयायी शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः (निरु० ३.१८), शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः (निरु० ३.२१)। द० भा०, मन्त्र १२।

जहाँ तक वेदार्थ-प्रक्रिया का प्रश्न है, आख्यान-प्रक्रिया कोई स्वतन्त्र प्रक्रिया नहीं कहला सकती, अपितु वैदिक वर्णनों को रोचक रूप में प्रस्तुत करने की एक शैली-मात्र है। उन आख्यानों के रहस्य को खोलने के लिए तो हमें इतर प्रक्रियाओं का ही सहारा लेना पड़ता है।

११. अधिभूत प्रक्रिया—

अब तक जिन वेदार्थ-प्रक्रियाओं पर विचार किया गया है, उनका नाम यास्कीय निरुक्त में आया है। किन्तु अधिभूत प्रक्रिया का निरुक्त में नामतः उल्लेख नहीं मिलता। वेदार्थ की अधिभूत प्रक्रिया का अभिप्राय है वेदमन्त्रों की भूतों या प्राणियों परक अथवा समाजशास्त्रोपयोगी और राष्ट्रपरक व्याख्या करना। वेदों की रचना मानव के कल्याण के लिए हुई है और मानव एक सामाजिक प्राणी है। अतः मानवों से सम्बद्ध परिवार, शिक्षासंस्थान, समाज, राष्ट्र आदि के अभ्युदय के उपायों का वर्णन भी वेदों में होना स्वाभाविक है। वस्तुतः ही वेदों में शिक्षा, विवाह, पारिवारिक सांमनस्य, राजप्रजाधर्म, शत्रुविजय, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि का विस्तार से वर्णन मिलता है, जिसे यत्र-तत्र भाष्यकारों ने दर्शाया है। वेदमन्त्रों में इस प्रकार के विषयों को व्याख्यात करना वेदार्थ की अधिभूत प्रक्रिया के ही अन्तर्गत होगा। इस प्रक्रिया के अनुसार हम वैदिक इन्द्र, अग्नि आदि देवों को राजा, सेनापति, वैद्य, गृहपति, आचार्य आदि के रूप में व्याख्यात कर सकते हैं। परन्तु वेदार्थ की अधिभूत प्रक्रिया यद्यपि अंकुरित रूप में प्राचीन साहित्य में उपलब्ध हो जाती है, तथापि वहाँ इसका पल्लवन नहीं हो पाया है।

निरुक्त में यद्यपि इस प्रक्रिया का नामतः उल्लेख नहीं मिलता, तथापि कहीं-कहीं ऐसी व्याख्या दी गई है, जो इस प्रक्रिया के क्षेत्र में आती है। निरुक्त का दायभागप्रकरण (३.१.२-६) इसका उदाहरण है। यथा—

शासद् वह्नि‍र्दुहितुर्नप्त्यं गाद् विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।
पिता यत्र दुहितुः सेकमृञ्जन् सं शग्म्येन मनसा दधन्वे॥

—ऋग् ३.३१.१

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध को निरुक्तकार ने 'पुत्र के समान पुत्री भी

दायभाग की अधिकारिणी होती है', इस पक्ष के प्रमाणस्वरूप उद्धृत किया है, तथा निम्न व्याख्या की है—

प्रशास्ति वोढा सन्तानकर्मणे दुहितुः पुत्रभावम्...नप्तारम् उपागमद् दौहित्रं पौत्रमिति। विद्वान् प्रजननयज्ञस्य रेतसो वा अङ्गादङ्गात् सम्भूतस्य हृदयादधिजातस्य मातरि प्रत्यृतस्य विधानं पूजयन्। अविशेषण मिथुना पुत्रा दायादा इति।

अर्थात् विवाहित पुरुष सन्तानकर्म के लिए पुत्री को पुत्र-वत् घोषित कर देता है और इस प्रकार अपने दौहित्र को पौत्र मान लेता है। युक्ति वह यह देता है कि पुत्र हो या पुत्री, प्रजननयज्ञ दोनों के प्रति समान ही है। परन्तु अन्य पक्ष का यह कथन है कि मन्त्र के उत्तरार्थ को साथ देखने पर स्पष्ट हो जाता है कि यह विधान अभ्रातृका कन्या के सम्बन्ध में है, अर्थात् जिस कन्या के भाई न हो उसी कन्या को पुत्रवत् मानने का शास्त्रीय विधान है।

प्रस्तुत मन्त्र का देवता इन्द्र है। अतः वह्नि शब्द इन्द्र के लिए प्रयुक्त मानकर इसका अधिदैवत अर्थ भी किया जा सकता है। परन्तु यहाँ दायभाग-विचार में इस मन्त्र का अर्थ निरुक्तकार ने अधिभूत प्रक्रिया के अनुसार ही किया है।

शतपथ ब्राह्मण में उद्दालक आरुणि के एक प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य ने पाँच दृष्टियों (अधिदेवत, अधिलोक, अधिदेव, अधियज्ञ, अधिभूत) से दिया है, जिनमें एक दृष्टि अधिभूत भी है। परन्तु वहाँ केवल इतना ही वर्णन है—

यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्, सर्वेभ्योऽन्तरो, यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, यः सर्वाणि भूतान्यन्तरो यमयति स त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यु एवाधिभूतम्। —श० १४.६.७.२०

तथापि इससे इतना तो स्पष्ट है ही कि किसी वस्तु की अन्य दृष्टियों के साथ अधिभूत दृष्टि से भी व्याख्या करने की परम्परा शतपथ के काल में थी। 'भूतानि' से यहाँ प्राणिवर्ग ही अभिप्रेत है, यद्यपि भूत का अर्थ उत्पन्न समस्त जड़-चेतन पदार्थ भी होता है। यदि यहाँ 'भूतानि' से समस्त जड़-चेतन पदार्थ ग्राह्य होता तो अग्नि, वायु, आदित्य आदि देव, समस्त लोक, वेद आदि की पृथक् चर्चा अनावश्यक थी, क्योंकि उत्पन्न जड़-चेतन पदार्थों में वे भी आ जाते

हैं। विशेषतः इसी प्रमाण के आधार पर हमने प्राणिपरक प्रक्रिया को अधिभूत प्रक्रिया नाम दिया है। कुछ विद्वान् जिस प्रक्रिया के अनुसार वैदिक देवों के आग, विद्युत्, सूर्य, जल आदि अर्थ किये जाते हैं, उसे अधिभूत या आधिभौतिक प्रक्रिया कहते हैं। परन्तु इस प्रकार के भौतिक अर्थों को हमने अधिदैवत में समाविष्ट किया है। अतः प्रस्तुत अधिभूत प्रक्रिया में वे ही अर्थ आयेंगे, जो किन्हीं देहधारी प्राणियों, विशेषकर मनुष्यों तथा उनके परिवार, संघ, समाज, राष्ट्र आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

तैत्तिरीय आरण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषद् में 'अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः' इस प्रकरण में अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज्ञ तथा अध्यात्म पंचविध व्याख्या प्रस्तुत की गई है, जिसमें अधिविद्य तथा अधिप्रज व्याख्याएँ प्रस्तुत अधिभूत व्याख्या के ही अन्तर्गत होंगी—

आचार्यः पूर्वरूपम् अन्तेवासी उत्तररूपम्, विद्या सन्धिः, प्रवचनं सन्धानम्, इत्यधिविद्यम्।

अथाधिप्रजम्—माता पूर्वरूपं, पिता उत्तररूपं प्रजा सन्धिः प्रजननं सन्धानम्॥ —तै० आ० ७३, तै० उ०, शि० ३

वेदों की अधिभूत व्याख्या में वैदिक देवों का समाज में क्या स्वरूप है, यह निश्चित करना आवश्यक है। इसके लिए वेद प्रायः स्वयं ही अपना अन्तःसाक्ष्य प्रस्तुत कर देते हैं। उदाहरणार्थ **'अग्नि'** को वेद में राजा, नृपति, विश्पति, शत्रुसेनामोहक, पुरोहित, गृहपति, पिता, भिषक् आदि के रूप में स्मरण किया गया है। यथा—

(क) वैश्वानर त्वमस्मासु धेहि वसूनि राजन्त्स्पृहयाय्याणि।
—ऋग् ६.७.३

(ख) त्वं भगो नृपते वस्व ईशिषे। —ऋग् २.१६

(ग) विश्वासां त्वा विशां पतिं हवामहे। —ऋग् १.१२६.८

(घ) स सेनां मोहयतु परेषाम्। —ऋग् ३.१.१

(ङ) अग्निमीळे पुरोहितम्। —ऋग् १.१.१

(च) विश्वासां गृहपतिर्विशामसि त्वमग्ने मानुषीणाम्।
—ऋग ६.४८.८

(छ) अग्निं मन्ये पितरम्। —ऋग् १०.७.३

(ज) त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता। —अथर्व० ५.२९.१

इन्द्र को मनुष्यों का सम्राट्, राजाधिराज, स्वराज्य का आराधक, आर्य को भूमि प्रदान करने वाला, ज्येष्ठ शत्रुहन्ता आदि के रूप में चित्रित किया गया है—

(क) प्र सम्राजं चर्षणीनाम्। —ऋग् ८.१६.१

(ख) इन्द्रो जयाति न पराजयाता अधिराजो राजसु राजयातै। —अथर्व० ६.९८.१

(ग) अर्चन्ननु स्वराज्यम्। —ऋग् १.८०.१-१६

(घ) अहं भूमिमददामार्याय। —ऋग् ४.२६.२

(ङ) विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे। —ऋग् ८.७०.१

रुद्र को भिषग्राज, स्थिरधन्वा और तीव्रगामी बाण बाला सेनापति आदि कहा गया है—

(क) भिषक्तमं त्वा भिषजां श्रृणोमि। —ऋग् २.३३.४

(ख) इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः क्षिप्रेषवे देवाय स्वधाव्ने। —ऋग् ७.४६.१

मरुतों को ऐसे वीर सैनिक कहा गया है, जिनके पास रिपु-दल को परास्त करने के लिए सुदृढ़ हथियार हैं और जिनका सैन्य-बल प्रशंसा के योग्य है—

स्थिरा वः सन्त्वायुधा पराणुदे वीळू उत प्रतिष्कभे।
युष्माकमस्तु तविषी पनीयसी मा मर्त्यस्य मायिनः॥

—ऋग् १.३९.२

इस प्रकार के संकेतों को लेकर अधिभूत व्याख्या में वैदिक देवों का स्वरूप निर्णीत किया जा सकता है। सायण प्रभृति भाष्यकारों ने इस दिशा में प्रयास प्रायः नहीं किया है। तो भी कहीं-कहीं उन्होंने इसके संकेत दे दिये हैं। यथा अथर्व० ४.८.३ **"महत् तद् वृष्णो असुरस्य नामा विश्वरूपो अमृतानि तस्थौ"** में 'वृष्णो' के स्थान पर 'विष्णोः' पाठ मान कर सायण विष्णु का अर्थ "राजकीय तेज से

दश दिशाओं में व्याप्त राजा'' करते हैं[१४७]।

ब्राह्मणग्रन्थों में भी यज्ञविधियों की व्याख्या के प्रसंग में कहीं-कहीं वैदिक देवों का मानवीयरूप निर्धारित किया गया है। यथा—ब्राह्मण अग्नि है, पुरुष अग्नि है, यजमान अग्नि है, यजमान इन्द्र है, क्षत्रिय इन्द्र है, सेना ही इन्द्र की प्रिय जाया है, पुरोहित आदित्य है, ब्राह्मण आदित्य है, विद्वान् लोग ग्रावा हैं, क्षत्रिय राजा यम है, प्रजाएँ पितर हैं आदि।

अग्निर्वै ब्राह्मणः। —काठ० ६.६
पुरुष एवाग्निर्वैश्वानरः। —जै० ब्रा० १.४५
पुरुषो वाग्निः। —श० १४.९.१.१५
यजमानोऽग्निः। —श० ६.३.२१
इन्द्रो वै यजमानः। —श० २.१.२.११
क्षत्रं वा इन्द्रः। —श० ५.३.५.३३
सेना वा इन्द्रस्य प्रिया जाया। —ऐ०ब्रा० ३.२२
आदित्यो वाव पुरोहितः। —ऐ०ब्रा० ८.२७
एते खलु वादित्या यद् ब्राह्मणाः। —तै०ब्रा० १.९.८
विद्वांसो हि ग्रावाणः। —श० ३.९.३.४
क्षत्रं वै यमो विशः पितरः। —श० ७.१.१.४

इसी प्रकार मन्त्रों के प्राचीन विनियोगों के द्वारा भी क्वचित् वैदिक देवों का मानवीय रूप निर्णय करने में सहायता प्राप्त होती है। यथा, ऋग्वेदीय एवं अथर्ववेदीय सोम-सूर्या-सूक्तों के मन्त्रों का विवाह-विधियों में विनियोग होने से सोम वर है तथा सूर्या वधू है, यह निश्चित होता है। अतएव निम्नलिखित मन्त्रों के द्वारा वधू को रथ पर चढ़ाया जाता है[१४८]।

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम्॥
रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम्।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम्॥

—अथर्व० १४.१.६१, १४.२.३०

---

१४७. विष्णोः अभिषेकजनितराजतेजसा दशदिगन्तान् व्याप्नुवतः। सायण

१४८. सुकिंशुकं रुक्मप्रस्तरणमिति यानमारोहयति। कौ० सू० ७७.१

अथर्व २.१३.२ **"बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ"** इस मन्त्र से पुरोहित द्वारा राजा को वस्त्र[१४९] धारण कराया जाना इसका द्योतक है कि अधिभूत व्याख्या में यहाँ पुरोहित बृहस्पति है तथा राजा सोम है।

अधिभूत प्रक्रिया को पल्लवित, पुष्पित और फलित करने का श्रेय इस युग के मनीषी भाष्यकार स्वामी दयानन्द को है। यह प्रक्रिया उनकी व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्भूत हो जाती है। इस विषय में आगे स्वामी दयानन्द की भाष्य प्रक्रिया को देखते समय विचार किया जायेगा।

१२. अधिज्यौतिष प्रक्रिया—

षड् वेदांगों में ज्योतिष का भी परिगणन है। ज्योतिष को वेदांग मानने का प्रयोजन यज्ञकाल का ज्ञान बताया जाता है[१५०]। वस्तुतः ज्योतिष को वेदांग इस कारण माना जाना उचित है कि ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान से वेदों के अनेक स्थल, जो ज्योतिषपरक हैं, सुबोध हो जाते हैं। वेदों में ग्रह, नक्षत्र, धूमकेतु, उल्का आदि की चर्चा आती है। अहोरात्र, मास, ऋतु, अयन, संवत्सरचक्र आदि का भी वर्णन मिलता है। अनेक वैदिक पहेलियाँ ऐसी हैं, जिनकी ज्योतिषपरक व्याख्या बड़ी सुन्दर हो सकती है; परन्तु ज्योतिष से परिचित न होने के कारण प्रायः उनकी अन्य प्रकार की व्याख्या कर दी गई है। चन्द्रमा का पानी में तथा सुपर्ण का आकाश में दौड़ना और हिरण्यनेमियों का भी उनको न पा सकना, आकाश-स्थित पाँच बैल, वृक को मार्ग से हटाने वाले आकाशशायी सुपर्ण, प्रत्येक पथिक पर दृष्टि रखने वाला लाल भेड़िया[१५१], आकाश के रीछ[१५२], एक पैर से उड़ने वाला हंस[१५३], अग्नि में ऋषभ, उक्षा, वशा मेष की आहुति[१५४], अश्वमेध[१५५],

---

१४९. परिधत्तेति द्वाभ्यां राज्ञो वस्त्रमभिमन्त्र्य प्रयच्छेद्। —अ० प० ४.१.१

१५०. ज्योतिषस्य प्रयोजनं तस्मिन्नेव ग्रन्थेऽभिहितं "यज्ञकालार्थसिद्धये" (वेदाङ्गज्यो० ३) इति। ऋ०भा०भू०, सायण

१५१. क्रमशः ऋग् १.१०५-१, १०, ११, १८।

१५२. ऋग् १.२४.१०। १५३. अथर्व० ११.४.२१।

१५४. ऋग् १०.९१.१४, यजुः २०.७८। १५५. ऋग् १.१६२।

अजमेध[१५६], अगस्त्य-लोपामुद्रा, यम-यमी, सरमा-पणि आदि के संवाद[१५७]—इन तथा इस प्रकार के अन्य अनेक रहस्यमय वैदिक वर्णनों का समाधान खगोल-ज्योतिष के ज्ञान से हो सकता है। तिलक ने अपने 'ओरायन (मृगशीर्ष)' नामक ग्रन्थ में ऋग्वेद के इन्द्र-इन्द्राणी-वृषकपि-संवाद की व्याख्या ज्योतिष-परक ही की है[१५८]। खगोल-ज्योतिष के कई वैदिक देवों का भी अधिज्यौतिष स्वरूप निर्णीत किया जा सकता है, तथा सूर्य के वाचक समझे जाने वाले सविता, सूर्य, पूषा, विष्णु, यम आदि देव विभिन्न राशियों के सूर्य के रूप में तथा बृहस्पति, वेन, गन्धर्व आदि विभिन्न ग्रह-नक्षत्र-चन्द्र प्रभृति के रूप में व्याख्यात हो सकते हैं।

इस प्रकार वैदिक स्थलों की, जिनकी अधियज्ञ, अध्यात्म, अधिभूत आदि व्याख्याएँ भी हो सकती हैं, ज्योतिष-परक व्याख्यान करने वाली प्रक्रिया अधिज्यौतिष प्रक्रिया कहलाती है। तैत्तिरीय उपनिषद् में पाँच प्रक्रियाओं से संहिता की व्याख्या की गई है, जिनमें एक प्रक्रिया अधिज्यौतिष भी है—

अथातः संहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः।
पञ्चस्वधिकरणेषु। अधिलोकम् अधिज्यौतिषम्
अधिविद्यम् अधिप्रजम् अध्यात्मम्। ...अथाधिज्यौतिषम्।
अग्निः पूर्वरूपम् आदित्य उत्तररूपम्। आपः सन्धिः
वैद्युतः सन्धानम् इत्यधिज्यौतिषम् इति।

—तै० आ० ७.३, तै० उ० शि० ३

तथापि यह प्रक्रिया वेदार्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होते हुए भी स्वतन्त्र वेदार्थ-प्रक्रिया के रूप में आदृत नहीं हो सकती। अधिज्यौतिष व्याख्यान प्रकृतिपरक व्याख्यान ही हैं, अतः इस प्रक्रिया का अन्तर्भाव अधिदैवत प्रक्रिया में ही हो जाता है।

---

१५६. अथर्व० ४.१४

१५७. ऋग् १.१७९, १०.१०, १०.१०८

१५८. उपर्युक्त ज्योतिष-परक वर्णनों के लिए द्रष्टव्यः लेखक का शोध-प्रबन्ध "वेदों की वर्णन शैलियाँ" प्रहेलिकात्मक तथा संवादात्मक शैली के अध्याय।

१३. वैज्ञानिक प्रक्रिया

आधुनिक युग में वेदार्थ की एक वैज्ञानिक प्रक्रिया भी प्रचलित है, यद्यपि इस नाम से प्राचीनों ने कोई प्रक्रिया स्वीकार नहीं की है। हाँ, तैत्तिरीय आरण्यक एवं तैत्तिरीय उपनिषत् के ऊपर उल्लिखित प्रकरण में एक अधिविद्य व्याख्यान तो मिलता है। किन्तु वहाँ अधिविद्य से तात्पर्य विद्या का अध्ययन-अध्यापन है। प्रचलित वैज्ञानिक प्रक्रिया इससे भिन्न है। यों तो प्रत्येक विद्या ही विज्ञान है, जिसमें ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, आयुर्वेद, ज्योतिष, गणित, शिल्प आदि सभी विद्याएँ आ सकती हैं; परन्तु प्रमुख रूप से वैज्ञानिक प्रक्रिया में भौतिक विज्ञान, रसायनशास्त्र तथा शिल्प (Physics, Chemistry, and Craft) का ग्रहण किया जाना उचित है। वेदों में सब विद्याएँ बीज-रूप में विद्यमान हैं, ऐसी विद्वानों की मान्यता है[१५९]। तदनुसार वेदों में भौतिकी, रसायन तथा शिल्प का अध्ययन किया गया है। पं० गुरुदत्त विद्यार्थी ने निम्न मन्त्र में मित्र का अर्थ हाईड्रोजन गैस तथा वरुण का अर्थ आक्सीजन गैस लेकर इन दोनों के द्वारा जल (घृत) के निर्माण का वर्णन किया है—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता ॥ —ऋग् १.२.७

निम्न मन्त्र में जलनिर्माण की पद्धति का और भी स्पष्ट विवरण उपलब्ध होता है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त॥

—ऋग् ७.३३.११

वसिष्ठ जल का नाम है, वह मित्र और वरुण की सन्तान है तथा उर्वशी के मन से उत्पन्न होता है। जब वह बूंद रूप में क्षरित होता है, तब प्रयोग करने वाले रसायनशास्त्रवेत्ता (देवाः) उसे प्याले में ले

---

१५९. महत ऋग्वेदादेः शास्त्रस्यानेकविद्यास्थानोपबृंहितस्य प्रदीपवत् सर्वार्थावद्योतिनः। वे० सू० शांकरभाष्य, १.१.३, वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्न? अत्रोच्यते सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः। ऋ०भा०भू०, दया०, ब्रह्मविद्याविषय।

लेते हैं। यहाँ उक्त दोनों गैसों के बीच विद्युत् धारा (उर्वशी) गुजारने से जल की बूँद बन जाती है, यह रहस्य ज्ञात होता है[१६०]।

विज्ञान के अध्ययन तथा वैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा यह निश्चय करना होता है कि वैदिक देवों का विज्ञानसम्मत क्या स्वरूप स्वीकार किया जाये। यथा, उपर्युक्त मन्त्र में मित्र, वरुण तथा उर्वशी का स्वरूप-निर्धारण किया गया है। स्वामी दयानन्द ने अग्नि, वायु, जलवाष्प, विद्युत्, सूर्यकिरण आदि के प्रयोग से विभिन्न शस्त्रास्त्र एवं मनोवेगगामी जल, स्थल तथा आकाश में चलने वाले यानों आदि के निर्माण की प्रेरणा वेदमन्त्रों से ली है[१६१]।

परन्तु 'वेदों के वैज्ञानिक अर्थ सम्भव हैं, इससे विप्रतिपत्ति न रखते हुए भी उन वैज्ञानिक अर्थों के लिए वैज्ञानिक प्रक्रिया नाम से एक पृथक् प्रक्रिया मानने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती है। वैज्ञानिक अर्थ प्रकृतिपरक अर्थों से भिन्न न होने के कारण अधिदैवत प्रक्रिया में ही समाविष्ट हो सकते हैं।'

इनके अतिरिक्त अन्य कोई वेदार्थ-प्रक्रियाएँ अवशिष्ट नहीं रहती हैं। अधिराष्ट्र, अधिवेद, अधिलोक, अधिवर्ण, अधिभेषज, अधियुद्ध, अधिधर्म, अधिपशु, अधिस्थावर, अधिचेतन आदि शब्द किन्हीं प्रक्रियाओं के द्योतक नहीं, अपितु प्रतिपाद्य विषयों के द्योतक हैं, तथा इनसे सूचित वर्ण्य विषयों का अन्तर्भाव पूर्वोक्त इतर प्रक्रियाओं में हो जाता है।

उपसंहार—

यहाँ हमने विभिन्न प्रक्रियाओं का जो विवेचन किया है, उससे हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि स्वतन्त्र वेदार्थ-प्रक्रियाएँ केवल अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ, नैरुक्त, ऐतिहासिक तथा अधिभूत

---

१६०. वैदिक विज्ञान के अध्ययनार्थ द्रष्टव्यः Acharya V. N. Shastri : Sciences in the Vedas (Sarvadeshik Sabha), स्वामी ब्रह्ममुनिः वेदों में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियाँ।

१६१. द्रष्टव्यः कलाकौशल प्रकरण, ''महर्षि दयानन्द के शिक्षा. राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार'' प्रकाशन ब्यूरो, पंजाव विश्वविद्यालय, चण्डीगढ, १९८२।

प्रक्रियाएँ है। इनमें से भी नैरुक्त प्रक्रिया साध्यरूप न होकर इतर प्रक्रियाओं की साधनभूत है तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया का प्रत्याख्यान करती है। नैरुक्त प्रक्रिया के अतिरिक्त शेष प्रक्रियाओं का नामकरण विषय की दृष्टि से है, किन्तु नैरुक्त प्रक्रिया का नाम निर्वचन-सिद्धान्त की दृष्टि से रखा गया है। प्राचीनों की वेदार्थ-चिन्तना में अधिकतर अधिदैवत, अध्यात्म तथा अधियज्ञ प्रक्रियाओं का उपयोग हुआ है तथा इन्हें वे निरुक्तमूलक रखने का प्रयास करते रहे हैं।

स्वामी दयानन्द ने वैदिक विषयों को दो ही वर्गों में विभाजित किया है—पारमार्थिक विषय तथा व्यावहारिक विषय। इसके आधार पर केवल दो ही वेदार्थ प्रक्रियाएँ मानी जा सकती हैं—पारमार्थिक प्रक्रिया तथा व्यावहारिक प्रक्रिया। शेष सब क्रियाएँ इन्हीं में अन्तर्भूत हो सकती हैं। स्वामी-दयानन्द-सम्मत न वेदार्थ-प्रक्रियाओं पर तथा उनमें इतर प्रक्रियाओं के अन्तर्भाव आदि पर हम तृतीय अध्याय में विचार करेंगे।

पाश्चात्य विद्वानों की एक पृथक् वेदार्थ-प्रक्रिया कही जाती है। राथ का कथन है कि वास्तविक वेदार्थ तक पहुँचने के लिए ब्राह्मणग्रन्थ या सायण आदि के भाष्य बहुत कम सहायक होते हैं, हमें ग्रीक, अवेस्ता आदि के गाथाशास्त्र से वैदिक गाथाओं की तुलना करते हुए तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान के आधार पर वैदिक शब्दों की अवेस्तन, ग्रीक, लेटिन, गाथिक, लिथुआनियन, इंगलिश आदि भाषाओं के शब्दों से तुलना करते हुए वेदार्थ में स्वयं वेद की ही सहायता लेते हुए वेदव्याख्याएँ करनी चाहिएँ। परन्तु यह कोई स्वतन्त्र वेदार्थ-प्रक्रिया नहीं, अपितु उनकी दृष्टि से वेदार्थ करते हुए जिन सावधानियों को बरतने की आवश्यकता है, उनका लेखाजोखा मात्र है। इन सावधानियों को बरतने के पश्चात् वे जो अर्थ आविष्कृत करते हैं वह प्रायः ऐतिहासिक, अधिदैवत या याज्ञिक प्रक्रिया का ही होता है।

□□

अध्याय द्वितीय

वेदमन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या

वैदिक शब्दों की अनेकार्थक प्रवृत्ति

वैदिक भाषा की यह एक अनुपम विशेषता है कि उसके शब्दों को अर्थ की दृष्टि से विभिन्न क्षेत्रों में फैलाया जा सकता है। इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण यज्ञ शब्द है। यज्ञ केवल अग्नि में हव्य पदार्थों का होम करना ही नहीं है, अपितु ब्रह्मयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, कर्मयज्ञ, जीवनयज्ञ, सृष्टियज्ञ, संवत्सरयज्ञ, राष्ट्रयज्ञ, संग्रामयज्ञ आदि सभी यज्ञ हैं। अन्य उदाहरण गौ, रयि, द्रविण, रत्न, अहंस्, रपस्, दुरित, बर्हिष्, श्रवस्, वाज, भग, पथिन्, वृक, रक्षस्, पिशाच आदि शब्दों के लिये जा सकते हैं। वेद की गौएँ केवल गाय पशु ही नहीं हैं, अपितु भूमियाँ, सूर्यकिरणें, इन्द्रियाँ, ज्ञानरश्मियाँ, गो-दुग्ध की धारें, गोदुग्ध-जन्य पदार्थ नवनीत आदि, सूर्य-चन्द्र प्रभृति लोक-लोकान्तर, धनुष की प्रत्यंचाएँ, वाणियाँ, विद्युत्, अन्तरिक्ष, द्यौ, अन्न, इत्यादि अनेक पदार्थ गोशब्दवाच्य हैं। रयि, द्रविण, रत्न आदि शब्द वेद में केवल भौतिक धन-दौलत को ही सूचित नहीं करते, किन्तु इनसे हिरण्यादि धनों के साथ-साथ पुत्र, पौत्र, पशु, अन्न आदि के धन और अध्यात्म-सम्पत् के धन भी सूचित होते हैं। अंहस्, रपस्, दुरित आदि शब्दों से व्यक्तिगत, समाजगत, राष्ट्रगत सभी प्रकार के दोष गृहीत होते हैं, चाहे वे शारीरिक रोग हों, चाहे मानसिक पाप हों या अन्य किसी प्रकार की सामाजिक बुराइयाँ हों। बर्हिष् कुशा, कुशासन, अग्नि, यज्ञ, आकाश, जल, लोम, पशु, प्रजा, ओषधि, हृदय आदि अर्थों में आता है। श्रवस् अन्न, धन, जल, यश, स्तुति, वेद, आत्म-बल, मनोबल आदि का वाचक है। वाज शब्द अन्न, धन, बल, वेग, ज्ञान, युद्ध आदि अर्थों को देता है; अतएव वाजी का अर्थ लोकप्रचलित अश्व भी है, साथ ही बल-वेग-ज्ञान-उत्साह, आत्मशक्ति से युक्त मनुष्य एवं उसका आत्मा भी वाजी कहलाता है। भग के वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य, सौभाग्य, ऐश्वर्य, सूर्य, प्राण, आत्मा, परमात्मा आदि अर्थ होते हैं। मार्गवाची पथिन्, अध्वन् आदि शब्द जहाँ स्थूल रास्ता या सड़क

अर्थ को देते हैं, वहाँ साथ ही जीवन-पथ, अध्यात्म-पथ, कर्तव्य-पथ आदि के भी द्योतक हैं। वृक का अर्थ लौकिक संस्कृत में यद्यपि भेड़िया ही प्रचलित है, तथापि वैदिक संस्कृत में यह भेड़िया अर्थ के साथ सूर्य, सूर्य-किरण, चन्द्र, वज्र, हल, शस्त्रास्त्र, श्वान, विदारक शत्रु, आन्तरिक रिपुगण प्रभृति अर्थों को भी देता है। रक्षस्, पिशाच, राक्षस, यातुधान आदि शब्द रोगकृमि, व्याधि, हिंस्र पशु-पक्षी, मायावी हिंसक मनुष्य एवं हिंसक कामादि प्रवृत्तियों के वाचक होते हैं।

इसी कोटि में अकूपार, अर्क, पवित्र, निचुम्पुण, कृत्ति, पाथस्, रजस्, अज, महिष, पतंग, हरि, हंस, वृषभ आदि शब्द भी आते हैं। अकूपार शब्द कछुआ, समुद्र, आदित्य, राजा, आत्मा, आचार्य, परमेश्वर आदि अर्थों को सूचित करता है। अर्क शब्द आक का पौधा, अन्न, मन्त्र, राजा, आत्मा, प्राण, मन, आराध्य देव आदि अर्थों का वाचक है। पवित्र शब्द के कुश, वेद-मन्त्र, सूर्यरश्मि, जल, अग्नि, वायु, सोम, सोम-पात्र, सूर्य, इन्द्र राजा, इन्द्र परमेश्वर आदि अर्थ होते हैं. निचुम्पुण शब्द सोमरस, समुद्र, यज्ञ, गुरु, पति आदि अर्थों को देता है। कृत्ति शब्द यश, अन्न, कुथड़ी, चर्म, वज्र, छेदन-क्रिया, गृह, हल आदि का वाची है। पाथस् शब्द अन्तरिक्ष, उदक, अन्न, मार्ग, सोमरस, ब्रह्मानन्द आदि अर्थों को देता है। रजस् शब्द रात्रि, दिन, ज्योति, जल, लोक, रुधिर, रजोगुण, ऐश्वर्य, आनन्द आदि अर्थों का वाचक है। लोक में बकरा अर्थ में प्रसिद्ध अज शब्द वेद में बकरे के अतिरिक्त अग्नि, सूर्य, योद्धा, जीवात्मा, परमात्मा, प्रेरक आदि अर्थों में भी प्रयुक्त हुआ है। लोक में भैंसा अर्थ को देने वाला महिष शब्द वेद में महद्वाची होने से इन्द्र, अग्नि, सोम, सविता, सूर्य, मरुत् आदि देवों के विशेषणरूप में प्रयुक्त हुआ है तथा अग्नि, सूर्य, विद्युत्, वायु, मेघ, यज्ञ, यजमान, ऋत्विज् मनुष्य, प्राण, आत्मा, ब्रह्म आदि अर्थों को देता है। पतङ्ग शब्द पतिंगा, टिड्डी, पक्षी, अश्व, अग्निकण, मेघ, जल-स्थल-अन्तरिक्ष-यान, प्राण, जीवात्मा परमात्मा प्रभृति अर्थों का वाचक है। हरि शब्द से अश्व, सोम वनस्पति, ग्रावा (सिल-बट्टे), वज्र, सूर्य, सूर्य-किरण, अग्नि, चन्द्र, पर्जन्य, इन्द्रिय, मनुष्य, जीवात्मा, परमात्मा, प्राण, अहोरात्र, शुक्ल-कृष्ण पक्ष, द्यावापृथिवी, अंगुलियाँ, ऋत्विज्, आदि वाच्य हैं। हंस शब्द के हंस पक्षी, आदित्य, आदित्य-रश्मि, अश्व, वायु, प्राण, जीवात्मा, परमात्मा प्रभृति अर्थ

होते हैं।[१]

ये कतिपय ऐसे शब्द हैं, जिनके विविध अर्थ निघण्टु, निरुक्त एवं भाष्यकारों के वेदभाष्यों से प्रमाणित होते हैं। परन्तु वस्तुतः तो वेदों के प्रायः सभी शब्द अनेकार्थकता की पुट लिये हुए हैं। वेदमन्त्रों के प्रतिपाद्य विषय का संकेत करने वाले जो अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, प्रभृति देवता हैं, उनका भी कोई एक ही अर्थ नहीं है, अपितु वे विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अर्थों को देते हैं। इन कारणों से अधिकांश वेदमन्त्र वाच्यार्थों या व्यङ्ग्यार्थों के रूप में अनेकार्थक हो जाते हैं। अतः वेदव्याख्या में प्रवृत्त होने वाले प्राचीन, मध्यकालीन एवं नवीन युग के आचार्यों ने वेदमन्त्रों की, प्रथम अध्याय में जिन वेदार्थ-प्रक्रियाओं का परिचय दिया चुका है, तदनुसार एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्याएँ की हैं। इस अध्याय में उनका दिग्दर्शन किया जायेगा।

ब्राह्मणग्रन्थ और आरण्यक

ब्रह्माणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर यज्ञविधियों की व्याख्या करते हुए उनका सम्बन्ध अधिदैवत और अध्यात्म से दर्शाया गया है, इसके उदाहरण प्रथम अध्याय में दिये जा चुके हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में यद्यपि सामान्यतः किन्हीं सम्पूर्ण मन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्याएँ नहीं दी गई हैं, तो भी स्थान-स्थान पर अनेक सूत्र ऐसे दिये गये हैं, जिनसे किन्ही वैदिक शब्दों या मन्त्रों की विभिन्न प्रक्रियाओं में व्याख्या की दिशा में निर्देश प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ, शतपथ ब्राह्मण में विभिन्न प्रसंगों में अग्नि का स्वरूप बताते हुए आदित्य, पर्जन्य, संवत्सर, यजमान, प्राण, आत्मा, प्रजापति, ब्रह्म आदि को अग्नि कहा गया है[२], जिससे सूचित होता है कि अग्नि-देवताक मन्त्र की प्रसंगानुसार इन एकाधिक दृष्टियों से व्याख्या हो सकती है। इसी

---

१. अज, महिष, पतंग, हरि, हंस, वृषभ शब्दों के वैदिक अर्थों के लिए द्रष्टव्य, लेखक की पुस्तक : वैदिकशब्दार्थविचारः, प्रकाशन ब्यूरो पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ, १९८२।

२. असौ वा आदित्य एषोऽग्निः श० ६.३.१.२९, पर्जन्यो वा अग्निः १४.९.१.१३, संवत्सर एवाग्निः १०.४.५.२, यजमानोऽग्निः ६.३.२.२१, प्राणो वा अग्निः २.२.२.१५, आत्मैव अग्निः ६.७.१.२०, प्रजापतिरग्निः ६.२.१.२३, ब्रह्म ह्यग्निः १.५.१.११।

प्रकार अन्य वैदिक देवों का स्वरूप भी शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों में अनेकधा वर्णित हुआ है। अधिदैवत, अध्यात्म, अधियज्ञ आदि प्रक्रियाओं का विभिन्न स्थलों में उल्लेख भी हुआ है।

यही स्थिति आरण्यक ग्रन्थों को भी है। तैत्तिरीय आरण्यक में एक स्थान पर सात सूर्यों का वर्णन है, जो सातों एक आठवें महामेरुस्थित कश्यप नामक सूर्य से ज्योति प्राप्त करते हैं—

आरोगो भ्राजः पटरः पतङ्गः। स्वर्णरो ज्योतिषीमान् विभासः। ते अस्मै सर्वे दिवमातपन्ति। ऊर्जं दुहाना अनपस्फुरन्त इति॥ कश्यपोऽष्टमः स महामेरुं न जहाति। —तै० आ० १.७

ये सात सूर्य क्या है, इस विषय में वहाँ कई विकल्प दिये गये हैं। प्रथम पक्ष में सात वृत्तिभेदों से शरीर में रहने वाले प्राण ही सात सूर्य हैं। द्वितीय पक्ष में जीवन के निमित्तभूत महत्, अहंकार और पंचतन्मात्रा रूपी सात तत्त्व सात सूर्य हैं। तृतीय पक्ष के अनुसार चक्षु आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये सात सूर्य हैं। चतुर्थ पक्ष के अनुसार सप्त शीर्षण्य प्राण सात सूर्य हैं। पंचम पक्ष में सात ऋत्विज् सात सूर्य हैं।

प्राणो, जीवानि, इन्द्रियजीवानि। सप्त शीर्षण्याः प्राणाः। सूर्या इत्याचार्याः इति। ...सप्तर्त्विजः सूर्या इत्याचार्याः इति।

उपर्युक्त पक्षों में से प्रथम, तृतीय और चतुर्थ अध्यात्म प्रक्रिया की, द्वितीय अधिदैवत प्रक्रिया की तथा पंचम अधियज्ञ प्रक्रिया की व्याख्याएँ हैं।

माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण के भाष्यकार हरिस्वामी ने अपने प्रथम काण्ड के भाष्य के आरम्भ में लिखा है कि **इषे त्वा** (यजुः १.१) इत्यादि मन्त्र याज्ञिक प्रक्रियायों के आधार से अधियज्ञ-विषयक कहलाते हैं, उन्हीं का देवता-परक अर्थ करने पर वे आधिदैविक हो जाते हैं, ये ही आत्मा-परमात्मा अर्थ में आध्यात्मिक हो जाते हैं। परन्तु "**ईशावास्यमिदं सर्वम्** (यजुः ४०.१)" आदि मन्त्र केवल आध्यात्मिक ही हैं—

मन्त्रा आधियाज्ञिक इषे त्वादयः, त एव देवतापदत्वेनाधिदैविकाः, त एवात्मानमधिकृता आध्यात्मिकाः। ईशावास्याद-

यस्त्वाध्यात्मिका एव।[३]

निरुक्त

यास्कीय निरुक्त में कतिपय वेदमन्त्रों की दो या अधिक प्रक्रियाओं के अनुसार व्याख्या की गयी है। विशेषकर अधिदैवत और अध्यात्म व्याख्या तो कई स्थलों पर उपलब्ध होती है। निम्नस्थल द्रष्टव्य हैं।

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्राविवेश॥

—ऋग् १.१६४.२१

इसकी अधिदैवत व्याख्या आदित्यपरक तथा अध्यात्म व्याख्या आत्म-परक की गई है। जिस आदित्यमण्डल में विद्यमान किरणें जलरूपी अमृत के भाग को निरन्तर मानो ज्ञानपूर्वक तपा कर आकाश में ले जाती हैं, वह सब भूतों का रक्षक धीर आदित्य मुझ अपरिपक्व के अन्दर आकर प्रविष्ट हुआ है। यह अधिदैवत अर्थ है। आध्यात्मिक अर्थ यह है कि सुपर्ण (विषयों की ओर प्रवृत्त होने वाली) इन्द्रियाँ ज्ञानामृत के भाग को निर्निमेष होकर जिस आत्मा में पहुँचाती हैं, वह सब इन्द्रियों का रक्षक धीर आत्मा मुझ अपरिपक्व के अन्दर आकर प्रविष्ट हुआ है।

यत्र सुपर्णाः सुपतना आदित्य-रश्मयः। अमृतस्य भागम् उदकस्य। अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा, अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषां भूतानां गोपायितादित्यः। स मा धीरः पाकमत्रा विवेशेति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्व-प्रज्ञ आदित्यः। इत्युपनिषद्वर्णो भवति। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्। यत्र सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि। अमृतस्य भागं ज्ञानस्य। अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा। अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा। स मा धीरः पाकमत्राविवेशेति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञ आत्मा इत्यात्मगतिमाचष्टे।

—निरु० ३.१२

विश्वकर्मा विमना आद् विहाया धाता विधाता परमोत

३. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, दूसरा भाग : भगवद्दत्त, सत्यश्रवा, १९७६, पृ० १९ से गृहीत।

सन्दृक्। तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्र सप्तऋषीन् पर एकमाहुः ॥

—ऋग् १०.८२.२

यहाँ विश्वकर्मा को अधिदैवत दृष्टि से आदित्य तथा अध्यात्मदृष्टि से आत्मारूप में व्याख्यात किया गया है। विश्वकर्मा आदित्य मन को विभूतियुक्त करने वाला है, व्यापक है धारक है, विधारक है तथा भूतों का परम संदर्शक है। जो पुण्यकर्मा जन हैं, उनके इष्ट शरीर आनन्दरसों के साथ वहाँ विचरते हैं, जहाँ सात किरणों (ऋषियों) से परे एक आदित्य को बताते हैं। यह अधिदैवत व्याख्या है। अध्यात्मपरक व्याख्या यह है कि विश्वकर्मा आत्मा विभूतियुक्त मन वाला है, व्यापक शक्तिवाला है, धारक है, विधारक है तथा इन्द्रियों का परम संदर्शयिता है। पुण्यकर्मा जनों के इष्ट शरीर अन्न-रस के द्वारा आनन्दित रहते हैं तथा वे उसे प्राप्त करते हैं जो इन सात इन्द्रियों (ऋषियों) से परे एक आत्मा है।

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्द्रष्टा भूतानां, तेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वाद्भिः सह संमोदन्ते यत्रैतानि सप्त ऋषीणानि ज्योतींषि तेभ्यः पर आदित्यस्तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च विधाता च परमश्च सन्दर्शयितेन्द्रियाणामेषामिष्टानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, कान्तानि वा, क्रान्तानि वा, गतानि वा, मतानि वा, नतानि वान्नेन सह सम्मोदन्ते, यत्रेमानि सप्तऋषीणानि इन्द्रियाण्येभ्यः पर आत्मा तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे।

—निरु० १०.२५

सप्त ऋषियों का वर्णन करने वाले यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र की व्याख्या भी अधिदैवत और अध्यात्म दोनों प्रक्रियाओं में दर्शायी गई है—

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ ॥

—यजुः ३४.५५

आदित्य-शरीर में सप्तविध किरणरूपी सात ऋषि निहित हैं। वे

सातों किरणें संवत्सर की बिना प्रमाद के रक्षा करती रहती हैं। व्याप्तिशील वे सातों किरणें सूर्यास्त हो जाने पर अस्तमित आदित्य-लोक में चली जाती हैं। उस समय भी निद्रा को न प्राप्त होने वाले संवत्सरयज्ञ के संचालन में स्थित दो देव, वायु और आदित्य, जागते रहते हैं। यह अधिदैवत अर्थ है। अध्यात्म अर्थ यह है—शरीर में सात इन्द्रियरूपी ऋषि, मनः सहित ६ ज्ञानेन्द्रियाँ तथा सातवीं बुद्धि, निहित हैं। वे सातों शरीर की बिना प्रमाद के रक्षा करते रहते हैं। विषयों को प्राप्त करने वाली वे सात इन्द्रियाँ मनुष्य के सो जाने पर प्रसुप्त आत्मलोक में चली जाती हैं। किन्तु उस स्थिति में भी दो देव, प्राज्ञ आत्मा और तैजस आत्मा, जागते रहते हैं।

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे रश्मय आदित्ये। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादं संवत्सरमप्रमाद्यन्तः। सप्तापनास्त एव स्वपतो लोक-मस्तमितमादित्यं यन्त्यत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्यावित्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्, सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि, सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादं शरीरमप्रमाद्यन्ति। सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्त्यत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे।

—निरु० १२.३६

तिर्यग्बिल चमस का वर्णन करने वाले अथर्ववेद के इस मन्त्र की व्याख्या भी अधिदैवत और अध्यात्म दोनों दृष्टियों से की गई है—

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन् यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः॥

—अथर्व० १०.८.९

आदित्य रूपी एक पात्र है, जिसका बिल नीचे की ओर तथा पृष्ठ ऊपर की ओर है। इसके अन्दर विश्वरूप यश (प्रकाश) निहित है। इसके अन्दर सप्तविध रश्मिरूपी (सात ऋषि) आसीन हैं, जो इस महान् आदित्य के रक्षक हैं। यह अधिदैवत व्याख्या है। अध्यात्मपरक व्याख्या है, शरीर का गले से ऊपर का भाग ही एक पात्र है, जिसका मुख-छिद्र नीचे की ओर है तथा खोपड़ी ऊपर है। इसके अन्दर सात

इन्द्रियरूपी सात ऋषि अवस्थित हैं, जो महान् शिरःपात्र के रक्षक हैं।

तिर्यग्‌बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा, यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयो ये अस्य गोपा महतो बभूवुरित्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्—तिर्गग्‌बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्वबोधनो वा, यस्मिन् यशो निहितं सर्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि यान्यस्य गोप्तृणि महतो बभूवुरित्यात्मगतिमाचष्टे।

—निरु० १२.३६

ऋग्वेद के निम्न मन्त्र की व्याख्या निरुक्तपरिशिष्ट में अधिदैवत तथा अध्यात्म दोनों रूपों में मिलती है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद्विदुस्त इमे समासते॥

—ऋग् १.१६४.३९

इसका सामान्य अर्थ यह है कि—ऋचाएँ परम व्योम अक्षर का प्रतिपादन करती है, जिसमें सब देव निषण्ण हैं। जो उस अक्षर को नहीं जानता, वह ऋचा से क्या करेगा? जो उस अक्षर को जान लेते हैं, वे समासीन हो जाते हैं।

इस पर निरुक्तकार विचार करते हैं कि यह अक्षर कौन है? वे कहते हैं कि शाकपूणि आचार्य के मत में ओंकाररूपी वाक् अक्षर है, सब ऋचाएँ उसी में ओतप्रोत हैं; किन्तु शाकपूणि के पुत्र का मत है कि अक्षर से यहाँ आदित्य-पुरुष का ग्रहण होता है। ऋचाएँ आदित्यावयव हैं। सब आदित्यावयव आदित्यपुरुष के अधीन हैं। देव रश्मियाँ हैं, समस्त रश्मियाँ आदित्य-पुरुष के अधिष्ठातृत्व में ही निषण्ण हैं। ये दोनों अधिदैवत अर्थ है। अध्यात्म में शरीर ऋक् है, उसमें निवास करने वाला जो अविनाशी तत्त्व आत्मा है, वह अक्षर है, इन्द्रियाँ देव हैं, जो अक्षर आत्मा की ही अधीनता में स्थित हैं।

कतमत् तदेतदक्षरम्? ओमित्येषा बागिति शाकपूणिः। ऋचश्च ह्यक्षरे परमे व्यवने धीयन्ते नानादेवतेषु च मन्त्रेषु। "एतद्ध वा एतदक्षरं यत् सर्वां त्रयीं विद्यां प्रति प्रति" इति च ब्राह्मणम्

(कौ० ब्रा० ६.१२)।

आदित्य इति पुत्रः शाकपूणेः। एषर्ग् भवति यदेनमर्चन्ति। प्रत्यृचः सर्वाणि भूतानि। तस्य यदन्यन्मन्त्रेभ्यस्तदक्षरं भवति। रश्मयोऽत्र देवा उच्यन्ते, य एतस्मिन्नधिनिषण्णा इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—शरीरमत्र ऋगुच्यते, यदेनेनार्चन्ति प्रत्यृचः सर्वाणीन्द्रियाणि। तस्य यदविनाशि धर्म तदक्षरं भवति। इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते, यान्यस्मिन्नधिनिषण्णानि—इत्यात्मप्रवादाः।

—निरु० १३.११

ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में कहा है कि युद्ध में बहुतों का विधमन तथा दमन करने वाले एक युवक को पके बालों वाला बूढ़ा निगल जाता है—

विधुं दद्राणं समने बहूनां युवानं सन्तं पलितो जगार।
देवस्य पश्य काव्यं महित्वाऽद्या ममार स ह्यः समान॥

—ऋग् १०.५५.५

यहाँ निरुक्तकार ने अधिदैवत दृष्टि से चन्द्रमा को विधु तथा सूर्य को बूढ़ा व्याख्यात किया है, तथा अध्यात्म दृष्टि से शरीर को विधु और आत्मा को बूढ़ा माना है।

विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं चन्द्रमसं पलित आदित्यो गिरति सद्यो म्रियते स दिवा समुदितेत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्मम्—विधुं विधमनशीलं दद्राणं दमनशीलं युवानं महान्तं पलित आत्मा गिरति रात्रौ, म्रियते रात्रिः समुदितेत्यात्मगतिमाचष्टे।

—निरु० १४.१८

इसी प्रकार निम्नलिखित ऋचाओं की व्याख्या भी निरुक्तकार ने अधिदैवत और अध्यात्म दोनों प्रक्रियाओं से की है—

सोमः पवते जनिता मतीनाम् (ऋग् ९.९६.५), निरु० १४.११
ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनाम् (ऋग् ९.९६.६), निरु० १४.१३
तिस्रो वाच ईरयति (ऋग् ९.९७.३४), निरु० १४.१४
सोमं गावो धेनवो वावशाना (ऋग् ९.९७.३५), निरु० १४.१५
अक्रान्त्समुद्रः प्रथमे विधर्मन् (ऋग् ९.९७.४०), निरु० १४.१६
साकञ्जानां सप्तथमाहुरेकजम्
(ऋग् १.१६४.१५), निरु० १४.११

सप्तार्धगर्भा भुवनस्य रेतो (ऋग् १.१६४.३६) निरु० १४.२१

न विजानामि यदि वेदमस्मि (ऋग् १.१६४.३७), निरु० १४.२२

अपाङ् प्राङेति स्वधया गृभीतो

(ऋग् १.१६४.३८), निरु० १४.२३

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठम् (ऋग् १.१२०.१), निरु० १४.२४

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य

(ऋग् १.८४.१६), निरु० १४.२५

को अग्निमीट्टे हविषा घृतेन

(ऋग् १०.८४.१८), निरु० १४.२७

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद् (ऋग् ४.४०.५), निरु० १४.२९

इसके अतिरिक्त निरुक्त में निम्न मन्त्रों की अधियज्ञ एवं अधिदैवत व्याख्याएँ उपलब्ध होती हैं—

सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन॥

—ऋग् १०.८५.३

साधारण सोमपायी मनुष्य अविधिपूर्वक जिस सोम ओषधि को पीसते हैं, उसी को सोम मान बैठता है। किन्तु जिसे ब्रह्मा-जन सोम रूप में मानते हैं उसे कोई अयाज्ञिक नहीं खा-पी सकता। यह अधियज्ञ अर्थ है। अधिदैवत अर्थ यह है कि सोमपान करने वाला याज्ञिक यज्ञविधिपूर्वक जिस सोम ओषधि को पीसते हैं उसी को सोम मान बैठता है। किन्तु ब्रह्मज्ञानी जन जिस चन्द्रमा को सोम समझते हैं, उसे सूर्य से भिन्न अन्य कोई खा नहीं सकता।

सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति वृथासुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुरिति न तस्याश्नाति कश्चनायज्वा इत्यधियज्ञम्। अथाधिदैवतम्—सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिमिति यजुःसुतमसोममाह। सोमं यं ब्रह्माणो विदुश्चन्द्रमसं न तस्याश्नाति कश्चनादेव इति। —निरु० ११.३

यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः॥

—ऋग् १०.८५.५

हे सोम ओषधि, जब तुझे याज्ञिक जन पी लेते हैं, तब तू पुनः बढ़ जाता है। वायु सोम का रक्षक है, तू वर्षों का और मासों का निर्माता है। यह याज्ञिक अर्थ है। अधिदैवत अर्थ के अनुसार सोम चन्द्रमा है।

यत्वा देव प्रपिबन्ति तत आप्यायसे पुनरिति नाराशंसानभिप्रेत्य पूर्वपक्षापरपक्षाविति वा। वायुः सोमस्य रक्षिता, वायुमस्य रक्षितारमाह साहचर्याद् रसहरणाद्वा। समानां संवत्सराणां मास आकृतिः सोमो रूपविशेषैरोषधिश्चन्द्रमा वा। —निरु० ११.४

निम्नलिखित ऋचा की निरुक्तकार ने आर्ष, वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, अन्य (अधिभूत) तथा आत्मप्रवाद इन छह प्रक्रियाओं में व्याख्या की है। ब्राह्मणग्रन्थ का प्रमाण देकर सातवीं अधिलोक व्याख्या भी दी है।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।

गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥

—ऋग् १.१६४.४५

वाणी चार पदों में परिमित है। उन चार पदों को मनीषी ब्राह्मण जन जानते हैं। उन चार में से तीन पद गुहा में निहित हैं, जो अपने स्वरूप को प्रकट नहीं करते। वाणी के चतुर्थ पद को ही मनुष्य बोलते हैं।

ये वाणी के चार पद कौन से हैं, इस विषय में निरुक्तकार ने विभिन्न प्रक्रियाओं के अनुसार निम्न आशय बतलाया है—

वाणी के चार पद

प्रक्रिया	१	२	३	४
१. आर्ष	ओंकार	भूः	भुवः	स्वः
२. वैयाकरण	नाम	आख्यात	उपसर्ग	निपात
३. याज्ञिक	मन्त्रः	कल्पः	ब्राह्मणम्	व्यावहारिकी वाक्
४. नैरुक्त	ऋचः	यजूंषि	सामानि	व्यावहारिकी वाक्

५.	इतर (अधिभूत)	सर्पवाक्	पक्षिवाक्	क्षुद्रसरीसृप वाक्	व्यावहारिकी वाक्
६.	आत्मप्रवाद	पशुवाक्	तूणववाक्	मृगवाक्	आत्मवाक्
७.	अधिलोक	पृथिवी वाक्	अन्तरिक्ष वाक्	द्युवाक्	पशुवाक्

इन सब उदाहरणों से स्पष्ट है कि निरुक्तकार यास्क को वेदमन्त्रों की विभिन्न प्रक्रियाओं में व्याख्या करना अभिमत है। विशेषकर अध्यात्म-प्रक्रिया की ओर तो उन्होंने अत्यधिक रुचि प्रदर्शित की है। निरुक्त-परिशिष्ट[४], अध्याय १४ में वे कहते हैं कि अब हम महान् आत्मा के उन नामों का उल्लेख करेंगे जो किन्हीं भूतों (भौतिक पदार्थों) के भी वाचक हैं—अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्युत्क्रमिष्यामः। इसके उपरान्त उन्होंने निम्नलिखित ९० शब्दों तथा ४ प्रकरणों (वधकर्म, यद्वाहिष्ठया, अव्ययं च संस्कुरुते, यदेनं तन्वते) का परिगणन किया है—

हंसः। घर्मः। यज्ञः। वेनः। मेधः। कृमिः। भूमिः। विभुः। प्रभुः। शम्भुः। राभुः। वधकर्मा। सोमः। भूतम्। भुवनम्। भविष्यत्। आपः। महत्। व्योम। यशः। महः। स्वर्णीकम्। स्मृतीकम्। स्वृतीकम्। सतीकम्। सतीनम्। गहनम्। गभीरम्। गह्वरम्। कम्। अन्नम्। हविः। सद्म। सदनम्। ऋतम्। योनिः। ऋतस्य योनिः। सत्यम्। नीरम्। हविः। रयिः। सत्। पूर्णम्। सवम्। अक्षितम्। बर्हिः। नाम। सर्पिः। अपः। पवित्रम्। अमृतम्। इन्दुः। हेम। स्वः। सर्गाः। शम्बरम्। अम्बरम्। वियत्। व्योम। बर्हिः। धन्व। अन्तरिक्षम्। आकाशम्। आपः। पृथिवी। भूः। स्वयम्भूः। अध्वा। पुष्ककरम्। सगरः। तपः। तेजः। सिन्धुः। अर्णवः। नाभिः। ऊधः। वृक्षः। तत्। यत्। किम्। ब्रह्म। वरेण्यम्। हंसः। आत्मा। भवन्ति। वधन्ति। अध्वानम्। यद्वाहिष्ठ्या। शरीराणि। अव्ययं च संस्कुरुते। यज्ञः। आत्मा। भवति। यदेनं तन्वते। —निरु० १४.११

निघण्टु में इनमें से धर्मः से मेधः तक ४ नाम यज्ञवाची, भूतम् से

---

४. कुछ विद्वानों के मत में निरुक्त-परिशिष्ट (अध्याय १३, १४) यास्क की कृति नहीं है।

शम्बरम् तक ४२ नाम जलवाची और अम्बरम् से समुद्रः तक १५ नाम अन्तरिक्षवाची पठित हो चुके हैं। यहाँ निरुक्तकार यह दर्शाना चाहते हैं कि ये नाम भौतिक पदार्थों के साथ-साथ परमात्मा के भी वाचक हैं। एवं इनके परमात्मा-परक अर्थ लेने पर अनेक मन्त्रों के, जिनमें ये शब्द प्रयुक्त हुए हैं, सम्भव होने पर आध्यात्मिक व्याख्यान भी किये जा सकते हैं।

नैरुक्त आचार्य[५]

निरुक्त के टीकाकार दुर्गाचार्य और स्कन्द स्वामी तथा नैरुक्त सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक वररुचि भी एक वेदमन्त्र की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या का अनुमोदन करते हैं।

दुर्ग

दुर्ग ने अपने निरुक्त-भाष्य में कई स्थलों पर मन्त्रों के अध्यात्म, अधिदैव एवं अधियज्ञ अर्थों की चर्चा की है। प्रथम अध्याय में निरुक्ताध्ययन-प्रयोजन के प्रसंग में ''**अथापि ज्ञानप्रशंसा भवत्यज्ञाननिन्दा च**'' इसकी व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि निरुक्त से अध्यात्म, अधिदेव और अधियज्ञ अर्थों का अभिधान करने वाले मन्त्रों के अर्थ परिज्ञात होते हैं—

अतो ह्यध्यात्माधिदैवाधियज्ञाभिधायिनां
मन्त्राणामर्थाः परिज्ञायन्ते। —दुर्ग टी०, निरु० १.१७

उक्त प्रसंग में ही ''**अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्,** ऋग् १०.७१.५'' इस वेदमन्त्र की व्याख्या में दिये गये ''**अर्थं वाचः पुष्पफलमाह**'' इस निरुक्त-वाक्य की व्याख्या में लिखते हैं—

कः पुनरसावर्थ इति? याज्ञं दैवतम् अध्यात्मम् इत्येष वाचः समासतोऽर्थः। —वही

नैघण्टुक देवता किसे कहते हैं इस प्रसंग में निरुक्तकार ने नैघण्टुक देवता का स्वरूप बताने के लिए एक मन्त्रांश ''मृगो न भीमः कुचरो

---

५. इस प्रकरण के लिखने में पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत यजुर्वेदभाष्यविवरण की भूमिका से तथा उनकी ''निरुक्तकार और वेद में इतिहास'' पुस्तिका से सहायता मिली है।

गिरिष्ठाः, ऋग् १.१५४.२'' उद्धृत किया है तथा कुचरः पद का अर्थ मृग और विष्णु दोनों के पक्ष में पृथक्-पृथक् दिया है—**कुचर इति चरति कर्म कुत्सितम्, अथ चेद् देवताभिधानं क्वायं न चरतीति।** दुर्ग अपनी टीका में इस प्रसंग में लिखते हैं कि एक ही पद के इन विभिन्न अर्थों के करने से यह बात प्रदर्शित होती है कि वेद के शब्द विभिन्नार्थों के प्रकाशन में अनुपक्षीण शक्ति वाले तथा बड़े ही वैभव-सम्पन्न हैं, वे व्याख्याताओं की प्रज्ञा के अनुसार अर्थाभिधानों में विपरिणत होते हुए सर्वतोमुख होकर अनेक अर्थों को अभिहित करते हैं—

अनुपक्षीयमाणशक्तयो हि विभवो वेदशब्दा यथाप्रज्ञं पुरुषाणामर्थाभिधानेषु विपरिणममानाः सर्वतोमुखा अनेकानर्थान् ब्रुवन्तीत्येतदनेन प्रदर्शितं भवति अथ चेद् देवताभिधानम् इति।

—दुर्ग टी०, निरु० १.२०

द्वितीय अध्याय में निरुक्तकार ने '**य ईं चकार**', ऋग् १.१६४.३२ मन्त्र की परिव्राजक और नैरुक्त दो पक्षों में व्याख्या प्रदर्शित की है। अपनी टीका में दोनों का ही समर्थन करते हुए दुर्ग लिखते हैं कि मन्त्रों में शब्दगतिविभुत्व होने से दोनों ही पक्षों के अर्थ ठीक हैं। उदाहरणस्वरूप वे '**दधिक्राव्णो अकारिषम्,** ऋग् ४.३९.६' मन्त्र के विषय में लिखते हैं कि इसका विनियोग अग्निहोत्र, अग्निष्टोम तथा अश्वमेध तीनों में विभिन्न विधियों में किया गया है, प्रति विनियोग में इसका भिन्न अर्थ होना चाहिए। परिणाम निकालते हुए वे लिखते हैं—

त एते वक्तुरभिप्रायवशाद् अर्थान्यत्वमपि भजन्ते मन्त्राः। न ह्येतेष्वर्थस्येयत्तावधारणमस्ति।...तस्मादेतेषु यावन्तोऽर्था उपपद्येरन् अधिदैवाध्यात्माधियज्ञाश्रयाः सर्व एव ते योज्याः। नात्रापराधोऽस्ति।

—दुर्ग टी०, निरु० २.८

इस प्रकार दुर्गाचार्य के मत में वेदमन्त्रों की यथासम्भव अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ तीनों प्रकार की व्याख्याएँ की जा सकती हैं; उनमें भी एक-एक प्रकार की व्याख्या में एकाधिक अर्थ हो सकते हैं। निरुक्त-टीका में क्योंकि निरुक्तानुसार व्याख्या दर्शाना ही प्रयोजन था, अतः वहाँ उसने विभिन्न प्रक्रियाओं से सम्मत विभिन्न अर्थ नहीं

दिये हैं। तो भी ऐतिहासिक पक्ष की तुलना में नैरुक्त अर्थ वह प्रायः दे देता है। दैवत काण्ड में अग्नि शब्द पर विचार करते हुए वह शंका उठाता है कि यह अग्नि कौन है? पुनः उत्तर देता है कि आत्मविदों के मत में आत्मा अग्नि है, याज्ञिकों के मत में अविवक्षित स्थान विशेष वाला, लोकवेदप्रसिद्ध देवताविशेष अग्नि है और नैरुक्तों के मत में यह पार्थिव अग्नि है—

तत्रैतद् भवति कोऽयमग्निरिति? आत्मेत्यात्मविदः, "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति, ऋग् १.१६४.४६" इति मन्त्रदर्शनात्। **अविवक्षितस्थानविशेषो निर्ज्ञातैतदभिधानो देवताविशेषो लोक-वेद-प्रसिद्धः कर्माङ्गमिति याज्ञिकाः। विवक्षितविशिष्टस्थानकर्मा मध्यमोत्तमाभ्यां ज्योतिर्भ्यामन्यः पार्थिवोऽयमग्निरिति नैरुक्त-समयः।**

—दुर्ग टी, निरु० ७.१४

इससे दुर्गाचार्य यह सूचना देते हैं कि आगे यास्क द्वारा उद्धृत **अग्निमीळे पुरोहितम्** ऋग् १.१.१ आदि ऋचा के अध्यात्म, याज्ञिक और नैरुक्त तीनों के अनुसार पृथक्-पृथक् व्याख्यान होते हैं।

स्कन्द महेश्वर

निरुक्त-टीकाकार स्कन्द महेश्वर स्पष्ट शब्दों में प्रतिपादित करते हैं कि वेदमन्त्रों को अध्यात्म, अधिदैवत, याज्ञिक आदि विविध दर्शनों (वेदार्थप्रक्रियाओं) के अनुसार व्याख्यात किया जाना चाहिए—

सर्वदर्शनेषु च सर्वे मन्त्रा योजनीयाः। कुतः? स्वयमेव भाष्यकारेण सर्वमन्त्राणां त्रिप्रकारस्य विषयस्य प्रदर्शनाय "अर्थं वाच पुष्पफलमाह, निरु० १.१७" इति यज्ञादीनां पुष्पफलत्वेन प्रतिज्ञानात्। —स्क०टी०, निरु० ७.५

निरुक्तकार ने निरुक्त में जिन स्थलों पर 'तत्रेतिहासमाचक्षते' कह कर इतिहास दे दिया है, इतर पक्ष में उस प्रसंग की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या नहीं की, उन सब स्थलों पर स्कन्द स्वामी ने नित्य इतिहास अर्थात् ऐतिहासिक शैली मानकर नैरुक्त प्रक्रिया के अनुसार व्याख्या दे दी है, जो प्रायः अधिदैवत व्याख्या है। कहीं-कहीं अधिदैवत के अतिरिक्त अन्य व्याख्याओं के संकेत भी कर दिये हैं। यथा वृष्टिकाम सूक्त के "**यद् देवापिः शन्तनवे पुरोहितः** ऋग् १०.९८.७" आदि

मन्त्र की अधिदैवत व्याख्या वे इस प्रकार करते हैं—ऋष्टिषेण मध्यमस्थान है, उसमें निवास के कारण आर्ष्टिषेण विद्युत् हुआ। अतः आर्ष्टिषेण देवापि विद्युत् है। शन्तनु वृष्टिजल है। उस वृष्टिजल को प्रदान करने के लिए विद्युत् पुरोहित बनता है। दूसरी उन्होंने मनुष्य-परक व्याख्या भी दी है कि कोई राजा, जो अनावृष्टि के कारण क्षत सेना वाला हो गया है, ऋष्टिषेण कहाता है—**अथवा कश्चित् राजा जायमानोऽनावृष्ट्या क्षतसेन ऋष्टिषेण उच्यते।** ऋष्टिषेण का एक अन्य अर्थ वे यह करते हैं कि ऋष्टि अर्थात् कामादि चित्तमलों की हिंसा करने वाली जिसकी इन्द्रियगणरूपी सेना है, ऐसे मनुष्य को ऋष्टिषेण कहेंगे; अथवा ऋष्टि का अर्थ इषित या पराङ्मुखीभूत लें तो जिसकी इन्द्रिय-सेना प्रत्याहार योगांग के द्वारा विषयों से पराङ्मुख हो गई है, वह ऋष्टिषेण है।

अथवा ऋष्टिः रेषणा हिंसा च कामादीनाम् अन्तश्चरशत्रूणां, सेनासमुदायः, स चेन्द्रियाणाम्। एतदुक्तं भवति—विषयाभिलाषवैमुख्यात् कामादिचित्तमलरेषणप्रधाना सेना इन्द्रियग्रामो यस्य इषिता वा प्रेषिता वा गता पराङ्मुखीभूता प्रत्याहारेण विषयेभ्य इन्द्रियसेना यस्य। —स्क० टी०, निरु० २.१२

निरुक्त में यास्क ने "सरस्वती शब्द नदी वाची है" इसकी पुष्टि के लिए "**इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत् सानु गिरीणां तविषेभिरूर्मिभिः। पारावतघ्नीमवसे सुवृक्तिभिः सरस्वतीमा विवासेम धीतिभिः** ऋग् ६.६१.२" मन्त्र दिया है। नदी-पक्ष में इसका अर्थ इस प्रकार है—"यह जल से परिपूर्ण नदी अपने बलों से पर्वतों के समुच्छ्रित प्रदेशों को ऐसे तोड़ देती है, जैसे कोई मनुष्य कमल-नाल को तोड़ देता है। अपनी बड़ी-बड़ी लहरों से पारावारघातिनी इस नदी की हम सुप्रवृत्त शोभन स्तुतियों (गुण-कीर्तनों) से तथा कर्मों से परिचर्या करें।" निरुक्तकार ने इस मन्त्र में सरस्वती का अर्थ नदी ही माना है, किन्तु स्कन्द इस मन्त्र का दूसरा अर्थ माध्यमिक वाणी परक भी करते हैं। तदनुसार गिरि (पर्वत) मेघ हैं, ऊर्मियाँ (लहरें) विद्युद्गर्जनायें हैं, पारावत (पारावार) द्यावापृथिवी हैं, घात का अर्थ गति है और गति से पूरण, अर्थात् वह माध्यमिक वाणी अपने शब्द से द्यावापृथिवी को परिपूर्ण कर देती है। वे लिखते हैं—

माध्यमिकाभिधानपक्षे गिरयो मेघाः, उर्मयः स्तनयित्नवः, पारावते द्यावापृथिव्यौ, हन्तिर्गतिकर्मा, गमनेन पूरणं लक्ष्यते। द्यावापृथिव्यौ शब्देन पूरयित्रीम्। शेषं समानम्। विभूनामत्र पदानामनेकाभिधानसामर्थ्ये सति प्रकरणशोऽर्थविभागः कल्प्यः।

—स्क०टी०,निरु० २.२४

स्कन्द यह भी लिखते हैं कि नदी की अधिष्ठात्री देवता सरस्वती मान कर इस मन्त्र का अधियज्ञ अर्थ भी किया जा सकता है।

निरुक्त में व्याख्यात "**अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षम्** ऋग् १.८९.१०" मन्त्र में वर्णित अदिति के सम्बन्ध में स्कन्द अपनी निरुक्त-टीका में लिखते हैं कि ऐतिहासिकों के मत में अदिति देवों की माता है, नैरुक्तों के मत में अदीनत्वादिगुणा है, अध्यात्मपक्ष में प्रकृति है। तदनुसार तीनों प्रक्रियाओं में मन्त्रार्थ संभव हैं।

अदितिरित्यनवगतम्। अनेकार्थत्वं च दर्शनभेदेन। कथम्? ऐतिहासिकानां देवानां माता उच्यते। नैरुक्तानामदीनादिगुणा। अध्यात्मपक्षे प्रकृतिः। —स्क०टी०, निरु० ४.२२

निरुक्त ६.३ में व्याख्यात "उद्वृह रक्षः सहमूलमिन्द्र, ऋग् ३.३०.१७" मन्त्र की व्याख्या स्कन्द राक्षस-पक्ष तथा पाप-पक्ष उभय-परक करते हैं। निरुक्त १०.२७ में उद्धृत "य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद् ऋग् १०.८१.१ तथा "विश्वकर्मन् हविषा वावृधानः, ऋग् १०.८१.६ मन्त्रों की व्याख्या स्कन्दटीका में अधिदैवत और अध्यात्म दोनों दृष्टियों से प्रदर्शित की गयी है। इसके अतिरिक्त एक ऐतिहासिक प्रक्रिया की तथा दूसरी नैरुक्त-प्रक्रिया की व्याख्याएँ स्कन्द-टीका में अनेक स्थानों पर निरूपित की गयी हैं[६]।"

वररुचि

वररुचि नैरुक्त सम्प्रदाय के प्रबल पोषक हैं। उन्होंने भी अपने ग्रन्थ 'निरुक्तसमुच्चयः' में कहीं-कहीं मन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या के संकेत दिये हैं।

यथा—

---

६. द्रष्टव्यः स्क० टी० निरु० २.१२, २.१६, २.२७, ३.१७, ४.६, ५.२, ५.१४, ६.२०, १०.४७, ११.२६, ११.३४-३५, १२.८, १२.१२।

१. अग्निर्वृत्राणि जङ्घनत्, ऋग् ६.१६.३४ की व्याख्या में 'वृत्राणि' के पाप, राक्षस, त्वष्टा का पुत्र और मेघ ये चार अर्थ दिये हैं—

वृत्राणि वृत्वा व्यतिषज्य तिष्ठन्तीति वृत्राणि पापानि।
तथा च श्रूयते—व्यतिषक्त इव वै पुरुषः पाप्मना॥

ऐ० ब्रा० ४.४. इति।

पापानि मनोवाक्कायजकर्मकृतानि यजमानस्य। अथवा वृत्राणि रक्षांसि, तानि च वृत्वा व्याप्य सर्वं शेरते। अथवा वृत्रोऽसुरः त्वष्टुः पुत्रः मेघो वा धूमादिसंघातः। —नि० स० ५१

२. "**सोम गीर्भिष्ट्वा वयं वर्धयामो वचोविदः। सुमृडीको न आ विश॥** ऋग् १.९१.११" इस मन्त्र का अर्थ सोमरस और चन्द्रमा उभयपरक किया है—

नः अस्मान् स्तोतृन् आ विश, वमनविरेचनकर्ता स सोम आभिमुख्येन प्रविशति—एवं रसरूपे सोमे योज्यम्। चन्द्रमसि तु विश "अनेकार्थत्वाद् धातूनाम् आमिमुख्येन ह्लादयति इति योज्यम्।

—नि०स० ५६

३. "एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम्। वर्षिष्ठमूतये भर॥ ऋग् १.८.१" इस मन्त्र की धन-परक और पुत्र-परक दोनों प्रकार से अर्थ-योजना की है, और लिखा है कि क्योंकि मन्त्रों के पद विभुशक्ति वाले होते हैं, अतः सब अर्थों में योजना कर लेनी चाहिए—

रयिं धनम्...अथवा अनेन मन्त्रेण पुत्रः प्रार्थ्यते। ...विभुत्वात् मन्त्रपदानां सर्वथा योजना कर्तव्या। —नि०स० ६६

४. "इन्द्र क्रतुं न आभर, ऋग् ७.३२.२६" इत्यादि मन्त्र की व्याख्या याज्ञिक मत तथा नैरुक्त मत दोनों में की है—

प्रथमं तावद् याज्ञिकमतेन व्याख्यायते। इन्द्र यो दीपयति रश्मिद्वारेणानुप्रविश्य भूतानि इति इन्द्र आदित्य उच्यते। असौ वा आदित्य इन्द्रः इति च श्रुतेः। इन्द्र आदित्य, क्रतुरिति कर्म वा प्रज्ञा वोच्यते। कर्म अतिरात्रयागफललक्षणम् अस्माकम् आभर आहर। ...नैरुक्तपक्षेऽपि—इन्द्र दानादिगुण, इन्द्रो मध्यस्थानो वायुरुच्यते।

—नि० स० ८३

इनके अतिरिक्त ऐसे स्थल भी हैं, जहाँ प्रथम ऐतिहासिक पक्ष

देकर फिर नैरुक्त पक्ष दिया गया है[७]।

वेदभाष्यकार सायण

यद्यपि वेदों के भाष्यकार स्कन्द स्वामी, उद्गीथ, वेंकट माधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, रावण, उवट, महीधर, भरत स्वामी आदि अनेक हुए हैं, तथापि वैदिक संहिताओं के सर्वाधिक कलेवर पर भाष्य करने वाले आचार्य सायण हैं। इनका भाष्य यद्यपि प्रमुखतः याज्ञिक प्रक्रिया को लेकर लिखा गया है, तो भी इनके भाष्य में बहुत से ऐसे स्थल भी पाये जाते हैं, जहाँ मन्त्रों के इतर प्रक्रियाओं में भी अर्थ प्रदर्शित किये गये हैं। यहाँ सायणभाष्य के कतिपय ऐसे स्थलों की चर्चा की जा रही है, जहाँ सायण ने किसी मन्त्र के एकाधिक प्रक्रियाओं में अर्थ किये हैं।

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमा भासि रोचनम्। —ऋग् १.५०.४

सूर्य-देवताक इस मन्त्र की व्याख्या सायणभाष्य में सूर्य-परक तथा परमात्मा-परक दो प्रकार से की गयी है। सूर्यपक्ष में—"हे सूर्य, तू विशाल मार्ग को पार करने वाला है, अथवा उपासकों को रोग से तराने वाला है। सब प्राणियों से दर्शनीय अथवा सकल भूतों का प्रकाशक है। ज्योति का कर्ता अथवा चन्द्रमा आदि को रात्रि में प्रकाशित करने वाला है। तू व्याप्त रोचमान अन्तरिक्ष को सर्वत्र विभासित करता है।" परमात्मा पक्ष में—"हे अन्तर्यामी होने से सबके प्रेरक परमात्मन्, आप संसारब्धि से तराने वाले हैं, अतः आप सब मुमुक्षुओं से साक्षात्-कर्तव्य हैं। आप ही सूर्यादि ज्योतियों के कर्ता हैं। आप ही अपनी चिद्-रूपता से सब दृश्य पदार्थों को प्रकाशित करते हैं।"

हे सूर्य त्वं तरिता अन्येन गन्तुमशक्यस्य महतोऽध्वनो गन्ता असि। यद्वा, उपासकानां रोगात् तारयितासि। 'आरोग्यं भास्करा-दिच्छेत्' इति स्मरणात्। तथा विश्वदर्शतः विश्वैः सर्वैः प्राणिभिर्दर्शनीयः। यद्वा, विश्वं सकलं भूतजातं दर्शतं द्रष्टव्यं प्रकाश्यं येन स तथोक्तः। तथा ज्योतिष्कृत् ज्योतिषः प्रकाशस्य कर्ता। सर्वस्य वस्तुनः प्रकाशयितेत्यर्थः। यद्वा चन्द्रादीनां रात्रौ

---

७. द्रष्टव्यः नि० स०, मन्त्र १३.८५, ८९।

प्रकाशयिता। यस्मादेवं तस्मात् विश्वं व्याप्तं रोचनं रोचमानमन्तरिक्षम् आ समन्तात् भासि प्रकाशयसि।

यद्वा हे सूर्य अन्तर्यामितया सर्वस्य प्रेरक परमात्मन्, त्वं तरणिः संसाराब्धेस्तारकः असि। यस्मात् त्वं विश्वदर्शतः विश्वैः सर्वैर्मुमुक्षुभिः दर्शतः द्रष्टव्यः साक्षात्कर्तव्य इत्यर्थः। अधिष्ठानसाक्षात्कारे ह्यारोपितं निवर्तते। ज्योतिष्कृत् ज्योतिषः सूर्यादेः कर्ता। तथा चाम्नायते "चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत" (तै० आ० ३.१२.६) इति। **ईदृशस्त्वं चिद्रूपतया विश्वं सर्वदृश्यजातं रोचनं रोचमानं दीप्यमानं यथा भवति तथा आ भासि प्रकाशयसि। चैतन्यस्फुरणे हि सर्वं जगत् दृश्यते। तथा चाम्नायते तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (क० उ० ५.१५) इति।

२. मरुद्देवताक मन्त्र ऋग् १.८६.१० की अर्थयोजना सायण ने अधिदैवत और अध्यात्म द्विविध की है—

गूहता गुह्यं तमो वि यात विश्वमत्रिणम्।
ज्योतिष्कर्ता यदुश्मसि॥

"हे मरुतो, गुहा में स्थित सर्वत्र व्याप्त अन्धकार को संवृत कर दो। समस्त अत्ता राक्षसादिकों को हमारे समीप से दूर कर दो। जिस ज्योति सूर्यादि की हम कामना करते हैं, उसे उत्पन्न करो।"

"हे प्राणापानादिपञ्चवृत्तिरूप मरुतो, शरीरवर्ती हृदयरूपी गुहा में स्थित अज्ञानान्धकार को विनष्ट करो। पुरुषार्थ के अत्ता सब कामक्रोधादि को हमसे पृथक् कर दो। जिस परतत्त्वसाक्षात्काररूप ज्ञानज्योति को हम चाहते हैं, उसे उत्पन्न करो।"

हे मरुतः, गुह्यं गुहायां स्थितं सर्वत्र व्याप्य वर्तमानं तमः अन्धकारं गूहत संवृतं कुरुत। यथा अस्माभिर्न दृश्यते तथा अदर्शनं प्रापयत विनाशयतेत्यर्थः। विश्वं सर्वम् अत्रिणम् अत्तारं राक्षसादिकं वियात विविधं यापयत अस्मत् सकाशात् निर्गमयत। यत् ज्योतिः सूर्यादिकं वयम् उश्मसि कामयामहे तत् कर्त कुरुत।

यद्वा, गुह्यं गुहायां शरीरान्तर्गतगुहारूपे हृदये भवं तमो भवरूपाज्ञानं तद् गूहत विनाशयत। अत्त्रिणं पुरुषार्थस्यात्तारं कामक्रोधादिकं सर्वं विनिर्गमयत। यज्ज्योतिः परतत्त्व-

साक्षात्काररूपं ज्ञानं कामयामहे प्राणापानादिपञ्चवृत्तिरूपा हे मरुतस्तत् कर्त कुरुत।

३. ऋग् १.१६४ के प्रथम मन्त्र "**अस्य वामस्य पलितस्य होतुः**" आदि की भी अधिदैवत तथा अध्यात्म दो प्रक्रियाओं में सायण ने व्याख्या की है। प्रथम व्याख्या के अनुसार मन्त्र में अग्नि, वायु और सूर्य का वर्णन है। द्वितीय व्याख्यानुसार वाम पलित होता विश्व का स्रष्टा, पालयिता और संहर्ता परमेश्वर है। उस परमेश्वर का भ्राता अर्थात् उसका भागहारी या तदंशभूत सूत्रात्मा वायु मध्यम है। तीसरा घृतपृष्ठ अर्थात् प्रकाशित शरीराभिमानी है। इनमें से सप्तपुत्र अर्थात् सात लोक रूपी सात पुत्रों को उत्पन्न करने वाले विश्पति परमेश्वर का मैं साक्षात्कार करता हूँ, ऐसा उपासक कहता है। इस अध्यात्म अर्थ का उपसंहार करते हुए सायण लिखते हैं—

अयमर्थः। स्वाधीनमायो जगत्कारणभूतः परमेश्वर एकः। तत उत्पन्नौ स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानिनौ द्वौ विराट् सूत्रात्मानौ। तेषु मध्ये द्वयोः साक्षात्कारेण मोक्षाभावात् सृष्ट्यादिकारणं परमेश्वरं ज्ञेयत्वेन प्रसिद्धं श्रवणमननादिसाधनेन साक्षात्करोमीत्यर्थः।

इस अस्यवामीय सूक्त के कतिपय अन्य मन्त्र भी सायणभाष्य में एकाधिक प्रक्रियाओं से व्याख्यात हुए हैं। "**स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न विचेतदन्धः** (मन्त्र १६)" अर्थात् "हम हैं स्त्रियाँ, पर लोग हमें पुरुष भी कहते हैं। जिसके ज्ञानचक्षु उद्घाटित हैं वह इस पहेली को बूझ सकता है, अज्ञान से अन्धा नहीं।" इस पहेली की व्याख्या सायण अधिदैवत में सूर्यदीधितिपरक तथा अध्यात्म में निरस्तसमस्तोपाधिक आत्मा-परक करते हैं। सूर्यदीधितियाँ नारी के समान उदकरूप गर्भ को धारण करने के कारण स्त्रियाँ हैं, उन्हें ही पुल्लिंग रश्मि, किरण आदि शब्दों से भी व्याहृत करते हैं, यतः वे पुरुषों के समान प्रभूत वृष्ट्युदक की सेचक होती हैं। अध्यात्म में स्त्री का शरीर धारण किये जो आत्मा है, वही भविष्य में पुरुष का शरीर भी धारण कर सकता है, जैसाकि श्रुति स्वयं कहती है—**त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी** (अथर्व० १०.८.२७)। वस्तुतः स्त्रीत्व-पुरुषत्व आदि उपाधियों से रहित भी आत्मा में शरीरोपाधिभेद से स्त्रीत्व-पुरुषत्व आदि का व्यवहार होता है।

इसी सूक्त के "**अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्** (मन्त्र १७)" की सायण ने अधियज्ञ और अधिदैवत व्याख्या की है। अधियज्ञ दृष्टि से अग्नि में हूयमान आहुति ही गौ है, वह वत्स-स्थानीय अग्नि को अपने अगले पिछले पैरों (अवयवों) से धारण करके सूर्य के प्रति उत्थित होती है, जैसाकि मनु ने लिखा है—**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते** (मनु ३.७६)। अधिदैवत में आदित्य रश्मिसमूहरूपी गौ वत्स यजमान को धारण करके आदित्यलोक में ले जाती है[८]।

यत्रा सुपर्णा अमुतस्य भागम् (मन्त्र २१) की व्याख्या सायम ने अधिदैवत में आदित्यमण्डलपरक तथा अध्यात्म में आत्मपरक की है। इसी प्रकार "**यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णाः**" (मन्त्र २२) भी अधिदैवत आदित्यपरक तथा अध्यात्म आत्मापरक व्याख्यात किया है। "**यद् गायत्रे अधि गायत्रमाहितम्** (मन्त्र २३)" को अधिलोक तथा अधियज्ञ परक घटाया है। मन्त्र २६, २७, २८, २९ की व्याख्या अधियज्ञ दृष्टि से यज्ञिय गौ परक तथा अधिदैवत दृष्टि से मेघलक्षण धेनुपरक की है। "**य ईं चकार न सो अस्य वेद** (मन्त्र ३२)" अध्यात्म और अधिदैवतरूप से व्याख्यात किया गया है। "**गौरीर्मिमाय** (मन्त्र ४१)" आदि की व्याख्या अधिदैवत में माध्यमिक वाणी परक तथा वैयाकरणपक्ष में शब्दब्रह्मात्मिका वाक् परक की है। "**चत्वारि वाक् परिमिता पदानि** (मन्त्र ४५)" की व्याख्या में वेदवादी, वैयाकरण, याज्ञिक, नैरुक्त, ऐतिहासिक, आत्मवादी तथा मातृक (या मान्त्रिक) इनके पृथक्-पृथक् मत दिये हैं। अस्यवामीय सूक्त के सम्बन्ध में सायण का कथन है कि इसके सभी मन्त्रों की मत्कृत इतर व्याख्या से अतिरिक्त अध्यात्मपरक व्याख्या भी हो सकती है।

४. एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या की दृष्टि से ऋग्वेद, षष्ठ मण्डल के नवम सूक्त का भी सायणभाष्य अवलोकनीय है। इसके द्वितीय मन्त्र "**नाहं तन्तुं न विजानाम्योतुं न यं वयन्ति समरेऽतमानाः**" की व्याख्या यज्ञवादी और आत्मवित् दोनों के दृष्टिकोणों से पृथक्-पृथक् दी है—

---

८. अत्र अग्नौ हूयमानाहुतिर्गोरुपेण स्तूयते। ...यद्वा आदित्यरश्मिसमूह एव गोरुपेण स्तूयते। सायण

"वैश्वानरस्य महत्त्वमाख्यास्यन् ऋषिस्तदं यज्ञं वस्त्रात्मकतया रूपयन् तस्य दुर्ज्ञानत्वमनया प्रतिपादयतीति यज्ञवादिनो मन्यन्ते। रूपकतया जगत्सृष्टेर्दुज्ञानत्वमनया प्रतिपादयतीत्यात्मविदो मन्यन्ते।"

याज्ञिक मनुष्य कहता है कि मैं यज्ञरूपी वस्त्र के 'तन्तुओं' (ताने के तारों) अर्थात् गायत्री आदि छन्दों तथा स्तुत शस्त्रों को नहीं जानता, न मैं 'ओतु' (बाने के तारों) अर्थात् यजु और आध्वर्यव कर्मों को जानता हूँ और न ही यज्ञरूप वस्त्र को जानता हूँ। अध्यात्म पक्ष में अर्थ किया है कि मैं तन्तुओं अर्थात् सूक्ष्म वियदादि अपञ्चीकृत भूतों को नहीं जानता, न ही ओतुओं अर्थात् पंचीकृत वियदादि को और न ही उसके कार्य वस्त्रस्थानीय जगत्प्रपंच को जानता हूँ। इसी शैली से अगले मन्त्र "**स इत् तन्तुं स विजानात्योतुम्** (मन्त्र ३)" की भी द्विविध व्याख्या की गयी है। पंचम मन्त्र है—

ध्रुवं ज्योतिर्निहितं दृशये कं मनो जविष्ठं पतयत्स्वन्तः।
विश्वे देवाः समनसः सकेता एकं क्रतुमभि वियन्ति साधु॥

—ऋग् ६.९.५

यहाँ सायण ने मन से अधिक वेगवान् ध्रुव वैश्वानर ज्योति अधिदैवत पक्ष में सूर्याग्नि को तथा अध्यात्म पक्ष में ब्रह्मचैतन्य को माना है।

ध्रुवं निश्चलं मनः मनसः तस्मादपि जविष्ठम् अतिशयेन वेगवत् ईदृशं वैश्वानराख्यं ज्योतिः पतयत्सु गच्छत्सु जङ्गमेषु प्राणिषु अन्तः मध्ये निहितं प्रजापतिना स्थापितम्। यद्वा; पतयत्सु गच्छत्सु प्राणिष्वन्तर्मध्ये हृदये मनोजविष्ठं मनसोऽप्यतिशयेन वेगयुक्तं ध्रुवं निश्चलं निर्विकल्पम्। तथा च वाजनेयकम्—"अनेजदेकं मनसो जवीयः" वा० सं० ४०.४ **इति। ज्योतिर्ब्रह्मचैतन्यं निहितम्। न केनचित् स्थापितम्। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्** (तै० आ० ८.१) **इति हि श्रूयते। किमर्थम्? दृशये दर्शनार्थम्। ज्ञानेन हि सर्वं जानन्ति। अपि च। दीव्यन्तीति देवा इन्द्रियाणि। विश्वे सर्वे देवाः सर्वाणीन्द्रियाणि चक्षुराद्याः समनसो मनसा सह वर्तमानाः सकेताः सतेजस्काः सन्त एकमद्वितीयं क्रतुं सृष्ट्यादीनां कर्मणां कर्तारं विश्वनरात्मकं परमात्मानमभिलक्ष्य साधु सम्यक्**

वि यन्ति विविधं गच्छन्ति।

५. ऋग् मण्डल ६, सूक्त ४७, मन्त्र १८ की भी सायण ने द्विविध व्याख्या की है—

रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥

अधिदैवत व्याख्या के अनुसार इन्द्र रूपों का प्रतिनिधि होकर अग्नि आदि देवताओं के स्वरूप वाला हो जाता है। वही इन्द्र अपनी मायाओं अर्थात् संकल्पों से बहुविध शरीरों को धारण कर यजमानों को प्राप्त करता है और उसके लिए अपने दस सहस्र घोड़ों को नियुक्त करता है। दूसरी अध्यात्मव्याख्या परमात्मा-परक है। इन्द्र परमात्मा[९] है, वह चिद्रूप परमात्मा प्रतिबिम्ब-रूप होकर सब शरीरों के रूप में आ जाता है। वही अपनी मायाशक्तियों से वियदादि बहुविध रूपों से युक्त होकर चेष्टा करता है। इसके सहस्रसंख्याक हरि अर्थात् इन्द्रियवृत्तियाँ विषयों के ग्रहण के लिए उद्युक्त होती हैं।

६. दशम मण्डल के सायणभाष्य में भी कई स्थल ऐसे उपलब्ध होते हैं, जहाँ द्विविध व्याख्याएँ की गयी हैं। सूक्त ८१ और ८२ का विश्वकर्मा देवता है, जिसमें सृष्ट्युत्पत्तिविषयक जिज्ञासा उठा कर उसका समाधान किया गया है। "**य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद्** (८१.१)" मन्त्र को सायण ने अधियज्ञ और अध्यात्म दो प्रक्रियाओ से व्याख्यात किया है। अधियज्ञ व्याख्यान में विश्वकर्मा होमकर्ता ऋषि है और अध्यात्म व्याख्यान में परमेश्वर[१०]। उत्तर मन्त्रों की व्याख्या यद्यपि सायण ने केवल अध्यात्मपरक ही की है, तो भी लिख दिया है कि उनकी व्याख्या अधियज्ञ भी की जा सकती है— एवमुत्तरत्राधियज्ञपरतया योज्यम्। ८२वें सूक्त का मन्त्र "**विश्वकर्मा विमना आद् विहायाः**" का फिर अधियज्ञ और अध्यात्म दोनों दृष्टियों से भाष्य किया है—अयं मन्त्रोऽधियज्ञाध्यात्मयोर्भेदेन द्विधा

---

९. इदि परमैश्वर्ये इत्यस्य धातोरर्थानुगमात् इन्द्रः परमात्मा। सायण

१०. अथाध्यात्मप्रसिद्ध्योच्यते। यो विश्वकर्मा परमेश्वर इमा विश्वा भुवनानि जुह्वत् प्रलयकाले पृथिव्यादीनिमान् सप्त लोकान् स्वात्मन्याहुतिप्रक्षेपवत् संहरन् ऋषिरतीन्द्रियद्रष्टा सर्वज्ञो होता संहाररूपस्य होमस्य कर्ता नोऽस्माकं पिता जनको निषसाद स्वयं स्थितवान्। सायण

व्याख्येयः। अधियज्ञ व्याख्या में विश्वकर्मा का अर्थ आदित्य लिया गया है, अध्यात्म में परमात्मा[११]।

७. ऋग् १०.११४ का सायणभाष्य अधियज्ञ और अध्यात्म व्याख्याओं के मिश्रण का अच्छा नमूना है। "घर्मा समन्ताऽभिवृतं व्यापतुः (मन्त्र १) में 'घर्मा' का अर्थ अधियज्ञ व्याख्या में दीप्यमान अग्नि और आदित्य तथा अध्यात्म में दीप्यमान जीव और ईश्वर किया है[१२]। इसी सूक्त के तृतीय और चतुर्थ मन्त्र की पहेलियों की सायण ने अधियज्ञ और अध्यात्म परक सुन्दर व्याख्याएँ की हैं—

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्॥

—ऋग् १०.११४.३

"चार जूड़ों वाली एक युवति है, जो शोभन अलंकारों से अलंकृत और घृतमुख है तथा वयुन की साड़ी पहने है। उसके ऊपर दो वृषण सुपर्ण (सुन्दर पक्षी) बैठे हुए हैं। वहाँ आकर देवता अपने-अपने भाग को ग्रहण करते हैं।"

सायणकृत अधियज्ञ व्याख्या के अनुसार यह युवति यज्ञवेदि है, जो चतुष्कोण है, अलंकृत है, जिसके मुख में घृत की आहुति पड़ती है और जो वयुन अर्थात् ज्ञातव्य पदार्थों, कर्मों या स्तोत्रों को धारण करती है। उस वेदि पर दो वृषण सुपर्ण अर्थात् हवियों की वर्षा करने वाले यजमान पति-पत्नी अथवा यजमान और ब्रह्मा बैठते हैं, और अग्नि आदि देव वहाँ आकर अपना-अपना भाग प्राप्त करते हैं। अध्यात्म में यह युवति औपनिषदी वाक् है, जिनके नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात रूप चार जूड़े हैं। यह घृतप्रतीका अर्थात्

११. विश्वकर्मा बहुविधप्रकाशवृष्टिप्रदानादिकर्मणां कर्तादित्यः।...अथाध्यात्म-पक्ष उच्यते। विश्वकर्मा यः परमात्मा प्राणप्रकाशाभ्यामुपेतः सन् बहुकर्मा भवति। सायण

१२. समन्ता समन्तौ संव्याप्तदिगन्तौ, घर्मा 'घृ क्षरणदीप्त्योः' घर्मौ दीप्यमानावग्न्यादित्यौ त्रिवृतं 'त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' (ऐ० आ० १.१.२) इत्याम्नानात् त्रैलोक्यं व्यापतुः स्वतेजोभिर्व्याप्तवन्तौ। यद्वा, समन्तौ घर्मौ स्वयं दीप्यमानौ जीवेश्वरौ त्रिवृतं सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकां मायां व्यापतुः। सायण

दीप्यमानवर्णावयवा है, वयुन अर्थात् ज्ञानों को अपने अन्दर धारण करती है। उस औपनिषदी वाक् में जीव और परमात्मा रूप दो सुपर्ण निषण्ण हैं और उसमें से देवता अपने-अपने ज्ञान रूपी भाग को धारण करते हैं।

चतुष्पर्दा चतुष्कोणा युवतिः स्त्रीरूपा सुपेशाः शोभनालंकारा घृतप्रतीका घृतप्रमुखहविष्का एतादृशी वेदिः वयुनानि ज्ञातव्यानि पदार्थजातानि कर्माणि स्तोत्राणि वा वस्ते आच्छादयति। तस्यां वेद्यां वृषणा वृषणौ हविषां वर्धितारौ सुपर्णौ सुपतनौ जायापती यजमानब्रह्माणौ वा नि षेदतुः निषण्णौ भवतः। यत्र यस्यां वेद्यां देवाः अग्न्यादयः भागधेयम्। स्वार्थिको धेयप्रत्ययः। स्वस्वभागं हविःदधिरे धारयन्ति।

यद्वा चतुष्कपर्दा नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्चत्वारः कपर्द-स्थानीया यस्याः सा युवतिस्तरुणी नित्या घृतप्रतीका दीप्यमान-वर्णावयवैषौपनिषदी वाग्वयुनानि ज्ञनानि वस्ते आच्छादयति। तस्यां वाचि सुपर्णा सुपर्णौ जीवपरमात्मानौ निषण्णौ भवतः। यत्र। "इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते" इति तृतीयार्थे त्रल्प्रत्ययः। यया वाचा देवा भागं धारयन्ति।

**एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं वि चष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥**

—ऋग् १०.११४.४

"एक सुपर्ण है, वह समुद्र में प्रविष्ट है, वह उस सारे भुवन को देखता है। उसका परिपक्व मन से मैंने दर्शन किया है कि उसे माता चाट रही है और वह माता को चाट रहा है।"

सायणीय अधियज्ञ या अधिदैवत व्याख्या में यह सुपर्ण मध्यमस्थानीय देव वायु है, वह अन्तरिक्ष-समुद्र में प्रविष्ट है और सब प्राणियों को अनुगृहीत कर रहा है। माता अर्थात् वर्षाजलों की निर्मात्री माध्यमिका वाणी उस वायु को चाट रही है तथा वायु उस माध्यमिका वाणी को चाट रहा है, अर्थात् दोनों परस्पराश्रित हैं। अध्यात्म में यह सुपर्ण प्राण या परमात्मा है, वह प्राण अन्तरिक्ष-समुद्र में और वह परमात्मा समुद्रवणशील जगत्प्रपञ्च में आविष्ट है। उस प्राण को माता वाक् चाटती हैं, अर्थात् स्वप्नावस्था में प्राण में

लीन हो जाती है, जिससे उस समय वाग्व्यापार दिखाई नहीं देता, प्राणव्यापार चलता रहता है। अध्ययनकाल में वाग्व्यापार दिखाई देता है, तब प्राण वाणी को चाटता है, अर्थात् वाणी में लीन हो जाता है।

एकः सर्वकार्येष्वसहायः सुपर्णः सुपतनो मध्यमस्थानो देवः समुद्रम् अन्तरिक्षम् आ विवेश आविशति। आविश्य च स इदं विश्वं सर्वं भुवनं वि चष्टे अनुग्राह्यतयाभिपश्यति। तम् एवंरूपं देवं पाकेन परिपक्वेन मनसा अन्तितः समीपेऽहम् अपश्यम् अदर्शम्। किंच माता उदकानां निर्मात्री माध्यमिका वाक् तां रेढि आस्वादयति। उपजीवनमात्रमत्र लक्ष्यते। स उ स खलु मातरं वाचं रेढि लेढि। तामेवोपजीवति। ''लिह आस्वादने''। यद्वा, सुपर्णः पक्षवान्निराधारसंचार्येकः प्राणवायुः परमात्मा वा समुद्रम् समुद्रवन्ति आपोऽस्मादिति समुद्रमन्तरिक्षम् यद्वा, समुद्रवणं सर्वतो गमनम्, तच्छीलं प्रपञ्चजातमाविष्टवान्। ''तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्'' (तै० आ० ८.६) **इति श्रुतेः। वायुपक्षे वाय्वादिरूपेण आ विवेश। ...तं प्राणं माता वाक् रेढि। वाक् प्राणेऽन्तर्भवतीत्यर्थः। स्वापे हि वाग्व्यापारो न दृश्यते प्राणव्यापारस्तु दृश्यत इति।**

८. पतङ्ग सूक्त १०.१७७ तीन मन्त्रों का सूक्त है, जिसके प्रथम दो मन्त्र सायण ने सूर्यपरक और परमात्म-परक तथा तृतीय मन्त्र सूर्यपरक और प्राणपरक व्याख्यात किये हैं।

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः॥

—ऋग् १०.१७७.१

सर्वोपाधिविहीन परब्रह्म (असुर) की माया से अभिव्यक्त सूर्य (पतंग) को विद्वान् जन मन से जानते हैं। वे क्रान्तदर्शी लोग सूर्यमण्डल (समुद्र) के मध्य में विद्यमान हिरण्मय पुरुष के भी दर्शन करते हैं। वे सूर्योपासना करने वाले लोग रश्मियों के स्थान सूर्य को पाने की इच्छा रखते हैं।

माया द्वारा जीव रूप से अभिव्यक्त परमात्मा (पतंग) का वेदान्तवित् विपश्चित् जन हृयद-स्थित अन्तर्मुख मन से दर्शन करते हैं, अर्थात् उपाधिविमुक्त होकर परमात्मा से तादात्म्य का साक्षात्कार करते हैं। उसी अधिष्ठानभूत परमात्मा के अन्दर सब दृश्यमान जगत्

को अध्यस्त रूप में देखते हैं। अतः तद्व्यतिरिक्त सब जगत् के मिथ्या होने के कारण वे विधाता जन वृत्तिज्ञान-किरणों के अधिष्ठान-पद सच्चित्सुखात्मक परब्रह्म की ही इच्छा करते हैं, अर्थात् तद्भावप्राप्ति की ही कामना रखते हैं[१३]।

असुरस्य असनकुलस्य सर्वोपाधिविहीनस्य परब्रह्मणः संबन्धिन्या मायया त्रिगुणात्मिकया अक्तं व्यक्तमभिव्यक्तम्। यद्वा। मायेति प्रज्ञानाम। प्रज्ञया संबद्धं पतङ्गम्। पतति गच्छतीति पतङ्गः सूर्यः। तं विपश्चितः विद्वांसः हृदा हृत्स्थेन। तात्स्थ्यात्तच्छब्द्यम्। हृदि निरुद्धेन मनसा पश्यन्ति जानन्ति। कवयः क्रान्तदर्शिनस्ते समुद्रे समुद्रवन्त्यस्माद्रश्मय इति समुद्रः सूर्यमण्डलम् तस्मिन् अन्तः मध्ये वि चक्षते विपश्यन्ति। मण्डलान्तर्वर्तिनं हिरण्मयं पुरुषमपि जानन्तीत्यर्थः। य एवं वेधसः विधातार उक्तप्रकारेण सूर्योपासनस्य कर्तारस्ते मरीचीनां रश्मीनां पदं स्थानं सूर्यमण्डलम् इच्छन्ति अभिलषन्ति। तदुपासनया प्राप्नुवन्तीत्यर्थः।

यद्वा, माययाक्तं जीवरूपेणाभिव्यक्तमात्मानं विपश्चितो वेदान्ताभिज्ञा हृत्स्थेनान्तर्मुखेन मनसा, पतङ्गम् पतति व्याप्नोतीति पतङ्गः परमात्मा। तं पश्यन्ति। उपाधिपरित्यागेन जीवात्मनः परमात्मना तादात्म्यं साक्षात्कुर्वन्तीत्यर्थः। अपि च ते कवयः क्रान्तदर्शिनो वेदान्ताभिज्ञाः समुद्रे समुद्द्रवन्त्यस्माद् भूतानीति समुद्रः परमात्मा तस्मिन्नधिष्ठानभूतेऽन्तर्मध्ये सर्वं दृश्यजात-मध्यस्तत्वेन विचक्षते विपश्यन्तीति। अतो दृग्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वाद् वेधसो विधातारस्ते मरीचीनां वृत्तिज्ञानानां पदम-

---

१३. सायण ने अद्वैतपरक व्याख्या की है। इसकी त्रैतपरक व्याख्या इस प्रकार होगी—असुरस्य प्रकृतिमध्याद् जगदसनशीलस्य सर्वोत्पादकस्य परमात्मनः मायया सञ्चितजीवकर्मसंस्कारफलप्रदानरूपनियमेन अक्तं देहे समागतम्। "अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु"। पतङ्गं पतति शुभाशुभकर्मानुसारेण विविधयोनिषु इति पतङ्गः, यद्वा पतति प्रवर्तते विविधपुरुषार्थेषु स पतङ्गो जीवात्मा, तम् विपश्चितः मेधाविनो जनाः हृदा हृदयेन मनसा बुद्ध्या च पश्यन्ति साक्षात् कुर्वन्ति। कवयः विप्रास्ते तम् समुद्रे अन्तः विज्ञानमयकोषाभ्यन्तरे विचक्षते विविधतया पश्यन्ति। वेधसः कर्मणां विधातारस्ते मरीचीनां ज्ञानरश्मीनाम् अन्तःप्रकाशकिरणानां वा पदम् अधिष्ठानभूतं तं जीवात्मानम् इच्छन्ति कामयन्ते।

धिष्ठानभूतं सच्चित्सुखात्मकं यत्परं ब्रह्म तदेवेच्छन्ति। तद्भाव-प्राप्तिमेव कामयन्ते।

पतङ्गो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥

—ऋग् १०.१७७.२

"सूर्य (पतङ्ग) त्रयीरूप वाणी को प्रज्ञा से धारण करता है। उसी वाणी को शरीर में वर्तमान प्राणवायु (गन्धर्व) अन्दर बोलता है, प्रेरित करता है। द्योतमान, स्वः को ले जाने वाली, मन की ईशित्री उस त्रयीरूप वाणी की यज्ञ या सत्यभूत सूर्य (ऋत) के स्थान में मेधावी ऋषिजन अध्यापन द्वारा रक्षा करते हैं।"

"सर्वोपाधिशून्य व्याप्त परमात्मा (पतङ्ग) सृष्टि के आरम्भ में मन में वाणी को धारण करता है, अर्थात् किन वस्तुओं की रचना करनी है यह पर्यालोचन करता हुआ मन द्वारा सकलार्थप्रतिपादक वेद से परामर्श लेता है। हिरण्मय ब्रह्माण्ड (गर्भ) के अन्दर वर्तमान हिरण्यगर्भ (गन्धर्व) उस वाणी को सर्वप्रथम उच्चारण करता है। द्योतमानादिगुणविशिष्टा उस वाणी को क्रान्तदर्शी देव सत्यरूप ब्रह्म के स्थान में सुरक्षित करते हैं।"

पतङ्ग सूर्यः वाचं त्रयीरूपां मनसा प्रज्ञया बिभर्ति धारयति। श्रूयते हि—ऋग्भिः पूर्वाह्णे दिवि देव ईयते यजुर्वेदे तिष्ठति मध्ये अह्नः सामवेदेनास्तमये महीयते वेदैरशून्यैस्त्रिभिरेति सूर्यः (तै० ब्रा० ३.१२.९.१) इति। ताम् एव वाचं गर्भे शरीरस्य मध्ये वर्तमानः गन्धर्व गाः शब्दान् धारयतीति गन्धर्वः प्राणवायुः। अन्तः मध्ये अवदत् वदति प्रेरयति। "मारुतस्तूरसि चरन्मन्द्रं जनयति स्वरम्" (पा० शि० ७) इति स्मरणात्। द्योतमानां स्वर्यं स्वर्गमयित्रीं स्वर्गाय हितां वा मनीषां मनस ईशित्रीं तां त्रयीरूपां वाचम् ऋतस्य यज्ञस्य सत्यभूतस्य सूर्यस्य वा पदे स्थाने कवयः मेधाविन ऋषयः नि पान्ति। अध्यापनेन नितरां रक्षन्ति।

यद्वा, पतङ्गः सर्वोपाधिशून्यो व्याप्तः परमात्मा। स सृष्ट्यादौ वाचं मनसा विभर्ति कानि कानि स्त्रष्टव्यानीति पर्यालोचनेन मनसा सकलार्थप्रतिपादकं वेदं परामृष्टवानित्यर्थः। स्मर्यते हि—"वेदशब्देभ्यो एवादौ निर्ममे स महेश्वरः" इति। गर्भे हिरण्मये

ब्रह्माण्डेऽन्तर्वर्त्तमानो गन्धर्वो हिरण्यगर्भस्तां वाचमवदत् प्रथममुच्चारितवान्। द्योतमानत्वादिगुणविशिष्टां तां वाचं कवयः क्रान्तदर्शिनो देवा ऋतस्य सत्यस्य ब्रह्मणः पदे स्थाने नि पान्ति निभृतं रक्षन्ति।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः ॥

—ऋग् १०.१७७.३

"मैंने रक्षक सूर्य का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो नीचे नहीं गिरता और आकाशमार्गों से पूर्वाह्ण में हमारी ओर आता है तथा पराङ्मुख होने लगता है। वह साथ-साथ चलने वाली प्राची आदि महा-दिशाओं को और पृथक्-पृथक् चलने वाली कोण-दिशाओं को अपनी कान्ति से आच्छादित करता हुआ लोकों के अन्दर पुनः-पुनः उदित और अस्त होता रहता है।"

"मैंने शरीर के रक्षक प्राण को जान लिया है, जो विनष्ट या विपन्न नहीं होता तथा अभिमुख और पराङ्मुख होता हुआ नाड़ीरूप मार्गों से शरीर में विचरण करता रहता है।"

गोपां गोपायितारमादित्यम् अपश्यम् अज्ञासिषम्। एष हि सर्वाणि भूतजातान्युदयास्तमयादिकर्मणा गोपायति। कीदृशम्? अनिपद्यमानम् उच्चैर्गच्छन्तम्। न ह्यसौ कदाचिन्नीचैः पद्यते। पथिभिः आकाशमार्गैः पूर्वाह्ण आ चरन्तम् अस्मानभिलक्ष्य गच्छन्तं सायं समये परा चरन्तं पराङ्मुखं गच्छन्तम्, प्रकारद्वयसमुच्चयार्थौ च शब्दौ। सः सूर्यः सध्रीचीः सहाञ्चन्तीः विषूचीः विविधं पृथक्पृथगञ्चन्तीः स्वस्वव्यापाराय गच्छन्तीः प्राच्याद्या महादिशः सध्रीच्यो विषूच्यः कोणदिशः वसानः स्वभासाच्छादयन् प्रकाशयन् भुवनेषु लोकेषु अन्तः मध्ये वा वरीवर्ति, पुनः पुनरुद्यन् अस्तं गच्छंश्चावर्तते।

यद्वा, गोपां शरीरस्य गोपायितारमनिपद्यमानमविनाशिनमविपन्नमा च परा चाभिमुखेन पराङ्-मुखेन च पथिभिर्नाडीलक्षणैर्मार्गैश्चरन्तं शरीरे वर्तमानं प्राणमपश्यम् अहमदर्शम्।

९. अथर्ववेदीय प्राणसूक्त के निम्नलिखित मन्त्र में सायण ने दो अर्थ किये हैं, अधिदैवत दृष्टि से सूर्यपरक तथा अध्यात्म में प्राणपरक।

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन्। यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाह स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन॥

—अथर्व० ११.४.२१

हंस सूर्य है। वह सलिल से ऊपर उठता हुआ अर्थात् उदित होता हुआ एक पैर को नहीं उठाता है, एक पैर को निश्चलरूप से स्थापित करके एक ही पैर से परिभ्रमण करता है। उदित होता हुआ सूर्य यदि उस निहित पैर को उठा ले तो वह अस्मदादिवत् जहाँ-कहीं भी चला जायेगा या बैठेगा, तब कालपरिच्छेदक सूर्य का परिस्पन्द न होने के कारण आज या कल, रात्रि या दिन कुछ भी व्यवहार नहीं होगा, न ही उषा का प्रादुर्भाव होगा।

दूसरा हंस प्राण है। वह सलिलोपलक्षित पांचभौतिक देह से प्राणवृत्त्यात्मना उद्गत होता हुआ अपानवृत्त्यात्मक एक पैर को उत्क्षिप्त नहीं करता। यदि वह प्राण अपानात्मक पैर को भी शरीर से उत्क्षिप्त कर दे, तो प्राण के कृत्स्नतया शरीर से निर्गत हो जाने के कारण शरीर मृत हो जाये और मृत शरीर के लिए आज या कल, रात्रि या दिन कुछ भी कालविभाग न रहे, न ही तमोनिवृत्ति हो। अतः जगत् को सजीव रखने के लिए प्राण अपने एक पैर को नहीं उठाता है।

हन्ति गच्छतीति हंसः जगत्प्राणभूतः सूर्यः। स सलिलाद् उच्चरन् उद्गच्छन् उद्यन्नित्यर्थः। एकं पादं नोत्खिदति नोद्धरति। एकं पादं निश्चलं स्थापयित्वा एकेनैव पादेन परिभ्रमतीत्यर्थः। तथा च मन्त्रवर्णः—"तं सूर्य देवम् अजम् एकपादम्" तै० ब्रा० ३.१.२.८ इति। अङ्ग हे देवदत्त, स उच्चरन् सूर्यः यत् यदि तं निहितं पादम् उत्खिदेत् क्षिपेत् तर्हि असौ द्वाभ्यां पादाभ्याम् अस्मदादिवद् यत्रक्वापिगच्छेत् निषीदेद् वा। तथा च कालपरिच्छेदकस्य सूर्यस्य परिस्पन्दाभावात् अद्य श्वः रात्री अहः इत्येवं विभिन्नव्यवहारो न स्यात्। कदाचन कदाचिदपि न व्युच्छेत्। व्युच्छनम् उषसः प्रादुर्भावः। सूर्यस्योदये संभाव्यमाने तत्पुरोभाविनी उषा अपि नोदियात्। तथा च जगदान्ध्यमेव स्याद् इत्यर्थः।

अथवा हन्ति गच्छति कृत्स्नशरीरं व्याप्य वर्तत इति हंसः प्राणः। सलिलात् सलिलोपलक्षितात् पाञ्चभौतिकाद् देहाद् उच्चरन् प्राणवृत्त्यात्मना ऊर्ध्वं गच्छन् एकं पादम् अपानवृत्त्यात्मकं

नोत्खिदति नोत्क्षिपति। यदि स प्राणस्तमपि अपानात्मकं पादम् उत्खिदेत् शरीराद् उत्क्षिपेत् तदा प्राणस्य कात्स्न्येंन शरीरतो निर्गतत्वात् मृतशरीरस्य तस्य अद्य श्वः रात्रिः अहः इत्येवमात्मकः कालविभागो न स्यात्। कदाचिदपि न व्युच्छेत् तमसो निवृत्तिर्न स्यात्। अतः जगत् सजीवं कर्तुम् एकं पादं नोत्खिदतीत्यर्थः।

१०. अथर्व काण्ड १९ के अधोलिखित मन्त्र के सायण ने तीन अर्थ किये हैं, एक इन्द्रियपरक, दूसरा ऋत्विक्परक और तीसरा योद्धृपरक, जिनमें प्रथम अध्यात्म, द्वितीय अधियज्ञ और तृतीय अधिभूत या अधिराष्ट्र के अन्तर्गत होगा।

व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्मा सीव्यध्वं बहुला पृथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृंहता तम्॥

—अथर्व० १९.५८.४

"हे इन्द्रियो, तुम इस मानसयज्ञ-प्रवर्तन के अधिष्ठानभूत शरीर में संघ बना कर बैठो, यतः वह शरीर नेतृभूत अर्थात् स्वस्व विषयों में प्रवर्तमान तुम्हारा रक्षक है अथवा पानस्थान है। तुम वर्म अर्थात् वारक विषय-वस्तुओं को अपने से सम्बद्ध करो, अर्थात् स्वस्वव्यापारविषयक शब्दादि को उत्पन्न करो, जो कि बहुलरूप तथा विस्तीर्ण है। और तुम अपने आपको अयोवत् सारभूत, अधृष्ट तथा पूरयित्री (स्वस्वविषयग्रहणशक्त) बनाओ। तुम्हारा चमसवत् भोगसाधनभूत शरीर विनाश को प्राप्त न हो।"

"हे ऋत्विजो, तुम गोष्ठ बनाओ, क्योंकि वह नेतृभूत देवों का पानसाधन है, यतः सांनाय्य रूप से या आशिररूप से गोदुग्ध आदि को देव पीते हैं। वर्मभूत बहुत से विस्तीर्ण प्रयाज आदि प्राच्य और प्रतीच्य अंगों को तुम फैलाओ। होतृधिष्ण्यादि पुरों को अथवा यष्टव्य देवों की शरीर-पुरियों को अयोवत् सुदृढ़ तथा अधृष्ट बनाओ, अथवा पूरणीय ग्रह-पात्रों को बनाओ। तुमहारा यज्ञरूपी चमस चुए, उसे दृढ़ करो।"

अस्या ऋचस्त्रेधार्थो नीयते इन्द्रियपरत्वेन ऋत्विक्परत्वेन योद्धृपरत्वेनेति। हे इन्द्रियाणि यूयं व्रजं कृणुध्वम् अस्मिन् मानसयज्ञप्रवर्तना-धिष्ठानभूते शरीरे व्रजम् संघातं कृणुध्वम् संघीभूय तिष्ठत। स हि यस्मात् कारणात् स देहः वः युष्माकं

नृपाणः नृणां नेतृणां स्वस्वविषयेषु प्रवर्तमानानां रक्षकः। शरीर-सद्भावे हि तेषाम् अवस्थानम्। यद्वा नृणां युष्माकं पानस्थानम्, इन्द्रियाणां स्वस्वव्यापारविषयान् शब्दादीन् कुरुत। कीदृशानि? बहुला बहुलानि अधिकानि पृथूनि विस्तीर्णानि। तथा आयसीः अयोवत् सारभूता अधृष्टाः पैररधृष्यमाणाः पुरः पूरयित्रीः स्वविषय-ग्रहणशक्ताः कृणुध्वम् कुरुत। एतत् सर्वं शरीरसद्भावे भवतीति तस्य विनाशाभावो दार्ढ्यं च प्रार्थ्यते। वः युस्माकं संबन्धी चमसः चमसवच्चमसः भोगसाधनभूतो देहः मा सुस्रोत् मा स्रवतु मा विनश्यतु। तं देहं दृंहत दृढीकुरुत स्वावस्थानेनेति इन्द्रियाणि स्तूयन्ते। दृह दृहि वृद्धाविति धातुः।

"यद्वा हे ऋत्विजः व्रजं कृणुध्वम् गोष्ठं कुरुत। घर्माशिरा-दिविनियोगार्थं गोस्थानं कुरुत। स हि स खलु नृपाणां देवानां पातव्यः देवापानसाधनभूत इति सान्नाय्यरूपेण वा आशिररूपेण वा गोपयःप्रभृतिकं देवाः पिबन्ति। वर्म वर्माणि सीव्यध्वम् वर्मवत् प्रधानस्य उभयत आच्छादकत्वात् प्रयाजादीनि प्राच्यानि प्रतीच्यानि वा अङ्गानि वर्माणि। तानि सीव्यध्वम् संतानयत। बहुलानि पृथूनीति वर्मविशेषणम्। तथा पुरः पुराणि होतृधिष्ण्यादीनि यष्टव्यानां देवानां वा पुरः शरीराणि अयोवत् सारभूतानि अधृष्टानि च। पुर इति पूरणीया ग्रहा वा विवक्ष्यन्ते। तान् कुरुत। वः युष्मदीयश्चमसो यज्ञाख्यः भक्षणसाधनभूतश्चमस एव वा। चमसपक्षे सामान्येन एकवचनम्। मा सुस्रोत् मा स्रवेत्। तं दृंहत दृढीकुरत। यथा विकलो न भवति तथा कुरुत।

यद्वा हे योद्धारः व्रजम् संघातात्मकं ग्रामं कुरुत। स खलु युष्मदीयः संग्रामो नृपाणः। नरो योद्धारः पिबन्ति प्रत्यर्थिनां प्राणान् इति नृपाणः। वर्म कवचानि देहावरणानि सीव्यध्वम्। यथा परकीयशस्त्रैः शरीरभेदो न भवति तथा संनह्यध्वम्। आयसीः अयोनिर्मिताः पुरः नगराणि कृणुध्वं शत्रुबाधापरिहारार्थं स्वरक्षार्थं च। एतादृशो वः युष्माकं चमसः अदनसाधनभूतः संग्रामो मा सुस्रोत् माऽपगच्छतु। तं दृंहतेति मन्त्रद्रष्टा ऋषिर्ब्रूते।

इन स्थलों के अतिरिक्त सायण के वेदभाष्य में एकाधिक प्रक्रियाओं के अन्य भी कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते हैं। इस प्रचुर

सामग्री से यह स्पष्ट हो जाता है कि सायण याज्ञिक प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य प्रक्रियाओं से भी वेदार्थ करने की प्रणाली से सहमत थे। किन्तु विस्तार से बचने के लिए तथा अधियज्ञ व्याख्यान ही लक्ष्य होने के कारण उन्होंने वेदार्थ में अनेय प्रक्रियाओं का उपयोग सीमित ही किया है।

अन्य वेदभाष्यकार

सायण से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती कुछ अन्य वेदभाष्यकारों के भाष्यों में भी एकाधिक वेदार्थ-प्रक्रियाओं का आश्रय लेकर एकाधिक वेदार्थ करने के कतिपय उदाहरण प्राप्त हो जाते हैं, यद्यपि वे बहुत कम हैं। अधिकांश सायणेतर भाष्यकारों ने वेदभाष्य किसी एक ही वेद पर या वेद के किसी अंश पर किया है, उसमें भी उन्होंने अपना उद्देश्य किसी एक ही वेदार्थ-प्रक्रिया को बना लिया है। अधिकतर भाष्य अधियज्ञ प्रक्रिया के हैं, कोई-कोई भाष्य केवल अध्यात्म प्रक्रिया के हैं। अतः उनमें एकाधिक प्रक्रिया के व्याख्यान कम ही मिलते हैं। यहाँ कुछ सायणेतर वेदभाष्यकारों के भाष्य से कतिपय उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं।

स्कन्द स्वामी

स्कन्द स्वामी सायण से पूर्ववर्ती भाष्यकार हैं। इनका ऋग्वेद के कुछ अंश पर भाष्य उपलब्ध है। इनकी अपनी ही प्रतिज्ञा के अनुसार इनका वेदभाष्य यज्ञोपयोगी है। अर्थ प्रायः एक ही अधिदैवत या अधियज्ञ किये गये हैं। तो भी ऐसा कई स्थानों पर है कि ऐतिहासिक या आख्यान प्रक्रिया का अर्थ भी दिया है और इतर अर्थ भी[१४]।

१. निम्नलिखित मन्त्र में बिना नामोल्लेख के प्रथम अधिदैवत, फिर अधियज्ञ अर्थ दिया है—

तयोरिद् घृतवत् पयो विप्रा रिहन्ति धीतिभिः।
गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे॥ —ऋग् १.२२.१४

अधिदैवत—चन्द्रमारूपी गन्धर्व के ध्रुव पद अर्थात् चन्द्रमण्डल में द्यावापृथिवी की क्षरणशील-जल-मयी जो चन्द्र-कलाएँ शुक्लपक्ष

१४. यथा, स्कन्द-भाष्य, ऋग् १.३१.१, १.३२.१० १.३३.१२, १.३७.४।

में होती हैं, उन्हें विविधरूप से प्राप्त अथवा मेधावी सूर्य-रश्मियाँ अपने गमन-रूप कर्मों से, अर्थात् चन्द्रमण्डल में पहुँचकर पी लेती हैं।

अधियज्ञ—यज्ञ-रूप गन्धर्व के ध्रुव वद वेदि पर बैठ कर द्यावापृथिवी के घृत-मिश्रित हव्यरूप दूध की मेधावी ऋत्विज्-गण स्तुति-कर्मों से अथवा याग-कमों में स्तुति करते हैं।

तयोः द्यावापृथिव्योः स्वभूतं घृतवत्, घृक्षरणदीप्त्योः, क्षरणं घृतं तद्वत्। पयः उदकं विप्राः सर्वत्र विविधं प्राप्ताः मेधाविनो वा आदित्यरश्मयः रिहन्ति आस्वादयन्ति धीतिभिः कर्मभिर्गमनाख्यैः। गत्वेत्यर्थः। क्व ? गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे सुषुम्ना नाम सूर्यरश्मिः साऽत्र गौः उच्यते, तां धारयतीति गन्धर्वश्चन्द्रमाः। तद्वक्ष्यति—"अत्राह गोरमन्वत" ऋग् १.८४.१५ **इति। तस्य गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे स्थाने चन्द्रमण्डलाख्ये। या ह्येताः पूर्वपक्षे कलाख्याः चान्द्रमस्य आगामिन्य आपो भवन्ति रश्मयस्ता अपरपक्षे पिबन्ति। सोमोत्पत्त्याम्, "प्रथमा पिबते वह्निः" इत्याद्युक्तत्वात्। तदेतदिहोच्यते।**

अन्यथा वा योजना। तयोरुपस्तरणाभिघारणघृतेन तद्धविर्लक्षणं पयः त एव मेधाविन ऋत्विज स्तुवन्ति स्तुतिकर्नभिः। रिह स्तुतौ। सप्तम्यें वा तृतीया। धीतिषु यागकर्मसु। क्व ? गन्धर्वस्य ध्रुवे पदे। यज्ञो गन्धर्वः गोर्वाचो धारयितृत्वात्, तस्य ध्रुवं पदं वेदिस्तत्र।

२. अधोलिखित मन्त्र प्रथम अध्यात्मरूप में भगवान् विष्णुपरक व्याख्यात किया गया है, जिसमें आख्यान का पुट भी है; फिर अधिदैवतरूप से आदित्य-परक।

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदम्।
समूळहमस्य पांसुरे॥ —ऋग् १.२२.१७

अध्यात्म—भगवान् विष्णु ने बलि-बन्धन काल में इस सकल ब्रह्माण्ड को पार कर लिया। उन्होंने तीन स्थानों में—पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक में अथवा समारोहण, विष्णुपद और गयशिरस् में—अपने कदम रखे। उनका वह त्रिविध चरणन्यास सुप्रतिष्ठापित था, जैसे धूल-भरे स्थान में रखा चरण सुप्रतिष्ठापित होता है।

अधिदैवत—विष्णु आदित्य इस सब लोक को प्रतिदिन पार करता है। उदयाचल, मध्याकाश और अस्ताचल तीनों स्थानों पर

अपना पैर रखता है। इसका त्रिविध पग प्रत्येक पांसुल स्थान में सुप्रतिष्ठित है। अथवा पृथिवी में अग्निरूप से, अन्तरिक्ष में विद्युत्रूप से और द्युलोक में सूर्यरूप से विष्णु ने अपना पैर रखा हुआ है। उनमें से अन्तरिक्ष में जो इसका विद्युत्रूप पैर है, वह बादलों में ढका हुआ है, सदा दिखाई नहीं देता।

विष्णुश्च भगवान् वासुदेवः। इदम् इति सर्वस्य प्रतिनिर्देशः। सर्वम् इदं विष्णुः बलिबन्धनकाले वि चक्रमे विक्रान्तवान्। केन प्रकारेण? त्रेधा स्थानभेदेन त्रिप्रकारं निहितवान्। पदम् आत्मीयम्। त्रिषु स्थानेषु पदं कृतवान् इत्यर्थः। पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवीत्येके। समारोहणे विष्णुपदे गयशिरसीत्यन्ये। तच्च त्रिविधम् अपि समूढम् वह प्रापणे इत्येतस्यैतद् रूपम्। सम्यक् दृढ़ं प्रापितम्। सम्यक् प्रतिष्ठापितम् इत्यर्थः। अस्य स्वभूतम्। कथम्? पांसुरे पांसवो यस्मिन् सन्ति स पांसुरः। रो मत्वर्थीयः। लुप्तोपमं चेदं द्रष्टव्यम्। पांसुर इव। यथा पांसुमति देशे प्रतिष्ठापितमित्यर्थः। लुप्तोपमं चेदं द्रष्टव्यम्। पांसुर इव। यथा पांसुमति देशे प्रतिष्ठापितमित्यर्थः। अस्य स्वभूतं वा भवेत् तद्वदित्यर्थः। अथवा पांसुशब्दः पृथिवीमाह समारोहणं वा तद्वत्। पदं विष्णोः तत् समूढम्।

विष्णुरादित्यो वा इदं सर्वमहरहर्विचक्रमे। त्रेधा उदयगिरौ नभोमध्ये वास्तगिरौ च। त्रिविधं सम्यक् प्रतिष्ठापितमस्य पदं पांसुरूपदेशे इति। केचित्तु संपूर्वस्य मुहे रूपमिति समूढं छन्नं न दृश्यते इत्यर्थः। अथवा त्रेधा निदधे पदम् अग्न्यात्मना पृथिव्यां वैद्युतात्मनान्तरिक्षे आदित्यात्मना दिवि। एकमेवेदं ज्योतिस्त्रेधा विभक्तमिति एतत् वक्ष्यति—"तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कम्" ऋग् १०.८८.१० इति। तत्र यदन्तरिक्षे वैद्युतात्मकस्य पदं तत् समूढं छन्नं न दश्यत इत्यर्थः।

३. निम्न मन्त्र में प्रथम आख्यान-मिश्रित अधियज्ञ व्याख्या की गयी है, फिर अध्यात्म।

इमामग्ने शरणिं मीमृषो न इममध्वानं यमगाम दूरात्।
आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां भृमिरस्यृषिकृन्मर्त्यानाम्॥

—ऋग् १.३१.१६

अधियज्ञ—हिरण्यस्तूप ऋषि यज्ञ के लिए अग्नि को ले आया,

किन्तु फिर राक्षसों के भय से उसे छोड़ कर भाग गया। राक्षसों के चले जाने के बाद जब फिर लौट कर आया तब अपने आपको अपराधी जान अग्नि से कहता है—हे अग्नि हमारे द्वारा की गयी अपनी इस हिंसा (उपेक्षा) को क्षमा कर दो, जो कि हम तुम्हें छोड़ कर रास्ते पर दूर चले गये। तुम सोमसम्पादक यजमानों के सम्बन्धी हो, पिता हो, अनुग्रहकर्ता हो, त्रिलोकी में भ्रमण करने वाले हो, और अन्धकार का अपघात करके मनुष्यों को दर्शन कराने वाले हो।

अध्यात्म—हे अग्नि, हमारी संसार-प्राप्तिरूप हिंसा को दूर कर दो, जो कि हम सृष्टि के प्रारम्भ से संसार-मार्ग में चलते रहे हैं। तुम सौम्य पुरुषों के सम्बन्धी, पिता और अनुग्रहीता हो। तुम्हीं मनुष्यों के भ्रान्ति के कर्ता भी हो और सम्यग् ज्ञान के कर्ता भी, अर्थात् संसार-प्राप्ति और मोक्ष दोनों तुम्हारे अधीन हैं।

अत्रेतिहासः—"हिरण्यस्तूपो यागायाग्निं विहृत्य रक्षोभयाद् दूरं गत्वा गतेषु रक्षस्सु प्रत्यागतः कृतापराधत्वाभिप्रायेणाग्निमाह— इमाम् हे अग्ने, शरणिम् शृ हिंसायाम्। आत्मनो हिंसाम्। मीमृषः मृष तितिक्षायाम् इति स्वार्थिको णिच्। लोडर्थे लुङ्। मीमृषः क्षमस्व। नः अस्माकम्। इमम् अध्वानम् यम् अगाम त्वां विहृत्या-निष्ट्वा रक्षोभयाद् गताः स्मः दूरात् दूरम्। किं कारणम्? उच्यते। यस्मात् आपिः ज्ञातिः त्वम्। कीदृशः? पिता पितृस्थानीयः। प्रमतिः प्रकृष्टमतिः अनुग्रहपरः। केषाम्। सोम्यानाम् सोमसम्पादिनां सर्वयजमानानाम्। किञ्च भृमिः असि लोकत्रयेऽपि भ्रमितासि। त्रिष्वपि लोकेष्वप्रतिहतगतिरित्यर्थः। तमोऽपघातद्वारेण च दर्शन-कृन्मनुष्याणाम्।

अथवैवमन्यथाऽस्या ऋचोऽर्थयोजना—इमां हे अग्ने, शरणिं संसारप्राप्तिलक्षणां हिंसां मीमृषो नः। मृजेरिदं जकारस्य षकारं कृत्वा छान्दसं रूपम्, न मृषेः। मार्जय अपनयास्माकं संसारा-ध्वानमिमं यमगाम प्राप्ताः स्मः। दूरात् सृष्टेः प्रभृति। किं कारणम्? यस्मात् त्वम् आपिः पिता प्रमतिः सोम्यानां यस्माच्च भृमिरसि। भ्राम्यतेर्ण्यन्तस्येदं रूपम् भ्रान्तेः कर्तासि। ऋषिकृत् दर्शनकृत् सम्यग्ज्ञानकरश्च मनुष्याणाम्। एतदुक्तं भवति—भ्रान्तेः सम्यग्ज्ञानस्य च त्वं कर्ता। त्वदायत्तौ च संसारप्राप्तिमोक्षौ। त्वं च

पितृवत् सर्वयजमानानामनुग्रहपरः। अतोऽस्मान् सम्यग्ज्ञानोत्पादनेन मोचयास्मात् संसारादिति।

भट्ट भास्कर

सायण से पूर्ववर्ती, यजुःशाखा तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर का निम्न मन्त्र का भाष्य अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है, जिसमें वे हंस का अर्थ अध्यात्म में आत्मा, अधिदैवत में आदित्य तथा अधियज्ञ में रथ करते हैं—

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत्॥

—तै० सं० १.८.१५.२

अध्यात्म—आत्मारूप हंस पवित्र स्थानों में आसीन होने से शुचिसद्, निवासक या वरिष्ठ होने से वसु, हृदयाकाश आदि में स्थित होने से अन्तरिक्षसद्, देवों का आह्वाता या ग्रहणकर्ता होने से होता, यज्ञार्थ वेदि पर स्थित होने से वेदिषद्, सतत गति वाला या तिथिरहित होने से अतिथि, दुःख से रक्षा करने वाले गृहादि में स्थित होने से दुरोणसद्, प्राणियों के शरीरों मे तद्भाव से स्थित होने के कारण नृषद्, श्रेष्ठ फलों में भोक्तारूप से स्थित रहने के कारण वरसद्, यज्ञ या सत्य में आसीन होने से ऋतसद्, विविध रक्षण या तृप्ति में स्थित होने से व्योमसद्, शरीररूप में जलों से उत्पन्न होने के कारण या यज्ञ द्वारा जलों का उत्पादक होने के कारण अब्जाः, गौओं में अनुग्राहकरूप से उत्पन्न होने के कारण गोजाः, यज्ञ में यज्ञ के लिए प्रादुर्भूत होने से ऋतजाः, पर्वत आदि पर भी प्रादुर्भूत होने से अद्रिजाः, सत्यस्वरूप होने से ऋतम्, और महान् होने से बृहत् है।

अधिदैव—आदित्यरूप हंस पवित्र मण्डल में स्थित होने से शुचिषद्, जलों का ग्रहणकर्ता होने से होता, वेदि में आराध्यतया स्थित होने से वेदिषद्, सततगति होने से अतिथि, मेष राशि आदि गृहों में स्थित होने से दूरोणसद्, दाता रूप में वरों में स्थित होने से वरसद्, जलों को उत्पन्न करने से अब्जाः, रश्मिसमूहवर्ती होने से गोजाः, सत्य में उत्पन्न होने से ऋतजाः और उदयाचल से उत्पन्न होने से कारण अद्रिजाः है। शेष पूर्ववत्।

अधियज्ञ—रथ रूप हंस पवित्र देवयजन और पवित्र रथवाहन

में स्थित होने से अथवा क्योंकि पवित्र यजमान उसमें बैठता है इस कारण शुचिषद् है, होता के समान वेदि पर स्थित होने से या मनुष्यों पर उपकार करने के लिए स्थित होने से नृषद् है। सत्य या यज्ञ के लिए स्थित होने से ऋतसद् है, जल से उत्पन्न होने के कारण अब्जाः है, गोजन्य चर्मादि से ग्रथित होने के कारण गोजाः है, और दारुओं से उत्पादित होने के कारण अद्रिजाः है। शेष सुगमार्थ।

अध्यात्मम् अधिदैवम् अधियज्ञं चाधिकृत्य त्रेधेमं मन्त्रं व्याचक्षते, तत्र प्रकरणानुरूपोऽर्थविशषो ग्रहीतव्यः। अध्यात्मे तावत्—हंसः आत्मा। शुचिषु स्थानेषु सीदतीति शुचिषत्। वासयिता वसुः वरिष्ठो वा। अन्तरिक्षे हृदयाकाशादिषु सीदतीति अन्तरिक्षसत्। होता आह्वाता देवानामादाता वा। वेद्यां यागार्थं सीदति इति वेदिषत्। अतिथिः सततगतिः, तिथिकृतविशेषरहितो वा। दुःखरक्षणेषु गृहादिषु सीदतीति दुरोणसत्। नृषु प्राणिशरीरेषु तद्भावेन सीदतीति नृषत्। वरेषु फलेषु भोक्तृत्वेन सीदतीति वरसत्। नृषु प्राणिशरीरेषु तद्भावेन सीदतीति नृषत्। वरेषु फलेषु भोक्तृत्वेन सीदतीति वरसत्। ऋते यज्ञे सत्ये वा सीदतीति ऋतसत्। विविधे रक्षणे तृप्तौ वा सीदतीति व्योमसत्। अद्भ्यो जातः अब्जाः शरीराभिप्रायं, शुक्लाज्जातत्वात्। यथा—"पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" छा० उ० ५.३.३ इति। अपां वा यागद्वारेण जनयिता। अन्तर्भावितण्यर्थात् "जनसनखन" पा ६.४.४२ इति विट्, "विड्वनोः" ६.४.४१ इत्यात्वम्। गोषु पशुषु अनुग्राहकतया जातः गोजाः। ऋते यज्ञे ऋतार्थं वा जातः प्रादुर्भूतः ऋतजाः। अद्रिजाः पर्वतादिष्वपि प्रादुर्भूतः। ऋतं सत्यरूपम्। बृहत् ब्रह्म।

अथाधिदैवे—हंसः आदित्यः शुचिनि मण्डले सीदतीति शुचिषत्। होता अपामादाता, वेद्यामाराध्यतया सीदतीति वेदिषत्। अतिथिः सततगतिः। दुरोणेषु गृहेषु मेषादिषु सीदतीति दुरोणसत्। वराणां दातृत्वेन तेषु सीदतीति वरसत्। अपो जनयतीति अब्जाः। गोजाः रश्मिसमूहवर्ती। ऋते सत्ये जातः ऋतजाः। अद्रिजाः उदयाचलात् प्रादुर्भूतः। समानमन्यत्।

अधियज्ञे—हंसः रथः, हन्ति पृथिवीमिति। शुचौ देवयजने रथवाहने च सीदतीति शुचिषत्। शुचिर्यजमान सीदत्यस्मिन्निति

वा शुचिषत्। होतेव वेद्यां सीदतीति वेदिषत्। अतिथिः सर्वत्राप्रतिहतगतिः। नृषत् मनुष्यार्थं शूरार्थं वा सीदतीति नृषु वा उपकारार्थं सीदतीति नृषत्। ऋतार्थं यज्ञार्थं वा सीदतीति ऋतसत्। अब्जाः उदकाज्जातः। गोजाः गोविकारचर्मादिग्रथितत्वात् ततो जात इत्युच्यते। अद्रिभिर्दारुभिरुत्पादितत्वात् ततो जात इत्युच्यते अद्रिजाः। गतमन्यत्।

उवट और महीधर

उवट और महीधर वाजसनेयी माध्यन्दिन संहिता के भाष्यकार हैं। उवट सायण से पूर्ववर्ती तथा महीधर परवर्ती हैं। महीधर-भाष्य उवट-भाष्यानुसारी है। दोनों का भाष्य याज्ञिक कर्मकाण्ड परक है तथा विनियोगों का अनुसरण करता है। अतः इनके भाष्य में मन्त्रों की विभिन्न प्रक्रियाओं में व्याख्या का अवसर नहीं था। तो भी कहीं-कहीं एकाधिक व्याख्याओं के संकेत मिलते हैं। अध्याय १९ काण्डिका ४४ "वैश्वदेवी पुनती देव्यागाद्" आदि के विषय में उवट लिखते हैं—

वैश्वदेवी त्रिष्टुप् अनिर्ज्ञाताभिधेया प्रवह्लिकेव, तत्र काञ्चिद् देवतामङ्गीकृत्य व्याचक्ष्महे। शतातृण्णा कुम्भी दक्षिणस्याग्नेरुपरिष्टात् क्षरति। सा चाभिधेया सौत्रामणी वा वाग् वा उखा वेत्यादि।

अर्थात् यह कण्डिका अनिर्ज्ञात अभिधेय वाली तथा पहेली के रूप की है। अतः किसी भी एक देवता को लेकर व्याख्या करते हैं। दक्षिणाग्नि के ऊपर शतछिद्र कुम्भी क्षरित होती है। वह अभिधेय हो सकती है, अथवा सौत्रामणी, अथवा वाक्, अथवा उखा भी अभिधेय हो सकती है। महीधर ने भी ऐसा ही लिखा है। स्वयं दोनों ने सुराकुम्भी-परक व्याख्या दी है।

'**चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादाः**, यजुः १७.९१' की उवट और महीधर दोनों ने एक यज्ञ-परक और दूसरी शब्द-ग्राम-परक व्याख्या दी है। "अग्निश्च पृथिवी च संनते, यजुः २६.१" के अन्तर्गत "सप्त संसदो अष्टमी भूतसाधनी" इस वाक्य की दोनों भाष्यकारों ने एक अधिदैवत और दूसरी अध्यात्म व्याख्या की है, यद्यपि वहाँ अधिदैवत और अध्यात्म शब्दों का नाम नहीं लिया है। एक व्याख्या

के अनुसार अग्नि, वायु अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौ, आप:, वरुण ये सात संसद् हैं। फिर 'विज्ञानात्मा वोच्यते' यह विकल्प प्रस्तुत करते हुए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि से सात संसद् बतायी हैं तथा आठवीं वाक् कही है, जो भूतसाधनी अर्थात् भूतविज्ञप्तिकरी या भूतवशीकर्त्री है।

निम्न कण्डिका का महीधर ने अधिदैवत उषापरक तथा अध्यात्म वाक्परक व्याख्यान किया है, जबकि इसी मन्त्र को ऋग्वेद ६.५९.६ में सायण ने केवल उषापरक लिया है। उवट की व्याख्या केवल वाक्परक है।

इन्द्राग्नी अपादियं पूर्वागात् पद्वतीभ्यः।
हित्वी शिरो जिह्वया वावदच्चरत् त्रिंशत् पदा न्यक्रमीत्॥

—यजुः० ३३.८३

"हे इन्द्रग्नी, स्वयं पादरहित भी यह उषा पैरों वालियों से पहले आ जाती है। स्वयं अशिरस्क होती हुई भी प्राणियों की जिह्वा द्वारा पुनः पुनः बोलती हुई विचरती है। ऐसी यह उषा एक अहोरात्र में ३० मुहूर्तों को पार कर जाती है।"

"अथवा इन्द्र प्राण है, अग्नि पुरुष है। हे इन्द्राग्नी, तुम्हारा ही यह कर्म है कि पादरहित भी यह गद्यात्मिका त्रयीलक्षणा वाक् पादयुक्त पद्यात्मिका लौकिक वाणियों से प्रथमभाविनी होती हुई आती है। यह शिरःस्थानीय आख्यातपद से रहित होकर विद्वान् की वागिन्द्रिय से बोलती हुई प्रकाशित होती है। यह मूलाधार से लेकर मुखपर्यन्त गिने जाने वाले ३० अंगुलों को पार करके स्थित होती है।"

सुहोत्रदृष्टा इन्द्राग्निदेवत्या प्रवह्लिका। हे इन्द्राग्नी, अपात् स्वयं पादरहितापि इयमुषाः पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यः सुप्ताभ्यः प्रजाभ्यः पूर्वा प्रथमभाविनी सती आ अगात् आगच्छति। सा च तासां प्रजानां शिरो हित्वी निद्रात्याजनेन प्रेरयित्री। यद्वा शिरो हित्वा त्यक्त्वा स्वयमशिरस्का सती जिह्वया प्राणिनां वागिन्द्रियेण वावदत्। यङ्लुगन्तं, भृशं शब्दं कुर्वती सती चरत् चरति प्रसरति। अडभावः। एवं चरन्ती उषा एकदिनेन त्रिंशत्संख्यानि पदा पदानि गमनसाधनभूतान् मुहूर्तान् नि अक्रमीत् नितरां क्रमते। अहोरात्रेण त्रिंशन्मुहूर्तान् क्रामतीत्यर्थः।

यद्वा वाक्पक्षेऽर्थः। इन्द्रः प्राणः अग्निः पुरुषः। हे इन्द्राग्नी, युवयोरेवैतत् कर्म यत् अपात् पादरहिता गद्यात्मिका त्रयीलक्षणेयं वाक् पूर्वा प्रथमभाविनी सती आ अगात्। पद्वतीभ्यः पादयुक्ताभ्यो रामायणभारतादिश्लोकात्मकवाल्मीकिव्यासादिवाणीभ्यः सकाशात् वेदवाचः प्राथम्यं श्रुत्योक्तम्, ततो ब्रह्मैव प्रथमसृज्यतेति। एवं प्रथमजाया वाचोऽविकृतत्वं निर्णीय मानुष्या वाचो विकृतत्वमाह हित्वी शिर इति। शिर इति प्राधान्यादाख्यातपदमुच्यते। अभ्याज गां दण्डेन शुक्लां, शुक्लां गां दण्डेनाभ्याजेत्येवं।

लौकिक्या वाचः पदप्रयोग नियमाभावात् शिरः शिरस्थानीय माख्यातपदं हित्वा त्यक्त्वा जिह्वया विदुषो वागिन्द्रियेण वावदत् अतिवदन्ती सती चरति प्रकाशीभवति। एवं चरन्ती सा त्रिंशत्पदानि न्यक्रमीत् क्रमति। अत्र पदशब्दोऽङ्गुलवचनः। मूलधारादारभ्य त्रिंशदङ्गुलानि क्रामति। एवं वाग्विषयोऽर्थः।

उपसंहार

ऊपर ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, निरुक्त, निरुक्त-टीकाकार एवं वेदभाष्यकारों के जो उदाहरण प्रदर्शित किये गये हैं, उनसे यह प्रमाणित होता है कि परम्परा से वेदमन्त्रों के अर्थ एकाधिक वेदार्थ-प्रक्रियाओं की दृष्टि से किये जाते रहे हैं। यहाँ विभिन्न आचार्यों की जो वेद-व्याख्याएँ उद्धृत की गयी हैं, वे केवल यह निरूपित करने के लिए हैं कि किसी एक मन्त्र की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या करने की वेदभाष्यकारों की प्रवृत्ति रही है। भाष्यकारों ने जो अर्थ दिये हैं, वे सभी स्वसम्मत हैं, यह अभिप्राय नहीं है।

इस अध्याय में वेदभाष्यकारों के एकाधिक प्रक्रियाओं के मन्त्रार्थ देते हुए आधुनिक युग के महामनीषी वेदभाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य को नहीं लिया गया है, यतः उनकी वेदार्थ-मान्यता पर अगले अध्यायों में स्वतन्त्ररूप से विचार किया जायेगा।

□□

अध्याय तृतीय

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की वेदार्थ-प्रक्रियाएँ

स्वामी दयानन्दः वेदभाष्यकार के रूप में

स्वामी दयानन्द १९वीं शताब्दी ईस्वी के भारतीय गगन में एक महान् संमाजसुधारक, धर्मप्रचारक और वेदोद्धारक आदित्य के रूप में उदित हुए। इनकी समस्त समाज-सुधार-योजना वेदों का आधार लेकर चली। जो वेदानुकूल है, उसे इन्होंने मान्यता दी और वेद-प्रतिकूल को त्याज्य घोषित किया। परन्तु क्या वेदानुकूल है और क्या वेद-प्रतिकूल इसका विवेक कैसे हो ? दण्डी स्वामी विरजानन्द से अध्ययन कर चुकने के पश्चात् स्वामी दयानन्द का कार्यकाल सन् १८६३ से १८८३ तक लगभग बीस वर्ष रहा। इस बीच वे अपने व्याख्यानों, वार्तालापों और शास्त्रार्थों से वेदानुकूल का प्रचार और वेदविरुद्ध का खण्डन करते रहे। सायण, महीधर आदि के वेदभाष्यों से उन्हें सन्तोष न था। अतः बाद में उन्होंने स्वयं चारों वेदों का भाष्य करने की योजना तैयार की।

प्रथम ऋग्वेद-भाष्य का उपक्रम करना था। किन्तु उसे आरम्भ करने से पूर्व महर्षि दयानन्द ने वेदभाष्य का नमूने का अंक प्रकाशित किया, जिसमें ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का भाष्य किया था। इसे उन्होंने अनेक विद्वानों के पास सम्मत्यर्थ भेजा, जिससे यदि कोई शंका करें तो उसका उत्तर देकर ही आगे भाष्य में प्रवृत्त हुआ जाये। इसमें कुछ मन्त्रों में अग्नि का अर्थ परमेश्वर और भौतिक अग्नि दोनों किये गये थे। अग्नि का अर्थ परमेश्वर करने पर उस समय वेदों के विद्वान् माने जाने वाले कई व्यक्तियों ने अपनी असहमति प्रकट की थी, जिनमें क्वीन्स कालेज बनारस के प्रिंसिपल ग्रिफिथ तथा संस्कृत कालेज कलकत्ता के कार्यवाहक प्रिंसिपल पं० महेशचन्द्र न्यायरत्न प्रमुख थे। पं० महेशचन्द्र के आक्षेपों का उत्तर महर्षि ने अपनी भ्रान्तिनिवारण नामक पुस्तक में दिया है। सबके आक्षेपों का समाधान करने के अनन्तर ही महर्षि वेदभाष्य में प्रवृत्त हुए। प्रथम उन्होंने विस्तृत

भूमिका 'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' नाम से लिखी, जिसमें अपनी वेद-विषयक मान्यताओं की विस्तार से सप्रमाण स्थापना की। यह भूमिका संवत् १९३३ (सन् १८७६) में लिखी गयी। इस भूमिका पर राजा शिवप्रसाद ने कुछ आक्षेप किये थे, जिनका उत्तर स्वामी जी ने अपनी भ्रमोच्छेदन पुस्तिका में दिया है।

संवत् १९३४, मार्गशीर्ष शुक्ला ६, (सन् १८७७) को ऋग्वेद-भाष्य का आरम्भ हुआ। पश्चात् पं० गोपालराव हरि देशमुख के प्रस्ताव पर महर्षि साथ-साथ यजुर्वेद का भाष्य करने के लिए भी सहमत हो गये[१]। यजुर्वेदभाष्य के प्रस्ताव में यह कारण रहा होगा कि सर्वत्र यजुर्वेदीय कर्मकाण्ड का अधिक प्रचार था, जिसमें पशु-बलि आदि सम्बन्धी भ्रान्तियाँ भी थीं। अतः उक्त प्रस्ताव के अनुसार ऋग्वेदभाष्य के साथ-साथ संवत् १९३४, पौष शुक्ला १३, (सन् १८७७) को वाजसनेयि माध्यन्दिन शुक्ल यजुर्वेदसंहिता का भाष्य भी महर्षि ने प्रारम्भ कर दिया। ऋग्वेद-भाष्य मण्डल ७, सूक्त ६१, मन्त्र २ तक ही हो पाया, किन्तु यजुर्वेदभाष्य सम्पूर्ण हो गया। छठे मण्डल तक ऋग्भाष्यपूर्ति के पश्चात् महर्षि का अनुमान था कि "एक वर्ष में सब ऋग्वेदभाष्य पूरा हो जायेगा और एक या डेढ़ वर्ष साम और अथर्व में लगेगा[२]।" किन्तु इसके दो मास एक सप्ताह बाद ही महर्षि का शरीरान्त हो गया। सत्यार्थप्रकाश, पंचमहायज्ञविधि, आर्याभिविनय, संस्कारविधि नामक ग्रन्थों में भी महर्षि के वेद-विषयक विचार तथा वेदमन्त्रों के व्याख्यान पाये जाते हैं।

अपने वेदभाष्य के विषय में महर्षि का यह कथन है कि ब्रह्मा से लेकर याज्ञवल्क्य, वात्स्यायन, जैमिनिपर्यन्त विद्वान् ऋषियों ने जो ऐतरेय, शतपथ आदि भाष्य रचे थे, पाणिनि, पतञ्जलि, यास्क आदि महर्षियों ने जो वेद-व्याख्यान और वेदाङ्ग निर्मित किये थे, जैमिनि आदियों ने जो वेदों के उपाङ्ग षट् शास्त्र बनाये थे और इसी प्रकार जो उपवेद तथा वेदों की शाखाएँ रची थीं, उनकी सहायता लेते हुए मैं

---

१. द्रष्टव्य : ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, १९५५, पृ० ५०।

२. द्रष्टव्य : वही, पृ० ४५६-५७ स्वामी जी का मुंशी समर्थदान जी के नाम भाद्र, बदी ५, संवत् १९४० (२३ अगस्त १८८३) को लिखा पत्र। किन्तु ३० अक्तूबर १८८३ को स्वामी जी का शरीरान्त हो गया।

अपने भाष्य में सत्य अर्थ का प्रकाश कर रहा हूँ, कोई बात अप्रामाणिक और कपोल-कल्पित नहीं लिख रहा हूँ।[३] इस भाष्य का फल क्या होगा, इसका उत्तर देते हुए वे लिखते हैं—

यानि रावणोवटसायणमहीधरादिभिर्वेदार्थविरुद्धानि भाष्याणि कृतानि यानि चैतदनुसारेणेङ्गलेण्डशार्मण्यदेशोत्पन्नैर्यूरोप-खण्डदेशनिवासिभिः स्वदेशभाषया स्वल्पानि व्याख्यानानि कृतानि तथैवार्य्यावर्तदेशस्थैः कैश्चित् तदनुसारेण प्राकृत-भाषया व्याख्यानानि कृतानि वा क्रियन्ते च, तानि सर्वाण्य-नर्थगर्भाणि सन्तीति सज्जनानां हृदयेषु यथावत् प्रकाशो भविष्यति। टीकानामधिकदोषप्रसिद्ध्या त्यागश्च[४]।

अर्थात् रावण, उवट, सायण, महीधर आदियों ने जो वेदार्थविरुद्ध भाष्य किये हैं, और उन्हीं का अनुसरण करते हुए इंगलैण्ड व जर्मनी देश में उत्पन्न यूरोपखण्डनिवासियों ने अपने-अपने देश की भाषा में जो स्वल्प व्याख्यान किये हैं तथा उन्हीं के अनुसार आर्यावर्तदेशस्थ किन्हीं लोगों ने प्राकृतिक (हिन्दी) भाषा में जो व्याख्यान किये हैं और जो किये जा रहे हैं वे सब अनर्थ से भरे हुए हैं, ऐसा सज्जनों के हृदयों में यथावत् प्रकाश हो जायेगा और उन टीकाओं में क्योंकि दोष अधिक हैं, अतः उनका त्याग किया जा सकेगा।

वेद-विषय में स्वामी दयानन्द की प्रमुख धारणाएँ इस प्रकार हैं, जो उपर्युक्त ग्रन्थों से तथा उनके कतिपय अन्य ग्रन्थों से ज्ञात होती हैं—

१. ऋग्वेद, यजुर्वेद (वा० मा० शुक्लयजुर्वेदसंहिता), सामवेद (कौथुम), अथर्ववेद (शौनकीय) ये चार ही मूल वेद संहिताएँ हैं। इतर ११२६ शाखाएँ इनकी व्याख्यानभूत हैं। ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषदें वेद नहीं हैं, अपितु वेदों का व्याख्यान करने वाले हैं। "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" यह कथन निराधार है। ईश्वरोक्त अतएव स्वतः प्रमाण केवल चार वेद ही हैं, शेष वैदिक साहित्य परतः प्रमाण है, अर्थात् वेदानुकूल होने पर ही प्रमाण है।

२. वेद नित्य हैं, प्रलय हो जाने पर भी ईश्वर के ज्ञान में रहते हैं।

३. ऋ० भा० भू०, "भाष्यकरणशंकासमाधानादिविषयः" का प्रारम्भिक भाग।

४. वही।

सृष्टि के आदि में अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरस् नामक ऋषियों के हृदयों में क्रमशः ऋग्, यजुः, साम और अथर्व वेदों का परमेश्वर ने प्रकाश किया है। वेद उस ज्ञान का नाम है। वेद की पुस्तकों को वेद इस कारण कहते हैं, क्योंकि उनमें वह ज्ञान लिखा रहता है।

३. वेदों में मूलोद्देशतः सब विद्याएँ हैं। यथा ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, भूगोलविद्या, खगोलविद्या, गणितविद्या, योगविद्या, मुक्तिविद्या, नौविमानादिविद्या, तारविद्या, आयुर्वेदविद्या, पुनर्जन्मादिविद्या, राजप्रजाविद्या, वर्णाश्रमकर्तव्यविद्या, यज्ञविद्या, शिल्पविद्या, धनुर्विद्या, वाणिज्यविद्या, कृषिविद्या आदि।

४. वेदों में अनेक देवों की पूजा का वर्णन नहीं है, प्रत्युत वेदों में अग्नि, इन्द्र, वरुण, मित्र आदि देवता एक ही परमेश्वर के विभिन्न गुणों को बताने वाले नाम हैं। साथ ही वे श्लेषालंकार आदि द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में अग्नि, सूर्य, विद्युत्, आत्मा, प्राण, राजा, सेनापति आदि अर्थों को भी देते हैं।

५. वेदों के शब्द यौगिक या योगरुढ़ हैं, किसी एक ही अर्थ में रूढ़ नहीं हैं। इस कारण वे अनेक अर्थों को प्रकट करने में समर्थ हैं। यह आग्रह करना उचित नहीं है कि लोक में किसी शब्द का जो अर्थ है, केवल वही सर्वत्र वेद में भी अभिप्रेत है।

६. वेदों में किन्हीं ऋषियों, राजाओं, नगरियों, नदियों आदि का इतिहास नहीं है। ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले नामों का यौगिक या योगरुढ़ अर्थ है।

७. वेदों में पशुबलि, नरबलि, मांसभक्षण आदि अमानवोचित कार्यों का समर्थन तथा अश्लील बातें नहीं है। जो वेदभाष्य वेद में इनका समर्थन करते हैं, वे भ्रान्त हैं।

८. वेदार्थ करते हुए पूर्वकृत विनियोगों का अनुसरण करना अनिवार्य नहीं है। उनसे स्वतन्त्र होकर भी वेदार्थ किया जा सकता है।

९. वेद पढ़ने का अधिकार मनुष्यमात्र को है। स्त्री, शूद्र आदि को उनसे वंचित रखना न्याय नहीं है।

१०. वेदों में पितृयज्ञ का अभिप्राय जीवित पितरों की पूजा है, मृतों की नहीं।

११. ऐसे कोई देवता-विशेष वेदों को अभिममत नहीं हैं, जो ऊपर कहीं स्वर्ग में रहते हैं तथा जिनके असुरों से युद्ध होते हैं। न ही वेदोक्त आर्य और दस्युओं या दासों के युद्ध से आर्य और द्रविड़ जातियों के मध्य होने वाले कोई ऐतिहासिक संग्राम अभिप्रेत हैं। देव या देवता शब्द समाज में विद्वानों का वाचक है। माता, पिता, अतिथि, आचार्य आदि सभी देव हैं और दिवु धातु के विभिन्न अर्थ जिनमें घटित होते हैं वे ईश्वर, आत्मा, प्राण, इन्द्रिय, सूर्य, चन्द्र आदि भी देव हैं।

१२. वेदों के सविता, सूर्य, विष्णु आदि तथा उषा, अदिति, सरस्वती आदि पुंलिङ्गी और स्त्रीलिङ्गी देवता जैसे किन्हीं प्राकृतिक पदार्थों के वाची हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुषों और स्त्रियों के वाची भी हैं। अत: वेदों में प्राकृतिक पदार्थों के ज्ञान के साथ समाज-शास्त्र का भी उत्कृष्ट वर्णन है।

अपना भाष्य करते हुए महर्षि ने इन सभी बातों को निरन्तर ध्यान में रखा है तथा वेदभाष्य में उन्होंने एक क्रान्ति कर दिखायी है। यहाँ स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य की दिशा का एक सामान्य परिचय-मात्र दिया गया है, क्योंकि हमारा प्रकृत विषय वेदार्थ-प्रक्रियाएँ हैं।

स्वामी-दयानन्द-सम्मत पारमार्थिक तथा व्यावहारिक प्रक्रियाएँ

यों तो स्वामी दयानन्द वेदों में ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और विज्ञानकाण्ड इन चार का वर्णन मानते हैं, किन्तु इन विषयों को भी उन्होंने दो वर्गों में विभक्त कर दिया है, एक व्यावहारिक विषय और दूसरे पारमार्थिक विषय। संवत् १९३२ (सन् १८७५) में लिखी गयी अपनी आर्याभिविनय पुस्तक में महर्षि ने वेदमन्त्रों का केवल पारमार्थिक अर्थ प्रतिपादित किया है। इसकी उपक्रमणिका में वे स्वयं लिखते हैं—"इस आर्याभिविनय ग्रन्थ में मुख्यता से वेदमन्त्रों का परमेश्वर-सम्बन्धी एक ही अर्थ संक्षेप से किया है। दोनों अर्थ करने से ग्रन्थ बढ़ जाता। इससे व्यवहार-विद्या-सम्बन्धी अर्थ नहीं किया गया। परन्तु वेदों के भाष्य में यथावत् विस्तारपूर्वक परमार्थ और व्यवहारार्थ ये दोनों अर्थ सप्रमाण किये जायेंगे।" इस लेख से स्पष्ट है कि परमेश्वर-सम्बन्धी अर्थ को स्वामी जी परमार्थ कहते हैं। परमेश्वर-म्बन्धी अर्थ से उनका तात्पर्य

है परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना, क्योंकि उपक्रमणिका के निम्न श्लोक में उन्होंने लिखा है कि इस आर्याभिविनय पुस्तक में ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना और उपासना का वर्णन है—

स्तुत्युपासनयोः सम्यक् प्रार्थनायाश्च वर्णितः।
विषयो वेदमन्त्रैश्च सर्वेषां सुखवर्द्धनः॥ —श्लोक ६

अधिक स्पष्ट रूप में कहें तो परमेश्वर का स्वरूप, गुण-कर्म-स्वभाव, उसकी स्तुति, प्रार्थना, उपासना, योग, मुक्ति आदि विषय पारमार्थिक विषय कहलाते हैं। वेदमन्त्रों का एतत्परक अर्थ पारमार्थिक अर्थ कहलायेगा। शेष विषय व्यवहारार्थ में आते हैं। मन्त्रों का व्यवहार विद्या-परक अर्थ व्यावहारिक अर्थ कहलाता है। एक ही मन्त्र के पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थ भी हो सकते हैं। जिस प्रक्रिया से वेदमन्त्रों का पारमार्थिक अर्थ किया जाये वह पारमार्थिक प्रक्रिया और जिससे व्यावहारिक अर्थ किया जाये वह व्यावहारिक प्रक्रिया कहलायेगी। इस प्रकार स्वामी दयानन्द को पारमार्थिक और व्यावहारिक ये दो वेदार्थ-प्रक्रियाएँ अभिमत हैं, ऐसा समझा जा सकता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रतिज्ञा-विषय में इस सम्बन्ध में यह लेख मिलता है—

अथात्र यस्य-यस्य मन्त्रस्य पारमार्थिकव्यावहारिकयोर्द्वयोरर्थयोः श्लेषालङ्कारादिना सप्रमाणः सम्भवोऽस्ति, तस्य तस्य द्वौ द्वावर्थौ विधास्येते। परन्तु नैवेश्वरस्यैकस्मिन्नपि मन्त्रार्थेऽत्यन्तं त्यागो भवति। कुतः निमित्तकारणस्येश्वरस्यास्मिन् कार्ये जगति सर्वाङ्गव्याप्तिमत्त्वात्, कार्यस्येश्वरेण सहान्वयाच्च, यत्र खलु व्यावहारिकोऽर्थो भवति, तत्रापीश्वररचनानुकूलतयैव सर्वेषां पृथिव्यादिद्रव्याणां सद्भावाच्च। एवमेव पारमार्थिकेऽर्थे तस्मिन् कार्यार्थसम्बन्धात्सोऽप्यर्थ आगच्छतीति।

इस लेख से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं—

१. वेदों में पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार की विद्याओं का वर्णन है।

२. कुछ वेदमन्त्र ऐसे हैं, जिनमें श्लेषालंकार आदि से पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों प्रकार का अर्थ निकलता है।

३. कुछ वेदमन्त्रों का केवल व्यावहारिक अर्थ ही होता है।

तथापि ईश्वर अर्थ का सर्वथा त्याग उन मन्त्रों में भी नहीं है। शब्दार्थ ईश्वरपरक न होने पर भी जिस पदार्थ का उस मन्त्र में वर्णन है, उसका निमित्त कारण ईश्वर ही है और वह ईश्वर जगत् के सब पदार्थों में व्यापक है तथा प्रत्येक कार्य पदार्थ के साथ कर्ता होने के कारण उसका सम्बन्ध है। मन्त्रवर्णित सब पृथिव्यादि द्रव्यों की सत्ता ईश्वर द्वारा की गयी रचना की अनुकूलता के कारण ही है। अतः उन-उन पदार्थों केवर्णन द्वारा मन्त्र ईश्वर की भी सूचना देता है।

४. कुछ वेदमन्त्रों का केवल पारमार्थिक अर्थ ही होता है। तो भी जिस परमात्मा के विषय का मन्त्र वर्णन कर रहा है, उसका जगत् के कार्य पदार्थों से सम्बन्ध होने के कारण उन कार्य पदार्थों की सूचना भी मन्त्र देता है।

स्वामी जी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में अपने वेदभाष्य के विषय में जो प्रतिज्ञा की है, उसका यथासंभव वेदभाष्य में निर्वाह भी किया है। ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ही पहले ५ मन्त्रों में अग्नि पद से मोक्षसिद्धि के लिए ईश्वर और शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए भौतिक अग्नि अर्थ लेकर श्लेषालंकार द्वारा पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थों का ग्रहण किया है। किन्तु शेष चार मन्त्रों का केवल ईश्वर-परक पारमार्थिक अर्थ ही माना है। अतएव प्रथम सूक्त के भाष्य का उपसंहार करते हुए लिखा भी है—

"प्रथमसूक्ते पञ्चभिर्मन्त्रैः श्लेषालङ्कारेण व्यवहारपरमार्थ-विद्याद्वयसाधनं प्रकाशितम्, एवं चतुर्भिर्मन्त्रैरीश्वरस्योपासना स्वभावश्चास्तीति"।

आगे भी भाष्य में सर्वत्र यथायोग्य यही शैली रखी है। कहीं श्लेष से उभयपरक अर्थ किया है, कहीं केवल पारमार्थिक और कहीं केवल व्यावहारिक। यथा, सूक्त १४ के मन्त्र ७ में अग्नि के पारमार्थिक और व्यावहारिक दोनों अर्थ, मन्त्र ११ में केवल पारमार्थिक अर्थ और मन्त्र १२ में केवल व्यावहारिक अर्थ लिया है।

अग्नि आदि नामों का कहाँ पारमार्थिक अर्थ करना है और कहाँ व्यावहारिक या दोनों अर्थ इस विषय में सत्यार्थप्रकाश, प्रथम समुल्लास का निम्न विवेचन उपयोगी है—

"अग्नि आदि नामों से परमेश्वर के ग्रहण में **प्रकरण** और

विशेषण नियमकारक हैं। इससे क्या सिद्ध हुआ कि जहाँ-जहाँ स्तुति, प्रार्थना, उपासना, सर्वत्र व्यापक, शुद्ध, सनातन और सृष्टिकर्ता आदि विशेषण लिखे हैं वहीं-वहीं इन नामों से परमेश्वर का ग्रहण होता है और जहाँ-जहाँ ऐसे प्रकरण हैं कि—**ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः** (यजु० ३१.५), **श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत** (यजु० ३१.१२) **तेन देवा अयजन्त** (यजु० ३१.९), **पश्चाद् भूमिमथो पुरः** (यजु० ३१.५)—ऐसे प्रमाणों में विराट्, पुरुष, देव, आकाश, वायु, अग्नि, जल, भूमि आदि नाम लौकिक पदार्थों के होते हैं। क्योंकि जहाँ-जहाँ उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय, अल्पज्ञ, जड़, दृश्य आदि विशेषण भी लिखे हों वहाँ-वहाँ परमेश्वर का ग्रहण नहीं होता। वह उत्पत्ति आदि व्यवहारों से पृथक् है और उपरोक्त मन्त्रों में उत्पत्ति आदि व्यवहार हैं। इसी से यहाँ विराट् आदि नामों से परमात्मा का ग्रहण न होके संसारी पदार्थों का ग्रहण होता है। किन्तु जहाँ-जहाँ सर्वज्ञादि विशेषण हों वहीं-वहीं परमात्मा और जहाँ-जहाँ इच्छा द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और अल्पज्ञादि विशेषण हों वहाँ-वहाँ जीव का ग्रहण होता है। ऐसा सर्वत्र समझना चाहिए।''

वस्तुतः ही किन्हीं भी अनेकार्थक शब्दों का अर्थ करते हुए इस प्रकार के किन्हीं नियमों का ध्यान रखना अत्यन्त आवश्यक है। किसी भी अनेकार्थक शब्द के सर्वत्र सब अर्थ नहीं लिये जाते। यास्क ने वाणी-वाची शब्दों के प्रसंग में सरस्वती शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि सरस्वती शब्द वेद में नदी और मध्यमस्थानीय देवता वाक् दोनों अर्थों में आता है। यह लिखकर फिर उन्होंने **''इयं शुष्मेभिर्बिसखा इवारुजत्''** ऋग् ६.६१.२ आदि मन्त्र दिया है और यह कहा है कि इस मन्त्र में सरस्वती शब्द नदी अर्थ में आया है, जहाँ वाणी अर्थ में आया है वह मन्त्र दैवतकाण्ड में दिया जायेगा[५]। फिर मध्यमस्थानीय वाक् के अर्थ में दैवतकाण्ड में **''पावका नः सरस्वती''** ऋग् १.३.१० आदि मन्त्र दिया है[६]। इस प्रकार यास्क भी वेदव्याख्या करते हुए इस बात में सतर्क हैं कि अनेकार्थक शब्द का

---

५. निरु० २.२३।
६. निरु० ११.१८।

कहाँ क्या अर्थ करना है। काव्यशास्त्रियों ने भी अनेकार्थक शब्दों में अभिधा-शक्ति किसी एक अर्थ को बताने में नियन्त्रित कैसे हो जाती है इसके संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण आदि कतिपय हेतु बताये हैं। यथा—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः। सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः[७]॥

अधिदैवत, अध्यात्म आदि प्रक्रियाओं के स्थान पर स्वामी जी ने वेदार्थ की दो ही प्रक्रियाएँ स्वीकार की हैं—पारमार्थिक और व्यावहारिक। परन्तु यद्यपि स्वामी जी ने अधिदैवत, अध्यात्म आदि प्रक्रियाओं या अर्थों की चर्चा अपने वेदभाष्य और इतर ग्रन्थों में नहीं की है, तथापि उन प्रक्रियाओं से वेदमन्त्रों के जिस प्रकार के अर्थ गृहीत किये जाते हैं, उस प्रकार के अर्थों के वे विरोधी नहीं हैं, अपितु खूब खुलकर उन्होंने वैसे अर्थ किये हैं। यास्कीय निरुक्त को स्वामी जी परम प्रमाण मानते हैं, और निरुक्त में अधिदैवत, अध्यात्म आदि प्रक्रियाओं को स्वीकार किया गया है, अतः उनसे विरोध होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। वस्तुतः स्वामी दयानन्द-सम्मत पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रक्रियाओं में ही ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़कर शेष सब प्रक्रियाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। पूर्ववर्णित अधिदैवत प्रक्रिया के अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु आदि प्राकृतिक पदार्थ सम्बन्धी अर्थ, ज्योतिषविद्या सम्बन्धी अर्थ एवं भौतिकविज्ञान सम्बन्धी अर्थ; अध्यात्म प्रक्रिया के शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा सम्बन्धी अर्थ; अधियज्ञ प्रक्रिया के यज्ञ सम्बन्धी विधिविधान और अधिभूत प्रक्रिया के शिक्षा, परिवार, संघ, समाज, राष्ट्र आदि परक अर्थ सब व्यावहारिक प्रक्रिया में समाविष्ट होंगे। अध्यात्म प्रक्रिया के परमेश्वर सम्बन्धी अर्थ तथा जीवात्मा द्वारा विभिन्न साधनों का अवलम्बन करके परमेश्वर प्राप्ति सम्बन्धी अर्थ पारमार्थिक प्रक्रिया में आयेंगे। अधिदैवत प्रक्रिया के अभिमानिदेवतावाद को तथा ऐतिहासिक प्रक्रिया को महर्षि दयानन्द स्वीकार ही नहीं करते, अतएव उनके समावेश

---

७. मम्मट के काव्यप्रकाश २.१९ से उद्धृत। सोदाहरण व्याख्या काव्यप्रकाश में द्रष्टव्य।

का प्रश्न ही नहीं है।

दो ही प्रक्रियाएँ क्यों ?

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि ब्राह्मणग्रन्थ, निरुक्त आदि में उल्लिखित अधिदैवत, अध्यात्म आदि प्रक्रियाओं को महर्षि ने उन्हीं नामों से स्वीकार क्यों नहीं किया। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि उन नामों के साथ कई ऐसी भावनाएँ जुड़ी हुई थीं जोकि महर्षि को अभिमत नहीं थीं, साथ ही उन नामों से प्रचलित प्रक्रियाओं का स्वरूप भी अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध था। जैसे अधिदैवत या आधिदैविक नाम के साथ अभिमानिदेवतावाद की कल्पना जुड़ी है। एक सम्प्रदाय ऐसा है जो यह मानता है कि अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, रात्रि, उषा, समुद्र, नदी, रथ, ज्या, इषु, दुन्दुभि, ओषधि, उलूखल-मुसल आदि सबके पीछे एक-एक चेतन देवता है। इसके अधिदैवत नामकरण का कारण भी यही प्रतीत होता है। अधिदैवत नाम से वेद में बहुदेवतावाद की भी भ्रान्ति होती है। अधिदैवत प्रक्रिया से अचेतन प्राकृतिक पदार्थों का ग्रहण करने का मत अधिदैवत प्रक्रिया का परिष्कृत रूप ही है। फिर कुछ के मत में परमात्मा सम्बन्धी अर्थ भी अध्यात्म न होकर अधिदैवत है, यतः परमात्मा भी देवता है, और देवता सम्बन्धी अर्थ अधिदैवत का विषय है। अध्यात्म को वे केवल शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, आत्मा तक ही सीमित करते हैं। अधियज्ञ प्रक्रिया का भी अधिदैवत प्रक्रिया से पूर्णतः क्षेत्र-भेद कर सकना संभव नहीं है। फिर यदि कोई वेदमन्त्र किसी यज्ञ-विधि में विनियुक्त कर देने मात्र से याज्ञिक-प्रक्रिया के क्षेत्र में आ जाता है, तब तो परस्पर संकर भी उपस्थित हो जायेगा, क्योंकि यज्ञ में विनियुक्त होते हुए भी उसका अर्थ याज्ञिक भाष्यकार अधिदैवत या अध्यात्म भी कर लेता है। अधिभूत का अर्थ भी प्राणी-परक या समाज-परक ही लिया जाता था, यह निश्चित नहीं है। तैत्तिरीय उपनिषद् के पाङ्क्त उपासना-प्रकरण[८] में अधिभूत दृष्टि से तीन पाङ्क्त बताये हैं—एक पाङ्क्त पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ है, दूसरा पाङ्क्त अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र है, तीसरा पाङ्क्त जल,

८. तै० उ० शिक्षावल्ली, अनु० ७।

ओषधियाँ, वनस्पतियाँ, आकाश और आत्मा है। यह अधिभूत का रूप अधिदैवत जैसा है। अतः इन अनिश्चित और सन्दिग्ध तथा किन्हीं अंशों में भ्रामक स्वरूप वाले नामों का ग्रहण महर्षि ने नहीं किया। इन नामों को ग्रहण न करने का एक कारण यह भी प्रतीत होता है कि महर्षि ने वेदमन्त्रों के अनेक ऐसे अर्थ भी किये हैं, जो सामान्यतः इन प्रक्रियाओं के अन्तर्गत प्राचीनों द्वारा वर्णित नहीं किये गये थे। उन अर्थों के लिए पृथक् प्रक्रियाएं माननी पड़तीं, अथवा पूर्वोक्त प्रक्रियाओं में ही उनका अन्तर्भाव नवीन रूप से दर्शाना पड़ता। पारमार्थिक और व्यावहारिक ये दो ही नाम देने से महर्षि और उनके वेदभाष्य के अध्येताओं दोनों का ही मार्ग सुगम और स्पष्ट हो गया है। यद्यपि इसका अध्ययन उपयोगी होगा कि जिन अधिदैवत आदि प्रक्रियाओं के प्रकाश में प्राचीन मनीषियों ने वेदों का अर्थानुसन्धान किया था, तथा जिनका स्वरूप प्रथम अध्याय में दर्शाया जा चुका है, उनकी दृष्टि से महर्षि का वेदभाष्य में क्या योगदान है।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में वैदिक देवों के विभिन्न प्रक्रियानुसारी अर्थ

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अधिकांश वैदिक देवताओं के विभिन्न प्रक्रियानुसारी अर्थ आ जाते हैं। इस दृष्टि से अन्य कोई वेदभाष्य स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य की तुलना में खड़ा नहीं हो सकता। नीचे स्वामी-भाष्य के आधार पर कतिपय वैदिक देवों के विभिन्न प्रक्रियानुसारी प्रमुख अर्थों की तालिका दी जा रही है।

पारमार्थिक अर्थ		व्यावहारिक अर्थ		
देवता-नाम	अध्यात्म ईश्वर-परक	अध्यात्म शरीर-परक	अधिदैवत	अधिभूत
१	२	३	४	५
१. अग्नि	परमेश्वर	जीवात्मा, जाठराग्नि	पार्थिव अग्नि, विद्युत्, सूर्य	विद्वान्, सभाध्यक्ष, राजा, सेनापति, वैद्य, योगी, न्यायाधीश, अध्यापक, उपदेशक, नेता

२. अदिति	परमेश्वर	आत्मा, विद्या, वाणी	पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यौ, सूर्यदीप्ति, प्रकृति	विदुषी, माता, अध्यापिका, राजमहिषी, राजसभा, राजनीति, सन्तान
३. अश्विनौ	—	प्राणापान, प्राणोदान	जलाग्नी, अन्तरिक्ष-द्यौ, सूर्य-चन्द्र, वायु-विद्युत्, अग्नि-वायु, वायु-सूर्य, सूर्य-उषा, द्यावा-पृथिवी, वायु-जल	शिल्पिद्वय, राजा-अमात्य, राजा-प्रजा, राजा-राजपुरुष, सभासेनाधीश, अध्यापक-उपदेशक, अध्यापक-अध्येता, सेनेश-योद्धा, वैद्य-युगल, स्त्री-पुरुष, स्वामी-सेवक, पशुपाल-कृषक
४. आपः	परमेश्वर	प्राण	जल, तन्मात्राएँ	माताएँ, कन्याएँ, आप्त प्रजाएँ
५. इन्द्र	परमेश्वर	जीवात्मा, प्राण	सूर्य, वायु, विद्युत्	सम्राट्, शूरवीर, विद्वान्, सेनापति शिल्पी, गृहपति, धनिक, विवाहित पति, अध्यापक, उपदेशक, कृषक, वैद्य
६. जातवेदाः	परमेश्वर	जीवात्मा	सूर्य, अग्नि	विद्वान्, सभाध्यक्ष, राजा
७. त्वष्टा	परमेश्वर	—	अग्नि, सूर्य, विद्युत्, वायु	सेनापति, सभापति, विद्वान्, वैद्य, शिल्पी
८. बृहस्पति	परमेश्वर	—	अग्नि, सूर्य, विद्युत्	विद्वान्, राजा, राजपुरुष, ब्रह्मचारी, अतिथि, शिल्पी, वैश्य, सेनापति
९. मरुतः	—	प्राण	वायु	मनुष्य, अध्यापक, शूरवीर, शिल्पी
१०. मित्र	परमेश्वर	प्राण	सूर्य, वायु	सुहृत्, राजा, सेनेश, विद्वान्
११. यम,	परमेश्वर	योगाङ्ग	वायु, विद्युत्, सूर्य	नियन्ता वीर, न्यायकारी राजा, सेनेश
१२. रुद्र	परमेश्वर	प्राण, जीव	अग्नि, वायु, समष्टि प्राण	राजा, सेनापति, वीर, विद्वान्, वैद्य, स्तोता, ४४ वर्ष का ब्रह्मचारी

१३. वरुण	परमेश्वर	प्राण, अपान, उदान	वायु, जल, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, विद्युत्, समुद्र	सेनापति, सचिव, राजा, विद्वान्
१४. वायु	परमेश्वर	प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ	पवन	मनुष्य, योगी, शिष्य, सेनेश, राजा, सेनापति, गृहपति, शिल्पी
१५. विष्णु	परमेश्वर	प्राण, यज्ञ	विद्युत्, सूर्य	सेनापति, योगिराज, गृहपति, शिल्पी
१६. वैश्वानर	परमेश्वर	जाठराग्नि	अग्नि, विद्युत्, सूर्य	राजा, परब्रह्मोपासक, उपदेशक
१७. सविता	परमेश्वर	—	सूर्य, वायु, विद्युत्	राजा, सभाध्यक्ष, विद्वान्, गृहपति
१८. सूर्य	परमेश्वर	प्राण, जीवात्मा	सूर्य, वायु, विद्युत्	राजा, विद्वान्, सेनाध्यक्ष, वैद्य

इस तालिका में अधियज्ञ अर्थ नहीं दिये गये हैं। कारण यह है कि सामान्यतः अधियज्ञ अर्थ में भी स्वामी जी ने देवता-पदों के अर्थ परमेश्वर, विद्वान् आदि ही किये हैं। कहीं-कहीं अवश्य देवता-पदों के अर्थ भी यज्ञपरक किये हैं। यथा, अग्नि का अर्थ यज्ञाग्नि, अश्विनौ का अर्थ यजमान-ऋत्विज्, इन्द्र का अर्थ यज्ञ का यजमान, मरुतः का अर्थ ऋत्विज् और विष्णु का अर्थ व्यापनशील यज्ञ किया है।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अधिदैवत प्रक्रियानुसारी अर्थ

शरीर-पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड, ईश्वर-सृष्टि की ये दो रचनाएँ हैं। इनमें से ब्रह्माण्ड के परमाणु से लेकर विशाल लोकलोकान्तरों तक समस्त जड़ पदार्थों का ज्ञान अधिदैवत प्रक्रिया में आता है। स्वामी दयानन्द ने इन सब पदार्थों का ज्ञान तथा व्यावहारिक उपयोग अपने वेदभाष्य में वेदमन्त्रों द्वारा बताया है। यहाँ कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं।

शिल्प

अन्य वेदभाष्यकार अग्नि को यज्ञाग्नि तक ही सीमित रखते थे। किन्तु महर्षि ने बताया कि अग्नि का केवल यज्ञ में ही उपयोग नहीं है, अपितु उसे विविध शिल्पों के लिए प्रयुक्त कर शिल्प-सिद्धि की जा

सकती है, यानों में उसका उपभोग कर भू-यान, जल-यान और अन्तरिक्ष-यान का निर्माण किया जा सकता है। ऋग्वेद का निम्न मन्त्र और उसका ऋषिकृत भाष्य द्रष्टव्य है—

अग्ने सुखतमे रथे देवाँ ईडित आ वह।
असि होता मनुर्हितः॥ —ऋ० १.१३.४

"मनुष्यैर्बहुकलासमन्वितो भूजलान्तरिक्षगमनहेतुरग्निर्जलादिना सह सम्प्रयोजितस्त्रिविधे रथे हितकारी सुखतमो भूत्वा बहुकार्यसिद्धिप्रापको भवतीति बोध्यम्"—भावार्थः।

अर्थात् मनुष्यों द्वारा भू-यान, जल-यान, विमान रूप त्रिविध रथों में संप्रयुक्त, बहुत-सी कलों वाला तथा भूमि, जल और अन्तरिक्ष में गमन का हेतु अग्नि हितकारी और अतिशय सुखदायक होकर अनेक कार्यों की सिद्धि करने वाला होता है ऐसा जानना चाहिए।

इस मन्त्र पर सायण का भाष्य इस प्रकार है—**"हे अग्ने, ईडितः अस्माभिः स्तुतः सन् सुखतमे अतिशयेन सुखहेतौ कस्मिंश्चित् रथे देवान् स्थापयित्वा कर्मभूमौ आवह"**, अर्थात् यज्ञाग्नि से प्रार्थना की जा रही है कि हमसे स्तुत होकर तू अतिशय सुखजनक रथ पर देवों को बैठाकर इस यज्ञ-भूमि में ले आ। सायण ने अग्नि देवता को अन्य देवों को यज्ञ में लाने का माध्यम मात्र माना है। स्वामी जी ने "देवान्" का अर्थ "विदुषो भोगान् वा" किया है। अग्नि यानों में प्रयुक्त होकर विद्वानों को अथवा भोग्य पदार्थों को एक स्थान से स्थानान्तर में ले जाता है।

"हरी नु कं रथ इन्द्रस्य योजम्", ऋग् २.१८.३ के दयानन्द भाष्य में इन्द्र का अर्थ विद्युत् लेकर विद्युद्-रथ-निर्माण की प्रेरणा ली गयी है, जिसमें आवश्यकतानुसार प्रयोग के लिये हरी अर्थात् वायु और अग्नि भी प्रयुक्त रहते हैं। सायण का अर्थ है कि मैं इन्द्र के रथ में हरि नामक दो घोड़ों को नियुक्त करता हूँ। स्वामी दयानन्द ने अश्विनौ का अधिदैवत अर्थ अग्नि-जल, अग्नि-वायु, वायु-जल आदि करते हुए इनके प्रयोग से विविध यानों के निर्माण का निर्देश ग्रहण किया है। यथा—

या सुरथा रथीतमोभा देवा दिविस्पृशा।
अश्विना ता हवामहे॥ —ऋ० १.२२.२

इसका भाष्य करते हुए महर्षि लिखते हैं—"(या) यौ... (सुरथा) शोभनरथा याभ्यां तौ (रथीतमा) प्रशस्ता रथा विद्यन्ते ययोः सकाशात् तावतिशयितौ... (उभा) द्वौ परस्परमाकाङ्क्ष्यौ (देवा) देदीप्यमानौ (दिविस्पृशा) यौ दिव्यन्तरिक्षे यानानि स्पर्शयतस्तौ (अश्विना) व्याप्तिगुणशीलौ (ता) तौ (हवामहे) आदद्मः...."—पदार्थः। "मनुष्यैर्यौ शिल्पानां साधकतमावग्निजले स्तस्तौ संयोजितौ कार्यसिद्धिहेतू भवत इति।"—भावार्थः।

अर्थात् जिनके योग से उत्तम-उत्तम रथ सिद्ध होते हैं, जो अनुपम रूप से प्रशंसनीय रथों को सत्ता में लाने वाले हैं, जो आकाशमार्ग से विमान आदि यानों को एक स्थान से दूसरे स्थान में शीघ्र पहुँचाते हैं, उन दोनों देदीप्यमान, व्याप्ति गुण वाले अग्नि और जल को हम ग्रहण करते हैं। इस शब्दार्थ से महर्षि यह भावार्थ लेते हैं कि शिल्पों के साधकतम जो अग्नि और जल हैं, वे मनुष्यों के द्वारा सम्यक् प्रयुक्त किये जाने पर कार्यसिद्धि के हेतु होते हैं[१]।

यहाँ सायण ने अश्विनौ को देवयुगल विशेष मानकर यह अर्थ किया है कि "जो शोभन रथ वाले, रथियों में सबसे बढ़कर रथी द्युलोकनिवासी अश्वी देव हैं उन्हें हम पुकारते हैं।"

अधिदैवत अर्थ करते हुए महर्षि ने पृथिव्यादिलोकभ्रमण, सूर्य के प्रकाश से ग्रहोपग्रहों का प्रकाशित होना, सूर्य-चन्द्र-ग्रहण, सूर्य की आकर्षणशक्ति से लोकलोकान्तरों का धृत होना, लोकधारण में वायु का महत्त्व, वृष्टि-प्रक्रिया, अहोरात्र-ऋतु-संवत्सर आदि का गमनागमन, पृथिवी और सूर्य का परस्पर सम्बन्ध, आकाश में नक्षत्रों की स्थिति, सृष्टि की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय आदि विविध विषयों पर वेदभाष्य में प्रकाश डाला है। कुछ का दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है।

---

१. महर्षि द्वारा वेदभाष्य में प्रतिपादित शिल्प केअधिक अध्ययन के लिए द्रष्टव्यः पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ से प्रकाशित 'महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार' का 'कलाकौशल' प्रकरण। ऋ० भा० भू० के नौविमानादिविद्या तथा तारविद्या के विषय भी द्रष्टव्य।

भूगोल-परिभ्रमण

निम्न मन्त्र में गौ का अर्थ भूगोल (भूमण्डल) ग्रहण कर महर्षि सूर्य के चारों ओर पृथिवी के परिभ्रमण का वर्णन करते हैं—

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः॥ —यजु० ३.६

(अयम्) यह (गौः) भूमण्डल (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) सूर्यलोक के (पुरः) आगे-आगे और (मातरम्) अपने योनिरूप जलों के साथ वर्तमान (प्रयन्) सम्यक् प्रकार चलता हुआ (असदत्) अपनी कक्षा में भ्रमण करता है, और (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आक्रमीत्) चारों तरफ घूमता है।

भावार्थ लिखते हैं—**मनुष्यैर्यस्माज्जलाग्निनिमित्तोत्पन्नोऽयं भूगोलोऽन्तरिक्षे स्वकक्षायामाकर्षणेन रक्षकस्य सूर्यस्याभितः प्रतिक्षणं भ्रमति तस्मादहोरात्रशुक्लकृष्णपक्षर्त्वयनादीनि काल-विभागाः क्रमशः सम्भवन्तीति वेद्यम्**[१०]।

अर्थात् मनुष्यों को जानना चाहिए कि क्योंकि जल और अग्नि के निमित्त से उत्पन्न हुआ यह भूमण्डल अन्तरिक्ष में अपनी कक्षा में आकर्षण द्वारा रक्षक सूर्य के चारों ओर प्रतिक्षण घूमता है इसी से दिन-रात, शुक्ल-कृष्ण पक्ष, ऋतु, अयन आदि काल-विभाग क्रम से संभव होते हैं।

उवट और महीधर ने इस मन्त्र की व्याख्या अग्नि-परक की है। अग्नि 'गौ' है, क्योंकि वह यज्ञनिष्पत्ति के लिए यजमानगृहों में जाता है—**'गच्छतीति गौः। यज्ञनिष्पत्तये तत्तद्यजमानगृहेषु गन्ता'—मही०।**

सूर्य की स्थिरता

सूर्य केवल अपनी धुरी पर ही घूमता है, उसकी स्थानान्तरगति नहीं है, यह तथ्य निम्न मन्त्र में महर्षि ने इन्द्र का अधिदैवत अर्थ सूर्य

१०. यह मन्त्र ऋ० भा० भू० में भी व्याख्यात हुआ है। वहाँ गौ का अर्थ पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि लोक लेकर सबका यथायोग्य परिभ्रमण सिद्ध किया है। पृथिव्यादिलोकभ्रमण विषय में कतिपय अन्य मन्त्र भी वहाँ व्याख्यात किये गये हैं।

करते हुए स्पष्ट किया है—

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत्।
स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ —ऋ० २.४१.१०

हे (अङ्ग) विद्वान् पुरुष, जो (स्थिरः) स्थिर, अपनी परिधि में ठहरा हुआ (विचर्षणिः) दर्शक (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सूर्य (महत्) बहुत (सत्) होता हुआ (भयम्) भय को (अप अभि चुच्यवत्) अलग करता है (स हि) वही सूर्यलोक जानने योग्य है।

भावार्थ लिखते हैं—**यदि ब्रह्माण्डे सूर्यो न स्यात् तर्हि कस्यापि भयं न निवर्तेत। यदि सूर्यलोकः स्वपरिधौ स्थिरो दर्शको न भवेत् तर्हि तुल्याकर्षणं दर्शनं च न भवेत्**[११]**।**

अर्थात् यदि ब्रह्माण्ड में सूर्य न हो तो किसी का भी भय निवृत्त न हो। यदि सूर्यलोक अपनी परिधि में स्थिर और पदार्थों को दर्शाने वाला न हो तो तुल्य आकर्षण और दर्शन न हो सके।

सायण ने इन्द्र को इन्द्र देवता मान कर अर्थ-योजना की है।

चन्द्र-गति

निम्न मन्त्रार्द्ध से यह स्पष्ट किया है कि चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर घूमता है और घूमता-घूमता कभी सूर्य और पृथिवी के मध्य में भी आ जाता है, जिससे सूर्यग्रहण भी होता है।

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ।
—ऋ० ८.४८.१३

अयं सोमश्चन्द्रलोकः पितृभिः पितृवत् पालकैर्गुणैः सह संविदानः सम्यक् ज्ञातः सन् भूमिनुभ्रमति। कदाचित् सूर्य-पृथिव्योर्मध्येऽपि भ्रमन् सन्नागच्छतीत्यर्थः[१२]**।**

---

११. ऋ० ३.२.१४ के भाष्य में महर्षि ने अप्रतिष्कुतम् का अर्थ इतस्ततो लोकान्तरस्याभितो भ्रमणरहितम् किया है तथा भावार्थ में लिखा है—सूर्यः कस्यापि लोकस्य परिभ्रमणं न करोति।

१२. यह मन्त्र ऋ० भा० भू० में व्याख्यात हुआ है। वहाँ स्वामी जी ने यह सूचना दी है कि इस मन्त्र का अर्थ वेदभाष्य करते समय स्पष्टतया कहूँगा। किन्तु यह मन्त्र अष्टम मण्डल में है, जिसका भाष्य वे नहीं कर सके। 'पितृभिः संविदानः' का 'पितृभिः पितृवत् पालकैः सूर्यकिरणैः संविदानः युक्तः' यह अर्थ भी कर सकते हैं।

सायण ने महापितृयज्ञ में इस मन्त्र का विनियोग मानकर यह अर्थ किया है कि हे सोमदेव, तू पितरों के साथ मिलकर द्यावापृथिवी को क्रम से फैलाता है। उस तुझ सोम की हम हवि द्वारा परिचर्या करते हैं।

सूर्य के कर्म

इन्द्र देवता का पन्द्रह मन्त्रों का एक प्रसिद्ध सूक्त ऋ० १०.१२ है, जिसके प्रत्येक मन्त्र के अन्तः में **"स जनास इन्द्रः"** आता है। सायण आदि भाष्यकार इसे इन्द्र को देवता-विशेष मानकर इस सूक्त की व्याख्या करते हैं। किन्तु स्वामी जी ने इसके सात मन्त्रों की व्याख्या सूर्य-परक की है, जिससे सूर्य के कर्मों पर प्रकाश पड़ता है। उदाहरणार्थ निम्न मन्त्र प्रस्तुत है—

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २.१२.२

यः पृथिवीं विस्तीर्णां भूमिं व्यथमानां चलन्तीम् अदृंहत् धरति, यः पर्वतान् मेघान् प्रकुपितान् प्रकोपयुक्तान् शत्रूनिव वर्तमानान् अरम्णात् वधति, रम्णाति वधकर्मा, निघं० २.१९, यः अन्तरिक्षं द्वयोर्लोकयोर्मध्यस्थमाकाशं विममे विशेषेण मिमीते, वरीयः अतिशयेन बहु, यः द्यां प्रकाशम् अस्तम्नात् स्तभ्नाति धरति सः (हे) जनासः, इन्द्रः (दारयिता सूर्यः वेदितव्यः)।

अर्थात् हे मनुष्यो, जो चलती हुई विस्तृत भूमि को धारण करता है, जो अत्यन्त कोपयुक्त शत्रुओं के समान वर्तमान मेघों को छिन्न-भिन्न करता है, जो बहुत विस्तार वाले अन्तरिक्ष को विशेषता से मापता है, जो प्रकाश को धारण करता है, वह विदारक सूर्य जानने योग्य है।

भावार्थ लिखा है—**हे मनुष्या यदीश्वरो विद्युतं सूर्यं वा न रचयेत् तर्हि चलतो महतो भूगोलान् को धरेत्, कश्च मेघं वर्षयेत्, कोऽन्तरिक्षं स्वप्रकाशेन पूरयेच्च।**

अर्थात् हे मनुष्यो, यदि ईश्वर विद्युत् वा सूर्य को न रचे, तो चलते हुए बड़े-बड़े भूमण्डलों को कौन धारण करे और कौन बादल को बरसाये तथा कौन अन्तरिक्ष को अपने प्रकाश से पूरित करे?

विद्युत्

उपर्युक्त सूक्त के ही सप्तम मन्त्र में महर्षि ने इन्द्र का अर्थ सूक्ष्म

विद्युत् किया है और यह बताया है कि सभी पदार्थों की उत्पत्ति और स्थिति में यह विद्युत्-अग्नि कारण है।

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे रथासः। यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः॥

—ऋ० २.१२.७

अथ विद्युद्रूपाग्निविषयमाह। यस्य विद्युदाख्यस्य अश्वासः व्याप्तिशीला वेगादयो गुणाः प्रदिशि उपदिशि, यस्य गावः किरणाः, यस्य ग्रामाः मनुष्यनिवासाः, यस्य विश्वे सर्वे रथासः रमणसाधनाः, यः कारणाख्यो विद्युदग्निः सूर्यं सवितृमण्डलम्, यः उषसं प्रत्यूषकालम् जजान जनयति, यः अपां जलानां नेता प्रापकः, स जनासः इन्द्रः।

अर्थात् हे मनुष्यो, प्रति दिशा में जिसके समस्त व्याप्तिशील वेगादि गुण हैं, जिसकी किरणें हैं, जिसके मनुष्यों के निवासस्थान ग्राम हैं, जिसके रथ हैं, जो कारणरूप विद्युत्, सूर्य और उषा को उत्पन्न करता है, जो जलों को स्थानान्तर में ले जाने वाला है, वह विद्युद्रूप अग्नि है, ऐसा जानो।

भावार्थ लिखते हैं—**हे मनुष्या यदि भवन्तो वेगाद्यनेकगुणयुक्तं सर्वमूर्तद्रव्याधारं शीघ्रगामिविमानादियानवर्षानिमित्तं विद्युदग्निं जानीयुस्तर्हि किं किमुत्तमं कार्यं साधितुं न शक्नुयुः।**

अर्थात् हे मनुष्यो, यदि आप लोग वेगादि अनेक गुणों से युक्त, सब मूर्तिमान् पदार्थों के आधाररूप, शीघ्रगामी विमान आदि यान और वर्षा के निमित्त विद्युत् रूप अग्नि को जान लें, तो भला किस उत्तम कार्य को सिद्ध न कर सकें।

इस कोटि की महर्षिकृत सब व्याख्याएँ अधिदैवत प्रक्रिया के क्षेत्र में आती हैं।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अध्यात्मप्रक्रियानुसारी अर्थ

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, अध्यात्म-प्रक्रिया के दो पार्श्व हैं, एक ईश्वर-परक और दूसरा शरीर-परक। दोनों ही दृष्टियों से दयानन्द-भाष्य में प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है, विशेषकर प्रथम के सम्बन्ध में।

१. ईश्वर-सम्बन्धी अध्यात्म-प्रक्रिया

महर्षि का विचार है कि वेदों का मुख्य तात्पर्य ईश्वरानुभव में ही है। ऋ० भा० भू० के वेदविषयविचार प्रकरण में विज्ञान विषय की सबसे मुख्यता बताते हुए वे लिखते हैं—"**तत्रादिमो विज्ञानविषयो हि सर्वेभ्यो मुख्योऽस्ति। तस्य परमेश्वरादारभ्य तृणपर्यन्तपदार्थेषु साक्षाद् बोधान्वयत्वात्। तत्रापीश्वरानुभवो मुख्योऽस्ति। कुतः? अत्रैव सर्वेषां वेदानां तात्पर्यमस्ति, ईश्वरस्य खलु सर्वेभ्यः पदार्थेभ्यः प्रधानत्वात्।**" अतएव अपने वेदभाष्य में महर्षि ने ईश्वर-परक अर्थ को प्रधानता दी है। कहीं यदि श्लेषादि से मन्त्रों के एकाधिक अर्थ किये हैं, तो उनमें प्रायः एक अर्थ ईश्वर-परक भी है और कहीं केवल ईश्वर-परक ही अर्थ किया है।

वेदों में बहुदेवतावाद नहीं है तथा वैदिक अग्नि, इन्द्र आदि देवता एक ईश्वर के ही विभिन्न नाम हैं। इस विषय में महर्षि ने ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के भाष्य में अनेक प्रमाण दिये हैं। इन प्रमाणों की पृष्ठभूमि में ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में तो अग्नि का एक अर्थ परमेश्वर किया ही है, आगे भी प्रायः वैदिक देवताओं का अर्थ परमेश्वर लिया है। यहाँ कुछ प्रमुख देवताओं के मन्त्रों का ईश्वर-परक अर्थ महर्षि-भाष्य से दिया जा रहा है।

सविता

षू प्रेरणे, षूङ् प्राणिप्रसवे, षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, षुञ् अभिषवे, षु प्रसवैश्वर्ययोः धातुओं के आधार पर महर्षि ने सत्यप्रेरकत्व, सकलजगदुत्पादकत्व, सर्वैश्वर्यप्रदत्व आदि गुणों से युक्त परमेश्वर को सविता माना है[१३]। निम्न मन्त्र का भाष्य द्रष्टव्य है—

हिरण्यपाणिमूतये सवितारमुप ह्वये।
स चेत्ता देवता पदम्॥ —ऋ० १.२२.५

अहम् ऊतये प्रीतये यं पदं पद्यते प्राप्तोऽस्ति चराचरं जगत् तम्, हिरण्यपाणिं सुवर्णादीनि रत्नानि पाणौ व्यवहारे लभन्ते तस्मात्

---

१३. यश्चराचरं जगत् सुनोति सूते वोत्पादयति स सविता परमेश्वरः (स. प्र. समु. १), सवितः सर्वेषु जीवेष्वन्तर्यामितया सत्यप्रेरक व्यवहारप्रेरणाहेतुर्वा (य. भा. १.२६); सविता सर्वेषां प्रसविता प्रकाशवृष्टिरसानां च प्रसविता (ऋ भा. १.३५.२)।

तम् सवितारं सर्वजगदन्तर्यामिणमीश्वरम् उप उपगमार्थे ह्वये स्वीकुर्वे स जगदीश्वरः चेत्ता ज्ञानस्वरूपः देवता देव एवेति देवता पूज्यतमा, देवात्तल् अ० ५.४.२७ इति स्वार्थे तल् प्रत्यय, अस्ति[१४]**।**

अर्थात् मैं प्रीति के लिए सब चराचर जगत् को प्राप्त और जिससे व्यवहार में सुवर्ण आदि रत्न मिलते हैं, उस सब जगत् के अन्तर्यामी ईश्वर को अच्छी प्रकार स्वीकार करता हूँ। वह परमेश्वर ज्ञानस्वरूप और पूज्यतम देव है।

सायण ने सविता को देवविशेष माना है और अर्थ किया है कि—"मैं अपनी रक्षा के लिए सविता देव का आह्वान करता हूँ, जो यजमान को देने के लिए हाथ में सुवर्ण धारण किये है। वह सविता देव यजमान से प्राप्य स्थान का ज्ञापयिता होता है।" फिर विकल्प रूप में सविता के हिरण्यपाणि होने की व्याख्या कौषीतकि ब्राह्मण के इस आख्यान से की है—देवकर्तृक याग में सविता स्वयं ऋत्विज् होकर ब्रह्मा रूप में स्थित हुआ। तब किसी इष्टि में अध्वर्युओं ने इस ब्रह्मा बने हुए सविता को प्राशित्र नामक पुरोडाशभाग दिया। सविता द्वारा हाथ में पकड़े हुए उस प्राशित्र ने सविता के हाथ को काट दिया। तब प्राशित्र के दाता अध्वर्युओं ने सुवर्ण का हाथ बनाकर उसे दे दिया था, तब से सविता देव हिरण्यपाणि कहलाने लगा। इस कथानक की सायणाचार्य ने कोई व्याख्या नहीं की, अतः वे इसे शाब्दिक रूप में ज्यों का त्यों इसी रूप में मानते प्रतीत होते हैं।

सविता-विषयक एक और मन्त्र तथा ऋ०भा०भू० से उसका ऋषि-भाष्य यहाँ उद्धृत किया जाता है, जिसमें योगियों द्वारा सविता परमात्मा में अपने मन और बुद्धि को युक्त करने का वर्णन है।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन् मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः॥

—ऋग् ५.८१.१

---

१४. यहाँ भाष्य के पदार्थ को अन्वयानुसारी किया गया है। आगे भी कई स्थलों पर ऐसा किया है। सम्पूर्ण विस्तृत भाष्य, जिसमें प्रत्येक मन्त्र पर भूमिका, मन्त्र, पद-पाठ, संस्कृत पदार्थ, अन्वय, संस्कृत भावार्थ, अन्वय क्रम से भाषापदार्थ, भाषाभावार्थ दिया गया है, महर्षि के भाष्य में ही देखना चाहिए।

(विप्राः) ईश्वरोपासका मेधाविनः (होत्राः) योगिनो मनुष्याः (विप्रस्य) सर्वज्ञस्य (बृहतः) महतः (विपश्चितः) [अनन्त-विद्यस्य[१५]] परमेश्वरस्य मध्ये (मनः) (युञ्जते) युक्तं कुर्वन्ति, (उत) अपि (धियो) बुद्धिवृत्तीस्तस्यैव मध्ये युञ्जते। कथंभूतः स परमेश्वरः ? सर्वमिदं जगत् यः (विदधे), तथा (वयुनावित्) सर्वेषां जीवानां शुभाशुभानि यानि प्रज्ञानानि प्रजाश्च तानि यो वेद स वयुनावित् (एकः) स एकोऽद्वितीयोऽस्ति, (इत्) सर्वत्र व्याप्तो ज्ञानस्वरूपश्च, नास्मात् पर उत्तमः कश्चित् पदार्थो वर्तत इति। तस्य (देवस्य) सर्वजगत्प्रकाशकस्य, (सवितुः) सर्व-जगदुत्पादकस्येश्वरस्य सर्वैर्मनुष्यैः (परिष्टुतिः) परितः सर्वतः स्तुतिः कार्या। कथंभूता स्तुतिः ? (मही) महतीत्यर्थः। एवंकृते सति जीवाः परमेश्वरमुपगच्छन्तीति।

अर्थात् ईश्वरोपासक मेधावी योगी मनुष्य सर्वज्ञ, अनन्तविद्य सविता परमेश्वर के मध्य में अपने मन को जोड़ते हैं और बुद्धिवृत्तियों को भी जोड़ते हैं। उस परमेश्वर ने सम्पूर्ण जगत् की रचना की है। वह सब मनुष्यों के शुभाशुभ प्रज्ञानों को और प्रजाओं को जानता है। वह एक ही है। वह सर्वत्र व्याप्त और ज्ञानस्वरूप है। उस सर्व-जगत्प्रकाशक, सर्वजगदुत्पादक सविता परमेश्वर की सब मनुष्यों को महती परिस्तुति करनी चाहिए।

विष्णु

वैदिक विष्णु देवता से सायण पौराणिक त्रिविक्रमावतारधारी विष्णु को अभिप्रेत मानते हैं। स्कन्द स्वामी आदि ने इसका वैकल्पिक अर्थ आदित्य भी किया है। स्वामी दयानन्द इसका अर्थ विभिन्न स्थलों पर व्यापक परमेश्वर, सूर्य, विद्युत्, यज्ञ, योगिराज आदि करते हैं। परमेश्वर-पक्ष में निर्वचन करते हैं—**वेवेष्टि व्याप्नोति चराचरं जगत् स परमेश्वरः** (ऋग् १.२२.१६ भाष्य)। निम्न मन्त्र का भाष्य द्रष्टव्य है—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्। —ऋग् १.२२.२०

१५. कोष्ठान्तर्गत पाठ ऋ. भा. भू. में नहीं है। इसकी पूर्ति हमने यह अंश इस मन्त्र के वेदभाष्य से लेकर कर दी है।

अन्वयः—सूरयो विद्वांसो दिव्याततं चक्षुरिव यद्विष्णोराततं परमं पदमस्ति तत् स्वात्मनि सदा पश्यन्ति।

भावार्थः—अत्रोपमालङ्कारः। यथा प्राणिनः सूर्यप्रकाशे शुद्धेन चक्षुषा मूर्त्तद्रव्याणि पश्यन्ति तथैव विद्वांसो विमलेन ज्ञानेन विद्यासुविचारयुक्ते शुद्धे स्वात्मनि जगदीश्वरस्य सर्वानन्दयुक्तं प्राप्तुमर्हं मोक्षाख्यं पदं दृष्ट्वा प्राप्नुवन्ति। नैतत्प्राप्त्या विना कश्चित्सर्वाणि सुखानि प्राप्तुमर्हति, तस्मादेतत्प्राप्तौ सर्वैः सर्वदा प्रयत्नोऽनुविधेय इति।

अर्थात् इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जैसे प्राणी सूर्य के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से मूर्तिमान् पदार्थों को देखते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से विद्या वा श्रेष्ठ विचार से युक्त शुद्ध अपने आत्मा में जगदीश्वर के सब आनन्दों से युक्त और प्राप्त होने योग्य मोक्ष पद को देखकर प्राप्त होते हैं। इसकी प्राप्ति के बिना कोई मनुष्य सब सुखों को प्राप्त होने में समर्थ नहीं हो सकता। इससे इसकी प्राप्ति के निमित्त सब मनुष्यों को निरन्तर यत्न करना चाहिये।

इन्द्र

अध्यात्म में इन्द्र का अर्थ महर्षि सकल दुःख, अविद्या, विघ्न आदि का निवारक, परमैश्वर्यवान्, ऐश्वर्यप्रदाता, सर्वानन्दस्वरूप प्रभृति विशेषणविशिष्ट ईश्वर करते हैं—**य इन्दति परमेश्वर्यवान् भवति स इन्द्रः परमेश्वरः, इदि परमैश्वर्ये (स० प्र०, समु० १), सर्वेषां भूतानां प्रकाशनात्, प्राणैर्जीवस्योपकरणात्, अस्य सर्वस्य जगत उत्पादनाद् दर्शनहेतोश्च, सर्वैश्वर्ययोगाद्, दुष्टानां शत्रूणां विनाशकत्वाद्, दूरे गमकत्वाद्, यज्वनां रक्षकत्वाच्चेत्यर्थादिन्द्र-शब्देनेश्वरस्य ग्रहणम्** (ऋ. भा. १.३.४)। निम्न मन्त्र का महर्षिकृत अर्थ द्रष्टव्य है—

आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब।
नव्यमायुः प्र सू तिर कृधि सहस्रसामृषिम्॥ —ऋग् १.१०.११

अन्वयः—हे कौशिक इन्द्र ईश्वर, मन्दसानः सत् त्वं नः सुतम् आपिब तु पुनः कृपया नो नव्यम् आयुः प्र सू तिर, तथा नोऽस्माकं मध्ये सहस्रसाम् ऋषिम् कृधि।

भावार्थः—ये मनुष्याः प्रेम्णा विद्योपदेष्टारं जीवेभ्यः सत्य-

विद्याप्रकाशकं सर्वज्ञं शुद्धमीश्वरं स्तुत्वा श्रावयन्ति, ते सुखपूर्णं विद्यायुक्तमायुः प्राप्यर्षयो भूत्वा पुनः सर्वान् विद्यायुक्तान् मनुष्यान् विदुषः प्रीत्या सम्पादयन्ति।

पदार्थ—हे (कौशिक) सब विद्याओं के उपदेशक और उनके अर्थों के निरन्तर प्रकाश करने वाले (इन्द्र) सर्वानन्दस्वरूप परमेश्वर, (मन्दसानः) आप उत्तम उत्तम स्तुतियों को प्राप्त हुए और सब को यथायोग्य जानते हुए (नः) हम लोगों के (सुतम्) यत्न से उत्पन्न किये हुए प्रिय शब्दों व स्तुतियों को (आ) अच्छी प्रकार (पिब) श्रवण कीजिए (तु) और कृपा करके हमारे लिये (नव्यम्) नवीन (आयुः) जीवन को (प्र सू तिर) प्रकृष्टतया शुभ रूप से निरन्तर प्रदान कीजिए। तथा (नः) हम लोगों में (सहस्रसाम्) अनेक त्रिद्याओं के प्रकट करने वाले (ऋषिम्) वेदवक्ता पुरुष को भी (कृधि) उत्पन्न कीजिये।

यहाँ इन्द्र को कौशिक कहा गया है। महर्षि इन्द्र का अर्थ परमेश्वर तथा कौशिक का अर्थ निरुक्त के "**क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः, साधु विक्रोशयिताऽर्थानामिति वा**" (निरु० २.८४) इस निर्वचन के अनुसार "सब विद्याओं का उपदेशक, प्रकाशक तथा अर्थों का साधु प्रकार से उपदेष्टा" यह अर्थ करते हैं, जो अर्थ परमेश्वर में संगत है। परन्तु सायण तो इन्द्र को देव-विशेष मानते हैं और कौशिक का अर्थ विश्वामित्र प्रचलित है। अतः उनके सामने यह समस्या उत्पन्न हुई कि इन्द्र को कौशिक कैसे कहा गया। इसका समाधान वे ऋक्सर्वानुक्रमणी का संकेत देते हुए यह करते हैं कि कुशिक ने इन्द्र के तुल्य पुत्र को प्राप्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया, तब स्वयं इन्द्र ही विश्वामित्र के रूप में उनके यहाँ उत्पन्न हुआ था, अतः इन्द्र कौशिक है।

स्वयम्भू

निम्नलिखित मन्त्र में सुभूः और स्वयंभूः का अर्थ परमेश्वर, अर्णव का अर्थ प्रकृति और प्रजापति का अर्थ सूर्य लेकर यह सूचित किया गया है कि परमेश्वर ही प्रकृति से सूर्यादि की उत्पत्ति करता है।

सुभूः स्वयम्भूः प्रथमोऽन्तर्महत्यर्णवे।
दधे ह गर्भमृत्वियं यतो जातः प्रजापतिः॥ —यजुः २३.६३

इसके भावार्थ में महर्षि लिखते हैं—**यदि मनुष्याः सूर्यादीनां परं कारणं प्रकृतिं तत्र बीजधारकं परमात्मानं च विजानीयुस्तर्हि तेऽस्मिन् संसारे विस्तीर्णसुखा भवेयुः।**

इस भावार्थ से मन्त्र का निम्न अर्थ सूचित होता है—"उत्तम सत्ता वाला स्वयंभू अजर-अमर, श्रेष्ठ जगदीश्वर महती प्रकृति के अन्दर समयानुकूल प्राप्त बीज को स्थापित करता है, जिससे प्रजापालक सूर्य आदि की उत्पत्ति होती है[१६]।" सत्त्व, रजस्, तमस् की साम्यावस्था रूप प्रकृति के अन्दर परमेश्वर ही सर्जनोन्मुख क्रियाशक्ति को उत्पन्न करता है। उसी को आलंकारिक रूप से यहाँ परमात्मा द्वारा प्रकृति में गर्भ-धारण कहा गया है।

महर्षि ने इस मन्त्र का देवता 'समाधाता' लिखा है। उवट और महीधर ने प्रजापति देवता माना है। महीधर प्रजापति का अर्थ ब्रह्मा करते हैं। इस मन्त्र का महीधर-भाष्य इस प्रकार है—"**प्रजापति-देवत्याऽनुष्टुप्। ह इति प्रसिद्धम्। प्रथमः सर्वस्य आदिः अनादि-निधनः पुरुषः महति अर्णवे कल्पान्तकालीने समुद्रे अन्तर्मध्ये गर्भं दधे स्थापितवान्। कीदृशः? सुष्ठु भूरुत्पत्तिर्यस्मात्स सुभूः विश्वोत्पादकः। स्वयं भवतीति स्वयंभूः स्वेच्छाधृतशरीरः। कीदृशं गर्भम्? ऋत्वियम् ऋतुः प्राप्तो यस्य। घस्प्रत्ययः। प्राप्तकालम्। यतो गर्भात् प्रजापतिः ब्रह्मा जातः उत्पन्नः।**"

अर्थात् सुष्ठु प्रकार उत्पत्ति करने वाले विश्वोत्पादक (सुभूः), स्वयं धृत शरीर (स्वयम्भूः), सबके आदि अनादिनिधन पुरुष ने कल्पान्तकालीन समुद्र के मध्य में जिसका समय प्राप्त हो गया था ऐसे गर्भ को धारण किया, जिससे प्रजापति (ब्रह्मा) उत्पन्न हुआ।

अध्यात्मप्रक्रिया का ईश्वर-परक अर्थ महर्षि-भाष्य में अनेक स्थानों पर प्राप्त होता है। स्वामी दयानन्द के अनुसार ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान्, न्यायकारी, दयालु,

---

१६. पदार्थ में महर्षि ने "अर्णवे" शब्द का अर्थ "यत्र अर्णांसि उदकानि संबद्धानि सन्ति तस्मिन् संसारे" किया है। इसी से अनुरूप भाषापदार्थ में "जलों से सम्बद्ध हुए संसार के बीच" यह अनुवाद मिलता है। किन्तु ऊपर उद्धृत भावार्थ से महर्षि ने प्रकृतिपरक अर्थ की भी सूचना दी है। हमने इसी संकेत के अनुसार अर्थ दिया है। ऐसी अतिरिक्त अर्थ की महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ महर्षि-भाष्य में कई स्थानों पर उपलब्ध होती हैं।

अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र, सृष्टिकर्ता, पालक, संहर्ता, सर्वसुखदाता, सखा, ऐश्वर्यवान्, बृहत्स्वामी, अव्यक्त, स्वप्रकाश, सर्वाधिष्ठाता, अचल, आश्चर्य-गुण-कर्म-स्वभाव, दुःखत्राता, धर्ताओं का धर्ता, बलियों का बली, महानों में महान्, पूज्यों का भी पूज्य, अविद्यादिदोषहन्ता, सबका गुरु, अविनाशी, सर्वद्रष्टा, सर्वसाक्षी, दिव्यस्वरूप, जनक, सर्वोपकारी, सर्व-व्यवस्थापक, अणोरणीयान्, महतो महीयान्, आत्मशुद्धिकारक, स्तोतव्य, पूर्णविद्याप्रदाता, वेदोपदेशक, सत्यासत्यविज्ञापक, सकलैश्वर्ययुक्त, महात्मा, विश्वात्मा, सदामुक्त, देशकाल-वस्तुपरिच्छेदशून्य, सर्वोपास्य आदि अनन्तगुणविशिष्ट है। उसके ये गुण ऋषि-भाष्य में स्थान-स्थान पर प्रतिबिम्बित हुए हैं।

२. शरीर-सम्बन्धी अध्यात्म-प्रक्रिया

शरीर-परक अध्यात्म का चित्रण भी ऋषि-भाष्य में पर्याप्त हुआ है। जीवात्मा, योग, प्राणादि सम्बन्धी कतिपय व्याख्याएँ यहाँ दी जा रही हैं।

जीवात्मा

अग्निदेवता के सूक्त १.५८ के भाष्य में ऋषि ने अग्नि के दृष्टान्त से जीवात्मा के गुणों का वर्णन किया है। प्रथम मन्त्र की भूमिका में लिखते हैं—**अथाग्निदृष्टान्तेन जीवगुणा उपदिश्यन्ते।**

नूचित् सहोजा अमृतो नितुन्दते होता यद् दूतो अभवद् विवस्वतः। वि साधिष्ठेभिः पथिभी रजो मम आ देवताता हविषा विवासति॥

—ऋग् १.५८.१

इसके भावार्थ में ऋषि लिखते हैं—"**हे मनुष्या यूयमनादौ सच्चिदानन्दस्वरूपे सर्वशक्तिमति स्वप्रकाशे सर्वाधारेऽखिल-विश्वोत्पादके देशकालवस्तुपरिच्छेदशून्ये सर्वाभिव्यापके परमेश्वरे नित्येन व्याप्यव्यापकसम्बन्धेन योऽनादिर्नित्यश्चेतनोऽल्पोऽल्पज्ञोऽस्ति स एव जीवो वर्त्तत इति बोध्यम्।**"

अर्थात् हे मनुष्यो, तुम अनादि, सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वशक्तिमान्, स्वप्रकाश, सर्वाधार, अखिलविश्वोत्पादक, देश-काल और वस्तु के

सीमाबन्धन से शून्य, सर्वत्र व्यापक परमेश्वर में नित्य व्याप्यव्यापक संबन्ध से रहने वाला जो अनादि, नित्य, चेतन, अल्प और अल्पज्ञ है, वही जीव है ऐसा जानो।

इसी प्रकार आगे भी इस सूक्त के सातवें मन्त्र तक ऋषि ने जीव के ही गुण व्याख्यात किये हैं। यजुर्वेद के ३९वें अध्याय के भाष्य में ५म मन्त्र में प्रजापति का अर्थ जीवात्मा करते हुए यह भाव लिया है कि जीवात्मा देह छोड़कर पृथिव्यादि पदार्थों में भ्रमण करता हुआ ईश्वर-व्यवस्था से कर्मानुसार जन्म पाता है। मन्त्र ६,७,८ भी जीवपरक व्याख्यात किये हैं। सप्तम मन्त्र इस प्रकार है—

उग्रश्च भीमश्च ध्वान्तश्च धुनिश्च।
सासह्वाँश्चाभियुग्वा च विक्षिपः स्वाहा॥ —यजुः० ३९.७

ऋषि-भाष्य के पदार्थ को अन्वयानुसारी करने पर यह रूप होगा—**पुनः के जीवाः किंगुणाः सन्तीत्याह। हे मनुष्याः, मरणं प्राप्तो जीवः (स्वाहा) स्वकीयया क्रियया (उग्रश्च) तीव्रस्वभावः शान्तश्च**[१७] **(भीमः) बिभेति यस्मात् स भयंकरः निर्भयश्च, (ध्वान्तश्च) ध्वान्तमन्धकारं प्राप्तः प्रकाशं गतश्च, (धुनिश्च) कम्पमानः निष्कम्पश्च, (सासह्वान् च) भृशं सहमानः असहमानो वा (अयुग्वा च) योऽभितो युङ्क्ते सः वियुक्तश्च, (विक्षिपः) यो विक्षिपति विक्षेपं प्राप्नोति सः जायते।**

अर्थात् मरण को प्राप्त हुआ जीव अपने कर्म से तीव्र स्वभाव वाला और शान्त, भयकारी और निर्भय, अन्धकार को प्राप्त और प्रकाश को प्राप्त, काँपता हुआ और निष्कम्प, बहुत सहनशील और न सहने वाला, संयुक्त और वियुक्त तथा विक्षेप को प्राप्त हो जाता है।

भावार्थ में इस प्रकार स्पष्ट किया है—**हे मनुष्याः, ये जीवाः पापाचरणास्त उग्राः, ये धर्माचरणास्ते शान्ताः, ये भयप्रदास्ते भीमाः, ये भयं प्राप्तास्ते भीताः, येऽभयप्रदास्ते निर्भयाः, येऽविद्या-युक्तास्तेऽन्धकारावृताः, ये विद्वांसो योगिनस्ते प्रकाशयुक्ताः,**

१७. 'च' से अन्य सदृश या विरोधी वस्तुओं का ग्रहण करना परम्परागत शैली है। सायण ने ऋग् १०.१९०.१ ''ऋतं च सत्यं च'' का भाष्य करते हुए लिखा है—चकाराभ्यामन्यदपि शास्त्रीयं धर्मजातं समुच्चीयते। स्वामी दयानन्द ने यजुर्वेद अध्याय १८ की व्याख्या में भी 'च' से वस्त्वन्तरग्रहण की यह शैली अपनायी है।

येऽजितेन्द्रियास्ते चञ्चलाः, ये जितेन्द्रियास्तेऽचंचलाः स्वस्वकर्मफलानि सहमानाः संयुक्ता विक्षेपं प्राप्ताः सन्तोऽत्र जगति नित्यं भ्रमन्तीति विजानीत।

अर्थात् हे मनुष्यो, जो जीव पापाचरणी हैं वे उग्र, जो धर्मात्मा हैं वे शान्त, जो भयप्रद हैं वे भीम, जो भय को प्राप्त हैं वे भीत, जो अभयप्रद हैं वे निर्भय, जो अविद्यायुक्त हैं वे अन्धकारावृत, जो विद्वान् हैं योगी हैं वे प्रकाशयुक्त, जो जितेन्द्रिय नहीं हैं वे चंचल, जो जितेन्द्रिय हैं वे अचंचल, अपने-अपने कर्मफलों को भोगते हुए संयुक्त तथा विक्षेप को प्राप्त हुए जगत् में नित्य भ्रमण करते हैं, ऐसा जानो।

स्वामी जी के मत में जीवात्मा की परमात्मा से पृथक् स्वतन्त्र सत्ता है। जीव भी परमात्मा के समान अजर-अमर है, किन्तु परमात्मा सर्वज्ञ है, जबकि जीव अल्पज्ञ है। जीव कर्मफलों को भोगता है, जबकि परमात्मा द्रष्टा मात्र रहता है। यह उन्होंने "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" ऋग् १.१६४.२०, "**न नूनमस्ति नो श्वः**" ऋग् १.१७०.१, "**अयं होता प्रथमः**" ऋग् ६.९.४, आदि मन्त्रों के भाष्य में प्रमाणित किया है। "**अयं होता प्रथमः**" के भाष्य में ऋषि लिखते हैं—

"हे मनुष्याः, अस्मिञ्छरीरे द्वौ चेतनौ नित्यौ जीवात्मपरमात्मानौ वर्तेते। तयोरेकोऽल्पोऽल्पदेशस्थो जीवः शरीरं धृत्वा जायते वर्धते परिणमते चापक्षीयते पापपुण्यफलं च भुङ्क्ते। अपरः परमेश्वरो ध्रुवः सर्वज्ञः कर्मफलसम्बन्धरहितोऽस्तीति निश्चिनुत।"

अर्थात् हे मनुष्यो, इस शरीर में दो चेतन और नित्य जीवात्मा और परमात्मा वर्तमान हैं। उन दोनों में एक अल्प, अल्पज्ञ और अल्पदेशस्थ जीव शरीर धारण करके प्रकट होता, वद्धि को प्राप्त करता, परिणाम को प्राप्त होता, हीन दशा को प्राप्त होता है और पाप-पुण्य के फल को भोगता है। दूसरा परमेश्वर ध्रुव (निश्चल), सर्वज्ञ और कर्मफल के संबन्ध से रहित है, ऐसा तुम लोग निश्चय जानो।

योग

आत्मा का कर्त्तव्य है कि वह परमात्मा का दर्शन करे। ऋषि की दृष्टि में यह शरीर एक यज्ञस्थली है, जिसमें मन सप्तहोता यज्ञ को

---

१८. द्रष्टव्यः यजु० ३४.४ का स्वामि-भाष्य।

रचा रहा है। पाँच प्राण, छठा जीवात्मा और सातवाँ अव्यक्त ये ही मानस यज्ञ के सात होता है[१८]। जीवात्मा को परमात्मा के साथ योग करना है—**युञ्जते मन उत युञ्जते धियः** (ऋग् ५.८१.१)।

अपने वेदभाष्य में महर्षि ने अन्य कई प्रकरण भी योगपरक व्याख्यात किये हैं। यथा, यजुर्वेद अध्याय ७ मन्त्र ३-१८, २८, ४०, ४३, ४६, अध्याय १२ मन्त्र ६८, अध्याय १७ मन्त्र ६७, ६८, ७१-७५ तथा अध्याय १९ मन्त्र ९०-९५। यजुर्वेद के निम्न मन्त्र का ऋषि-भाष्य द्रष्टव्य है—

उपयामगृहीतोऽस्यन्तर्यच्छ मघवन् पाहि सोमम्।
उरुष्य राय एषो यजस्व॥ —यजु० ७.४

हे योग चाहने वाले, जिस से तू (उपयामगृहीतः) योग में प्रवेश करने वाले नियमों से ग्रहण किये हुए के समान (असि) है, इस कारण (अन्तः) भीतरले जो प्राणादि पवन, मन और इन्द्रियाँ हैं इनको (यच्छ) नियम में रख। हे (मघवन्) परमपूजित धनी के समान, तू (सोमम्) योगविद्यासिद्ध ऐश्वर्य की (पाहि) रक्षा कर और जो अविद्या आदि क्लेश हैं उनको (उरुष्य) अत्यन्त योगविद्या के बल से नष्ट कर, जिससे (रायः) ऋद्धि और (इषः) इच्छासिद्धियों को (आयजस्व) अच्छे प्रकार प्राप्त हो।

इसके भावार्थ में महर्षि लिखते हैं—"**योगार्थिना यमादिभिर्योगाङ्गैश्चित्तादीन्निरुध्याऽविद्यादिदोषान्निवार्य संयमेनर्द्धिसिद्धयो निष्पाद्यन्ताम्।**"

अर्थात् योगजिज्ञासु पुरुष को चाहिये कि यम, नियम आदि योग के अंगों से चित्त आदि अन्तःकरण की वृत्तियों को रोक और अविद्यादि दोषों का निवारण करके संयम से ऋद्धि-सिद्धियों को सिद्ध करें।

प्राण

मन्त्रों की प्राणादि परक व्याख्याएँ भी इसी अध्यात्म-प्रक्रिया में आती हैं। ऋग् १.२३ मन्त्र २१-२२ में महर्षि ने आपः का अर्थ प्राण किया है। **आपः आप्नुवन्ति व्याप्नुवन्ति सर्वान् पदार्थांस्ते प्राणाः।**

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।
ज्योक् च सूर्यं दृशे॥ —ऋग् १.२३.२१

अर्थात् हे प्राणो, तुम सूर्य को देखने के लिए और चिर जीवन के हेतु मेरे शरीर के लिए श्रेष्ठ भेषज (आरोग्य) प्राप्त कराओ।

महर्षि इस मन्त्र के भावार्थ में लिखते हैं—"**नव प्राणैर्विना कश्चित् प्राणी वृक्षादयश्च शरीरं धारयितुं शक्नुवन्ति। तस्मात् क्षुत्तृषादिरोगनिवारणार्थं परममौषधं युक्त्या प्राणसेवनमेवास्तीति बोध्यम्॥**"

अर्थात् प्राणों के बिना कोई प्राणी और वृक्ष आदि शरीर धारण करने में समर्थ नहीं हो सकते। इसलिए भूख, प्यास आदि रोगों के निवारणार्थ परम औषध युक्तिपूर्वक प्राणों का सेवन करना ही है, ऐसा जानना चाहिए।

निम्नलिखित मन्त्र में युगल देवता सोमापूषणौ (सोम और पूषा) को महर्षि ने प्राणापान अर्थ में गृहीत कर मन्त्र की व्याख्या की है—

सोमापूषणा जनना रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः।
जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ देवा अकृण्वन्नमृतस्य नाभिम्॥

—ऋग् २.४०.१

अन्वयः—हे मनुष्याः, देवाः यौ रयीणां जनना दिवो जनना पृथिव्याः जनना जातौ विश्वस्य भुवनस्य गोपौ सोमापूषणा अमृतस्य नाभिम् अकृण्वन् तौ विजानीत।

पदार्थः—हे मनुष्यो, (देवाः) विद्वान् जन, जिन (रयीणां जनना) धनों को सुखपूर्वक उत्पन्न करने वाले, (दिवः जनना) प्रकाश के उत्पन्न करने वाले, (पृथिव्याः जनना) पृथिवी के उत्पन्न करने वाले, (जातौ) उत्पन्न हुए (विश्वस्य भुवनस्य गोपौ) समस्त संसार की रक्षा करने वाले (सोमापूषणा) प्राण और अपान को (अमृतस्य) नाशरहित परमात्मा का (नाभिम्) ज्ञापक[१९] (अकृण्वन्) प्रकट करें, उन प्राण-अपान को विशेषता से जानो।

भावार्थः—मनुष्यैः प्रकाशपृथिवीधनानां निमित्ते भूत्वा सर्वस्य रक्षकौ, परमात्मनो ज्ञापकौ प्राणापानौ वर्तेते इति वेद्यम्।

अर्थात् मनुष्यों को यह जानना चाहिए कि प्रकाश, पृथिवी और

१९. "अमृतस्य नाभिम्" का यह अर्थ भावार्थ के अनुसार किया है। मुद्रित में यह पाठ है—(अमृतस्य) नाशरहित पदार्थ के (नाभिम्) मध्य भाग को।

धनों की उत्पत्ति में निमित्त होकर सबकी रक्षा करने वाले प्राण और अपान परमात्मा के ज्ञपाक होते हैं।

जाठराग्नि

निम्न मन्त्र में महर्षि ने वैश्वानर अग्नि का अर्थ श्लेष से जाठराग्नि तथा परमात्मा दोनों लेकर यह भाव लिया है कि हमारी जाठराग्नि ठीक रहे, जिससे पुनः प्रतिदिन जागरणवेला में हम मन, आयु, प्राण, आत्मा तथा चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों को प्राप्त करते रहें। इसी प्रकार परमात्मा हमारी पापों से रक्षा करें, जिससे पुनर्जन्म में हम पुनः पूर्वोक्त मन, आयु आदि को प्राप्त करें। इस प्रकार यहाँ एक ही मन्त्र में दोनों अध्यात्म-प्रक्रियाओं का प्रयोग महर्षि ने किया है—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्
पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगन्
पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं म आगन्
वैश्वानरोऽदब्धस्तनूपा
अग्निर्नः पातु दुरितादवद्यात्॥ —यजु० ४.१५

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अधियज्ञ प्रक्रियानुसारी अर्थ

स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य में कर्मकाण्ड या यज्ञ का किस सीमा तक वर्णन किया है, इसका उल्लेख उन्होंने स्वयं ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के प्रतिज्ञाविषय में कर दिया है—

''अत्र वेदभाष्ये कर्मकाण्डस्य वर्णनं शब्दार्थतः करिष्यते। परन्त्वेतैर्वेदमन्त्रैः कर्मकाण्डविनियोजितैर्यत्रयत्राऽग्निहोत्राद्य-श्वमेधान्ते यद् यत् कर्तव्यं तत्तदत्र विस्तरशो न वर्णयिष्यते। कुतः? कर्मकाण्डानुष्ठानस्यैतरेयशतपथब्राह्मणपूर्वमीमांसाश्रौतसूत्रादिषु यथार्थं विनियोजितत्वात्, पुनस्तत्कथनेनानृषिकृतग्रन्थवत् पुन-रुक्तपिष्टपेषणदोषापत्तेश्चेति। तस्माद् युक्तिसिद्धो वेदादि-प्रमाणानुकूलो मन्त्रार्थानुसृतस्तदुक्तोऽपि विनियोगो ग्रहीतुं योग्योऽस्ति।''

इससे स्पष्ट है कि महर्षि ने अपने भाष्य में कर्मकाण्ड का वर्णन शब्दार्थतः ही किया है। जो अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त यज्ञों के विधिविधान तथा मन्त्रों के विनियोग विस्तार से ऐतरेय,

शतपथब्राह्मण, पूर्वमीमांसा, श्रौतसूत्र आदियों में पहले ही किये जा चुके हैं, उनका पिष्टपेषण उन्होंने अपने भाष्य में नहीं किया है। उन पूर्वोक्त विनियोगों के सम्बन्ध में महर्षि का यह मत है कि उनमें जो युक्तिसिद्ध, वेदादि प्रमाणों के अनुकूल और मन्त्रार्थ से अनुसृत विनियोग है, वे ग्रहण कर लेने चाहिएँ।

परन्तु विधियों का तथा विनियोगों का विस्तृत वर्णन न होने पर भी केवल शब्दार्थ की दृष्टि से देखें तो भी दयानन्द-भाष्य की अधियज्ञ प्रक्रिया को विशेष देन है। स्वामी जी ने मन्त्रार्थ विनियोगानुसारी न करके स्वतन्त्र किया है, अतः वह पूर्वप्रचलित कर्मकाण्डपरक अर्थों से भिन्न है। कतिपय पूर्वकृत विनियोगों का अनुसरण करते हुए उन्होंने पंचमहायज्ञविधि और संस्कारविधि ग्रन्थ लिखे हैं। स्वामी जी ने यद्यपि "यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु" धातु के आधार पर यज्ञ का व्यापक अर्थ किया है, तथापि यहाँ अधियज्ञ प्रक्रिया के वर्णन में अग्निहोत्र पूर्वक किये जाने वाले यज्ञ को ही हम लेंगे।

ऋग्वेदभाष्य में यज्ञ के अधिक वर्णन की आशा अग्नि देवता के सूक्तों में ही हो सकती थी। किन्तु महर्षि ने इन सूक्तों में अग्नि का अर्थ परमेश्वर, विद्युत्, सूर्य, सेनापति, सभाध्यक्ष, राजा, विद्वान् आदि ही अधिकतर किया है। जहाँ भौतिक पार्थिव अग्नि अर्थ भी किया है वहाँ वह सामान्य अग्निरूप में है, जिससे शिल्प प्रक्रिया व अन्य विविध कार्य सिद्ध होते हैं। उसी में अग्नि द्वारा सिद्ध होने वाला यज्ञ या अग्निहोत्र भी है। तथापि मनुष्य को यज्ञ करने की प्रेरणा, यज्ञ के लाभ आदि का समुचित वर्णन ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के दयानन्दभाष्य में यत्र-तत्र उपलब्ध होता है। यथा[२०]—

स्तृणीत बर्हिरानुषग् घृतपृष्ठं मनीषिणः।
यत्रामृतस्य चक्षणम्॥ —ऋग् १.१३.५

ऋषि इसका अर्थ करते हैं—हे (मनीषिणः) बुद्धिमान् विद्वानो, (यत्र) जिस अन्तरिक्ष में (अमृतस्य) जलसमूह का (चक्षणम्)

---

२०. यज्ञपरक अन्य अर्थों के लिए द्रष्टव्यः ऋग् भाष्य १.६.४, १.६.८, १.१२.५, १.१३.२, १.१९.५, १.३१.५, १.९३.७, १.१६२.५, १.१६४.५१, ३.४.४-५ आदि।

दर्शन होता है, उस (आनुषक्) चारों ओर से घिरे और (घृतपृष्ठम्) जल से भरे हुए (बर्हिः) अन्तरिक्ष को (स्तृणीत) होम के धूम से आच्छादन करो।

यजुर्वेद के निम्न मन्त्रों के भाष्य में महर्षि यज्ञ की नित्य-कर्त्तव्यता बताते हैं—

अह्रुतमसि हविर्धानं दृंहस्व मा ह्वार्मा ते यज्ञपतिर्ह्वार्षीत्।
विष्णुस्त्वा क्रमतामुरु वातायापहतं रक्षो यच्छन्तां पञ्च॥

—यजु० १.९

हे ऋत्विज् मनुष्य, तुम जो अग्नि से बढ़ा हुआ (अह्रुतम्) कुटिलतारहित (हविर्धानम्) होम के योग्य पदार्थों का धारण करना है उसको (दृंहस्व) बढ़ाओ, किन्तु किसी समय में (मा ह्वाः) उसका त्याग मत करो तथा यह (ते) तुम्हारा (यज्ञपतिः) यजमान भी उस यज्ञ के अनुष्ठान को (मा ह्वार्षीत्) न छोड़े। इस प्रकार तुम लोग (पञ्च) एक तो ऊपर की चेष्टा होना, दूसरा नीचे की, तीसरा चेष्टा से अपने अंगों को संकोचना, चौथा उनका फैलाना, पाँचवाँ चलना-फिरना आदि इन पाँच प्रकार के कर्मों से हवन के योग्य जो द्रव्य हो उसको अग्नि में (यच्छन्ताम्) हवन करो। (त्वा) वह जो हवन किया हुआ द्रव्य है उसको (विष्णुः) जो व्यापनशील सूर्य है वह (अपहतम् रक्षः) दुर्गन्धादि दोषों का नाश करता हुआ (उरु वाताय) अत्यन्त वायु की शुद्धि वा सुख की वृद्धि के लिये (क्रमताम्) चढ़ा देता है।

मा भेर्मा संविक्था अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयात्।
त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वा॥ —यजु० १.२३

हे विद्वान् पुरुषो, तुम (अतमेरुः) श्रद्धालु होकर (यजमानस्य) यजमान के यज्ञ के अनुष्ठान से (मा भेः) भय मत करो, और उससे (मा संविक्थाः) मत चलायमान हो। इस प्रकार (यज्ञः) यज्ञ करते हुए तुमको उत्तम से उत्तम (अतमेरुः) ग्लानिरहित, श्रद्धावान् (प्रजा) सन्तान (भूयात्) प्राप्त हो, और मैं (त्वा) भौतिक अग्नि को उक्त गुणयुक्त तथा (एकताय) सत्य सुख के लिये (द्विताय) वायु तथा वृष्टि जल की शुद्धि के लिए तथा (त्रिताय) अग्नि, कर्म और हवि के होने के लिए (संयौमि) निश्चल करता हूँ।

यजुर्वेदभाष्य में व्याख्यात यज्ञसम्बन्धी अनेक मन्त्र दैनिक अग्निहोत्र व संस्कारविधि में आ जाते हैं, अतः यहाँ उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। यज्ञ के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्वामी जी ने अपने सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में स्पष्ट कर दिया है। उसके विषय में शंकाओं के उत्तर भी वहाँ दिये हैं। स्वामी जी यज्ञ के प्रबल समर्थक हैं। अपने वेदभाष्य में मन्त्र के पदार्थ या भावार्थ में अनेक स्थलों पर उन्होंने बताया है कि यज्ञ के द्वारा वायुशुद्धि, आरोग्य, दीर्घायुष्य, वृष्टि, सुख-समृद्धि, मन-बुद्धि-प्राण एवं शरीर की बलवृद्धि तथा धर्मार्थकाममोक्ष की सिद्धि होती है[२१]। उनका कथन है कि यज्ञ में सुगन्धित, रोगनिवारक और पुष्टिप्रद द्रव्यों की ही आहुति दी जानी चाहिए। वे यज्ञ में पशुहिंसा को अवैदिक कहते हैं। यजु० १९.८१ के "**त्वगस्य मांसमभवन्न लाजाः**" की व्याख्या करते हैं कि त्वचा, मांस और भुंजा हुआ सूखा अन्न आदि होम करने योग्य नहीं होता[२२]॥

अग्निः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन्नग्निः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः। वायुः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन् वायुः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः। सूर्यः पशुरासीत् तेनायजन्त स एतं लोकमजयद् यस्मिन्त्सूर्यः स ते लोको भविष्यति तं जेष्यसि पिबैता अपः॥ —यजु० २३.१७

इस मन्त्र के भाष्य में महर्षि लिखते हैं—"**हे मनुष्याः, सर्वेषु यज्ञेष्वग्न्यादीनेव पशून् जानन्तु। नैव प्राणिनोऽत्र हिंसनीया होतव्या वा सन्ति। य एवं विदित्वा सुगन्ध्यादिद्रव्याणि सुसंस्कृत्याग्नौ जुह्वति (तेषां) तानि वायुं सूर्यं च प्राप्य वृष्टिद्वारा निवर्त्य ओषधीः प्राणान् शरीरं बुद्धिं च क्रमेण प्राप्य सर्वान् प्राणिन आह्लादयन्ति।**

---

२१. द्रष्टव्यः दयानन्द भाष्य, ऋग् १.६.४, १.३४.८, १.९३.७, ५.१३.४, यजु० १.१२, १.२०, १.२५, २.१, ३.४९, ६.१०, ७.२६, ८.५८, २२.६,२३

२२. "अस्य मध्ये त्वङ् मांसं लाजा वा हविर्नाभवदिति च वित्त।" (अस्य) इसके मध्य (त्वक्) त्वचा (मांसम्) मांस और (लाजाः) भुंजा हुआ सूखा अन्न आदि होम करने योग्य (न अभवत्) नहीं होता, इसको भी तुम जानो।

एतत्कर्तारः पुण्यस्य महत्त्वेन परमात्मानं प्राप्य महीयन्ते'', अर्थात् हे मनुष्यो, सब यज्ञों में अग्नि आदि को ही पशु जानो। प्राणी इन यज्ञों में मारने योग्य नहीं, न होमने योग्य हैं। जो ऐसा जानकर सुगन्धि आदि पदार्थों को अग्नि में होम करते हैं, उनके वे पदार्थ वायु और सूर्य को प्राप्त होकर वर्षा द्वारा वहाँ से लौटकर ओषधियों, प्राणों, शरीर और बुद्धि को क्रम से प्राप्त होकर सब प्राणियों को आनन्दित करते हैं। इस यज्ञ के कर्त्ताजन पुण्य के महत्त्व से परमात्मा को प्राप्त होकर महिमान्वित होते हैं।

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में अधिभूतप्रक्रियानुसारी अर्थ

दयानन्द के वेदभाष्य में सबसे अधिक ध्यान आकृष्ट करने वाली विशेषताओं में से एक यह है कि उन्होंने वेदमन्त्रों के समाज-परक अर्थ भी किये हैं, जिनकी ओर इतर भाष्यकारों की प्रवृत्ति अधिक नहीं हुई थी। स्वामी दयानन्द ने बताया कि वेद के अग्नि, इन्द्र आदि देवता जैसे अधिदैवत में भौतिक अग्नि, सूर्य आदि या अध्यात्म में परमात्मा, जीवात्मा, प्राण आदि हो सकते हैं, वैसे ही समाज या राष्ट्र में राजा, सेनापति, विद्वान् आदि के रूप में व्याख्यात किये जा सकते हैं।

राज-धर्म

स्वामी जी ने अनेक मन्त्रों का जो राजा-प्रजा-परक भाष्य किया है, उससे वेदों में राजनीति का एक विशाल वृक्ष लहलहाता हुआ दृष्टिगोचर होता है। इस विषय में स्वामी जी की सूक्ष्म दृष्टि का परिज्ञान निम्न सरल मन्त्र के भाष्य को देखने से ही हो जाता है—

अग्ने सहस्व पृतना अभिमातीरपास्य।
दुष्टरस्तरन्नरातीर्वर्चो धा यज्ञवाहसे॥ —ऋग् ३.२४.१

इस मन्त्र में अग्नि से शत्रुसेनाओं के तिरस्कार, अभिमानी रिपुओं के पराभव, अदानी वैरियों के पराजय तथा यज्ञकर्ता को वर्चस् प्रदान करने की प्रार्थना की गयी है। सायण आदि भाष्यकारों का अभिप्राय है कि अग्नि नामक देव-विशेष हमारे यज्ञ से प्रसन्न होकर यह सब कर देगा। परन्तु स्वामी दयानन्द यहाँ अग्नि का अर्थ अग्नि के समान

दुष्टों का दाहक वीर पुरुष करते हैं। मन्त्र की व्याख्या कर भावार्थ में लिखते हैं—"**राजपुरुषैः स्वप्रजासेना बलवतीः कृत्वा दुष्टान् शत्रून् निवार्य प्रजावर्द्धनाय धनविद्योन्नतिः सततं कर्तव्या**"।

अर्थात् राजपुरुषों को चाहिए कि अपनी प्रजा और सेनाओं को बलवती करके और दुष्ट शत्रुओं का निवारण करके प्रजा की वृद्धि के लिए धन और विद्या की निरन्तर उन्नति करें।

यजुर्वेद के निम्न मन्त्र का ऋषि-भाष्य भी द्रष्टव्य है—

क्षत्रेणाग्ने स्वायुः संरभस्व मित्रेणाग्ने मित्रधेये यतस्व।
सजातानां मध्यमस्था एधि राज्ञामग्ने विहव्यो दीदिहीह॥

—यजु० २७.५

उवट तथा महीधर ने इसका यज्ञपरक व्याख्यान किया है तथा अग्नि का अर्थ यज्ञाग्नि लेते हुए 'राजा लोग भी यज्ञकर्ता हों' यह अभिप्राय लिया है। स्वामी जी इसकी अधिभूत व्याख्या करते हैं। स्वामि भाष्य के पदार्थ को अन्वयानुसारी करने पर यह अर्थ होगा—

हे (अग्ने) पावकवत् तेजस्विन्, त्वम् (इह) अस्मिन् संसारे राज्याधिकारे वा (क्षत्रेण) राज्येन धनेन वा सह (स्वायुः) शोभनं च तदायुश्च (संरभस्व) सम्यक् आरम्भं कुरु। हे (अग्ने) विद्याविनयप्रकाशक, (मित्रेण) धार्मिकैर्विद्वद्भिर्मित्रैः सह (मित्रधेये) मित्रैर्धर्तव्ये व्यवहारे (यतस्व) यत्नं कुरु। हे (अग्ने) न्यायप्रकाशक, (सजातानां) समानजन्मनां (राज्ञाम्) धार्मिकाणां राजाधिराजानां मध्ये (मध्यमस्थाः) मध्ये भवा मध्यमाः पक्षपातरहितास्तेषु तिष्ठतीति (एधि) भव। (विहव्यः) विशेषेण स्तोतुं योग्यः सन् (दीदिहि) प्रकाशितो भव च।

अर्थात् हे अग्नि के तुल्य तेजस्वी विद्वन्, आप इस जगत् में वा राज्याधिकार में राज्य वा धन के साथ शोभन आयु का अच्छे प्रकार आरम्भ कीजिए। हे विद्या और विनय से शोभायमान राजन्, धर्मात्मा विद्वान् मित्रों के साथ मित्रों से धारण करने योग्य व्यवहार में प्रयत्न कीजिए। हे न्याय का प्रकाश करने हारे सभापति, एक साथ उत्पन्न हुए बराबर की अवस्था वाले धर्मात्मा राजाधिराजों के बीच मध्यस्थ अर्थात् वादीप्रतिवादी के साक्षी हूजिए और विशेषकर स्तुति के योग्य होते हुए प्रकाशित हूजिए।

भावार्थ लिखते हैं—**राजा सदा ब्रह्मचर्येण दीर्घायुः सत्यधर्मप्रियैरमात्यैः सह मन्त्रयिताऽन्यै राजभिः सह सुसन्धिः पक्षपातं विहाय न्यायाधीशः सर्वैः सुलक्षणैर्युक्तः सन् दुष्टव्यसनविरहो भूत्वा धर्मार्थकाममोक्षान् धैर्येण शान्त्याऽप्रमादेन च शनैश्शनैः साधयेत्।**

अर्थात् सभापति राजा को चाहिए कि वह सदा ब्रह्मचर्य से दीर्घायु, सत्यधर्म से प्रीति रखने वाले मन्त्रियों से मन्त्रणा करने वाला, अन्य राजाओं से उत्तम सन्धि करने वाला, पक्षपात छोड़कर न्यायाधीश, सब सुलक्षणों से युक्त और दुर्व्यसनों से रहित होकर धैर्य शान्ति और अप्रमाद से शनैः शनैः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को सिद्ध करें।

रुद्र देवता के निम्नलिखित मन्त्र में अन्य भाष्यकारों ने रुद्र को देवविशेष मानकर उसे यज्ञिय हवि देने तथा प्रत्युपकार-स्वरूप उसकी सुमति पाने का ही वर्णन किया है; किन्तु महर्षि दयानन्द रुद्र का अर्थ सत्योपदेशप्रद सभाध्यक्ष राजा[२३] लेते हैं हैं तथा प्रजा द्वारा उसे राजकर (हविः)[२४] प्रदान किये जाने परक अर्थ करते हैं—

अश्याम ते सुमतिं देवयज्यया क्षयद्वीरस्य तव रुद्र मीढ्वः।
सुम्नायन्निद् विशो अस्माकमा चरारिष्टवीरा जुहवाम ते हविः॥

—ऋग् १.११४.३

इसके भाष्य में भावार्थ में महर्षि लिखते हैं—"**राज्ञा प्रजाः सततं सुखयितव्याः प्रजाभी राजा च। यदि राजा प्रजाभ्यः करं गृहीत्वा न पालयेत् तर्हि स राजा दस्युवद् विज्ञेयः। याः पालिताः प्रजा राजभक्ता न स्युस्ता अपि चोरतुल्या बोध्याः। अत एव प्रजा राज्ञे करं ददति यतोऽयमस्माकं पालनं कुर्यात्, राजाप्येतत्प्रयोजनाय पालयति यतः प्रजा मह्यं करं प्रदद्युः।**"

अर्थात् राजा को चाहिए कि वह प्रजाओं को निरन्तर सुख दे और प्रजाएँ राजा को सुख दें। यदि राजा प्रजाओं से कर लेकर उनका पालन न करे, तो वह राजा डाकू के समान जानना चाहिए। जो पालन

२३. "रुद्र रुतः सत्योपदेशान् राति ददातीति तत्सम्बुद्धौ"—पदार्थः। "हे मीढ्वो रुद्र सभाध्यक्ष राजन्"—अन्वय। अन्यत्र दुष्ट शत्रुओं को रुलाने के कारण भी राजा को रुद्र कहा है—रुद्र दुष्टानां शत्रूणां रोदयितः, य० भा० १६.१।

२४. हविः ग्रहीतुं योग्यं करम्। पदार्थ

की हुई प्रजाएँ राजभक्त न हों, उन्हें भी चोरों के तुल्य जानना चाहिए। इसीलिए प्रजा राजा को कर देती है कि जिससे यह हमारा पालन करे, राजा भी इसी प्रयोजन से पालन करता है कि प्रजा मुझे कर दे।

निम्न मन्त्र में स्वामी दयानन्द ने इन्द्र को सम्राट् के रूप में गृहीत किया है—

स्वयुरिन्द्र स्वराडसि स्मद्दिष्टिः स्वयशस्तरः।
स वावृधान ओजसा पुरुष्टुत भवा नः सुश्रवस्तमः॥

—ऋग् ३.४५.५

भाष्य के पदार्थ को अन्वयक्रम में परिवर्तित करने पर इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार बनता है—**हे (पुरुष्टुत) बहुभिः प्रशंसित (इन्द्र) परमैश्वर्यवन्, यः त्वं (स्वयुः) यः स्वं धनं याति सः, (स्वराट्) यः स्वेनैव राजते सः, (स्मद्दिष्टिः) कल्याणोपदेष्टा, (स्वयशस्तरः) स्वकीयं यशो धनं प्रशंसनं वा यस्य सोऽतिशयितः (असि), स त्वम् (ओजसा) पराक्रमेण (वावृधानः) वर्द्धमानः (सुश्रवस्तमः) सुष्ठुधनः श्रवणयुक्तः सोऽतिशयितः (नः) अस्मभ्यं (भव) अत्र द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः।**

अर्थात् हे बहुतों में प्रशंसित परमैश्वर्यशाली सम्राट्, जो आप धन को पाने वाले, स्वतन्त्र राज्यकर्ता, कल्याण कर्म का उपदेश देने वाले, अतिशय धनी और प्रशंसास्पद हैं, वह आप अपने पराक्रम से बढ़ते हुए, अत्यन्त शुभ धन वाले और प्रार्थना को सुनने वाले हमारे लिए हों।

भावार्थ लिखते हैं—**स एव सम्राट् भवितुं योग्यो जायते योऽतिशयेन प्रशंसितगुणकर्मस्वभावो भवति। स एव सम्राट् सर्वेषां वर्द्धको भवतीति।**

अर्थात् वही सम्राट् होने योग्य होता है, जो अतिशय प्रशंसित गुण-कर्म-स्वभाव वाला हो। वही सम्राट् सबकी उन्नति करने वाला होता है।

निम्न मन्त्र में भी इन्द्र का अर्थ महर्षि ने राजा किया है तथा **''अथ प्रजाविषयमाह''** कहते हुए यह माना है कि इस मन्त्र में विश्वामित्रों (सबके मित्र प्रजाजनों) को प्रेरणा दी है कि वे [कर आदि के प्रदान द्वारा] उसके धन-कोश की वृद्धि करें।

विश्वामित्रा अरासत ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे।
करदिन्नः सुराधसः ॥ —ऋग् ३.५३.१३

पदार्थ—हे (विश्वामित्राः) सब के मित्रो, आप लोग, जो (नः) हम लोगों को (सुराधसः) उत्तम धन से युक्त (करत्) करे, उस (इत्) ही (वज्रिणे) धनुर्वेद के जानने वाले (इन्द्राय) राजा के लिए (ब्रह्म) धन की (अरासत) वृद्धि करें।

भावार्थ—यो राजा सर्वाः प्रजाः सुखसम्पन्नाः कुर्यात् तमेव प्रजाः परमैश्वर्ययुक्तं कुर्युः।

जो राजा सब प्रजाओं को सुखी करे, उसी को प्रजाएँ परमैश्वर्ययुक्त करें।

मन्त्र में आये 'विश्वामित्राः' को महर्षि ने यौगिक माना है। सायण ऐतिहासिक ऋषि ही मानते हैं, किन्तु यह बहुवचनान्त क्यों है, इसका समाधान उन्होंने नहीं किया। ११वें मन्त्र में कुशिकाः आया है, जिसका आशय उन्होंने लिया है—**कुशिकगोत्रोत्पन्नाः पुत्राः**। इस सूक्त का ऋषि एक ही विश्वामित्र है, अनेक विश्वामित्र नहीं। ऋग् ३.१.२१ में विश्वामित्र का बहुवचनान्त प्रयोग "**विश्वामित्रेभिः**" आया है, वहाँ सायण ने बहुवचन पूजा में माना है—**पूजायां बहुवचनम्**। ऋग् १०.८९.१७ के भाष्य में बहुवचनान्त 'विश्वामित्राः' का अर्थ "विश्वामित्रपुत्राः" किया है, परन्तु वहाँ भी विश्वामित्र का पुत्र रेणु एक ही ऋषि है, अनेक विश्वामित्र पुत्र ऋषि नहीं है।

निम्नलिखित मन्त्र के भाष्य में इन्द्र आदि कतिपय वैदिक देवों का महर्षि ने अधिराष्ट्र स्वरूप बताया है। इन्द्र सेनापति है, बृहस्पति बड़े अधिकारों का अध्यक्ष है, सोम सेनाप्रेरक है, देवसेनाएँ विद्वानों की सेनायें हैं, मरुत् वीर सैनिक हैं।

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभञ्जतीनां जयन्तीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥
—यजु० १७.४०

पदार्थः—(इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तः सेनापतिः शिक्षकः (आसाम्) प्रत्यक्षाणाम् (नेता) नायकः (बृहस्पतिः) बृहतामधिकाराणामध्यक्षः (दक्षिणा) दक्षिणस्यां दिशि (यज्ञः) संगन्ता (पुरः) पूर्वम् (एतु)

गच्छतु (सोमः) सेनाप्रेरकः। (देवसेनानाम्) विदुषां सेनानाम् (अभिभञ्जतीनाम्) शत्रुसेनानामभितो मर्दनमाचरन्तीनाम् (जयन्तीनाम्) शत्रुविजयेनोत्कर्षन्तीनाम् (मरुतः) वायुवद् बलिष्ठाः शूरवीराः (यन्तु) गच्छन्तु (अग्रम्)।

यह मन्त्र-क्रमागत पदों का अर्थ है। अन्वय इस प्रकार है—**(युद्धे) अभिभञ्जतीनां जयन्तीनाम् आसां देवसेनानां नेता इन्द्रः [पश्चात्,] यज्ञः पुरः, बृहस्पतिः दक्षिणा, सोमः [उत्तरस्यां] च एतु, मरुतः अग्रं यन्तु।**

इसमें युद्धनीति का वर्णन किया गया है। युद्ध में सेनापति सेनाओं के पीछे रहे, सेनाओं में सामंजस्य रखने वाला पूर्व में रहे, महाधिकारी दाहिने रहे, सेनाप्रेरक उत्तर में रहे, शूरवीर आगे रहें।

भावार्थ में रणनीति इस प्रकार बताते हैं—**यदा राजपुरुषाः शत्रुभिर्युयुत्सेयुस्तदा सर्वासु दिक्ष्वध्यक्षान्, शूरवीरानग्रतो, भीरूनन्तः संस्थाप्य भोजनाच्छादनवाहनास्त्रशस्त्रयोगेन युध्येरन्। तत्र विद्वत्सेनाधीना मूर्खसेनाः कार्याः। ता विद्वांसो वक्तृत्वेनोत्साहयेयुः, अध्यक्षाश्च पद्मव्यूहादिभिर्योधयेयुः।**

अर्थात् जब राजपुरुष शत्रुओं से युद्ध करना चाहें तब सब दिशाओं में अध्यक्षों को, शूरवीरों को आगे, भीरुओं को बीच में रखकर भोजन आच्छादन, वाहन और अस्त्र-शस्त्रों को जुटा कर युद्ध करें। वहाँ विद्वानों की सेना के अधीन मूर्खों की सेना करनी चाहिए। विद्वान् लोग मूर्ख सेनाओं को वक्तृता से उत्साहित करें और अध्यक्ष लोग पद्मव्यूह आदियों से युद्ध करायें।

शिक्षा व अध्ययन-अध्यापन

महर्षि ने अपने वेदभाष्य में अधिभूत व्याख्या द्वारा अनेक शिक्षासम्बन्धी रहस्यों का भी उद्घाटन किया है।

आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करस्त्रजम्।
यथेह पुरुषोऽसत्॥ —यजु० २.३३

यहाँ वे 'पितरः' का अर्थ विद्वान् गुरुजन करते हैं—हे (पितरः) विद्यादान से रक्षा करने वाले विद्वान् पुरुषो, आप (यथा) जैसे यह ब्रह्मचारी (इह) इस संसार वा हमारे कुल में (पुरुषः) अपने शरीर

और आत्मा के बल को प्राप्त होके विद्या और पुरुषार्थ से युक्त मनुष्य (असत्) हो, वैसे (गर्भम्) गर्भ के समान (पुष्करस्रजम्) विद्याग्रहण के लिए फूलों की माला धारण किये हुए (कुमारम्) ब्रह्मचारी को (आधत्त) अच्छी प्रकार स्वीकार कीजिए।

भावार्थ लिखते हैं—"**ईश्वर आज्ञापयति विद्वद्भिर्विदुषीभिश्च विद्यार्थिनः कुमारा विद्यार्थिन्यः कुमार्यश्च विद्यादानाय गर्भवद् धार्याः। यथा गर्भे देहः क्रमेण वर्धते तथैव सुशिक्षयैव (एते) एताश्च सद्विद्यायां वर्धयितव्याः पालनीयाश्च, यतो विद्यायोगेन धार्मिकाः पुरुषार्थयुक्ता भूत्वा सदैव सुखयुक्ता भवेयुरित्येतत् सदैवानुष्ठेयमिति।**"

अर्थात् ईश्वर आज्ञा देता है कि विद्वान् पुरुष और विदुषी स्त्रियों को चाहिए कि वे विद्यार्थी कुमार और विद्यार्थिनी कुमारियों को विद्या देने के लिए गर्भ के समान धारण करें। वैसे गर्भ में देह क्रम-क्रम से बढ़ता है वैसे ही अध्यापक-अध्यापिकाओं को चाहिए कि सुशिक्षा से ही ब्रह्मचारी कुमार और ब्रह्मचारिणी कुमारी भी श्रेष्ठ विद्या में वृद्धि करें और उनका पालन करें, जिससे वे विद्या के योग से धर्मात्मा और पुरुषार्थी होकर सदैव सुखी हों।

कर्मकाण्डिक व्याख्यानुसार इस मन्त्र का विनियोग पिण्डपितृयज्ञ में किया गया है—**आधत्तेति मध्यमं पिण्डं पत्नी प्राश्नाति पुत्रकामेति** (का. ४.१.२२)। पितरों को पिण्डदान के पश्चात् मध्यम पिण्ड को पुत्रकामा पत्नी भक्षण करती है। इस मन्त्र का महीधरकृत अर्थ है—हे पितरो, जिससे इसी ऋतु में देव, पितर और मनुष्यों के अपेक्षित अर्थ का पूरयिता हो जाये, वैसे पुत्ररूप गर्भ को सम्पन्न करो, जो पुत्र कमल-मालाधारी देवभिषक् अश्वी देवों के तुल्य रोगहीन और सुन्दर हो।

नीचे दिये मन्त्र में महर्षि दयानन्द ने देवाः का अर्थ विद्वान् अध्यापक किया है—

विश्वे देवास आ गत शृणुता म इमं हवम्।
एदं बर्हिर्नि षीदत॥ —ऋग् २.४१.१३

अन्वय-क्रम में परिवर्तित करने पर पदार्थ इस प्रकार होगा—हे **विश्वे सर्वे देवासः विद्वांसः, यूयम् आगत आगच्छत, इदं वर्हिः**

उत्तमासनं नि नितरां सीदत उपाध्वम्। मे मम इमं हवम् आदातव्यं शब्दार्थसम्बन्धाध्ययनम् आ शृणुत, अत्र संहितायामिति दीर्घः।

अर्थात् हे सब विद्वानो, तुम आओ, इस उत्तमासन पर बैठो और मेरे इस शब्दार्थ-सम्बन्धी अध्ययन को अच्छे प्रकार से सुनो।

भावार्थ—विद्यार्थिनोऽध्यापकान् प्रत्येवं ब्रूयुर्भवन्त इहागच्छन्तु, सर्वोत्तमासने स्थित्वाऽस्माभिरधीतानां शास्त्राणां मध्ये परीक्षां कुरुत।

अर्थात् विद्यार्थीजन अध्यापकों से यह कहें कि आप यहाँ आइये और सर्वोत्तम आसन पर बैठकर हमसे पढ़े हुए शास्त्रों में हमारी परीक्षा लीजिये।

वनस्पति देवता के निम्न मन्त्र में वनस्पति का अर्थ विद्वान् लेकर उसे प्रेरणा दी गयी है—

उच्छ्रयस्व वनस्पते वर्ष्मन् पृथिव्या अधि।
सुमिती मीयमानो वर्चो धा यज्ञवाहसे॥ —ऋग् ३.८.३

पदार्थ—हे (वर्ष्मन्) श्रेष्ठ गुणों के प्रचारक (वनस्पते) सेवनयोग्य धन के रक्षक विद्वान्, आप (पृथिव्याः) भूमि के (अधि) ऊपर खम्भे के तुल्य (उत् श्रयस्व) ऊँचे हूजिये। (मीयमानः) सत्कार किये जाते हुए (सुमिती) सुन्दर बुद्धि से (यज्ञवाहसे) पढ़ने-पढ़ाने आदि यज्ञ के प्राप्त कराने हारे विद्यार्थी के लिये (वर्चः) पढ़ने रूप तेज को (धाः) धारण कीजिये।

जो ब्रह्मचर्यपूर्वक गुरुमुख से विद्या ग्रहण कर घर आता है, वही श्रेष्ठ और प्रशंसनीय होता है, यह महर्षि निम्न मन्त्र के भाष्य में व्याख्यात करते हैं—

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः॥
—ऋग् ३.८.४

अन्वय—[योऽष्टमं वर्षमारभ्य ब्रह्मचर्येण गृहीतविद्यो] युवा सुवासाः परिवीतः [सन्] गृहमागात् स उ [विद्यायां] जायमानः [सन्] श्रेयान् भवति। तं देवयन्तो धीरासः स्वाध्यः कवयो मनसा उन्नयन्ति।

अर्थात् जो आठवें वर्ष से लेकर ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या ग्रहण कर, युवावस्था को प्राप्त, सुन्दर वस्त्रों को धारण किये, सर्वतः विद्या में

व्याप्त हुआ घर आता है, वही विद्या में जन्म लिया हुआ स्नातक अति प्रशस्त होता है। उसको कामना करने वाले, बुद्धिमान्, साधु प्रकार से विद्या का आधान करने वाले, विद्या में पारंगत विद्वान् जन विज्ञान वा अन्त:करण से उन्नत करते हैं।

भावार्थ—नहि कश्चिदपि विद्यासुशिक्षाब्रह्मचर्यसेवनेन विना दीर्घायुः सभ्यो विद्वान् भवितुमर्हति, न चैष क्वापि सत्कारं प्राप्तुं योग्यो जायते। यं धार्मिका विद्वांसः प्रशंसन्ति स एव विद्वानस्ति।

अर्थात् कोई भी विद्या, सुशिक्षा और ब्रह्मचर्य सेवन के बिना दीर्घायु, सभ्य और विद्वान् नहीं हो सकता, न ही कहीं सत्कार पाने योग्य होता है। जिसकी धार्मिक विद्वान् लोग प्रशंसा करते हैं वही विद्वान् है।

यजुर्वेद षष्ठ अध्याय के इस मन्त्र का ऋषि-भाष्य भी अवलोकनीय है—

वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि
चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते शुन्धामि
नाभिं ते शुन्धामि मेढ्रं ते शुन्धामि
पायुं ते शुन्धामि चरित्रांस्ते शुन्धामि॥ —यजु० ६.१४

विद्वान् गुरुजन और गुरुपत्नियाँ अपने शिष्य-शिष्याओं को कहते हैं कि हम तुम्हारे वाणी, प्राण, चक्षु आदि इन्द्रियों को और तुम्हारे चरित्रों को शुद्ध करते हैं। भावार्थ में महर्षि लिखते हैं— **''गुरुभिर्गुरुपत्नीभिश्च वेदोपवेदवेदांगोपांगशिक्षया देहेन्द्रियान्तः-करणात्ममनःशुद्धिशरीरपुष्टिप्राणसंतुष्टीः प्रदाय सर्वे कुमाराः सर्वाः कन्याश्च सद्‌गुणेषु प्रवर्त्तयितव्या इति।''**

अर्थात् गुरु और गुरुपत्नियों को चाहिये कि वेद, उपवेद, वेदाङ्ग और उपाङ्गों की शिक्षा से देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण, आत्मा और मन की शुद्धि, शरीर की पुष्टि तथा प्राण की संतुष्टि देकर सब कुमार और सब कन्याओं को सद्‌गुणों में प्रवृत्त करें।

कर्मकाण्डपरक व्याख्या के अनुसार इस कण्डिका द्वारा अग्निषोमीयपशुप्रयोग में पशु बकरे के काटे जाने के पश्चात् यजमानपत्नी क्रमशः प्रत्येक अंग पर जलस्पर्श कराती हुई मृत पशु का प्राणशोधन करती है। महीधर ने कात्यायन-श्रौतसूत्र को उद्धृत करते हुए इसे

इसी रूप में व्याख्यात किया है।

अश्विनौ

इसी प्रसंग में दयानन्द-भाष्य में विद्वान् अध्यापक-उपदेशक रूप में अश्विनौ के दर्शन करने भी उचित हैं, जिनके अध्यापक-उपदेशक होने में मन्त्र का अन्तःसाक्ष्य भी विद्यमान है—

ता विद्वांसा हवामहे वां ता नो विद्वांसा मन्म वोचेतमद्य।
प्रार्चद् दयमानो युवाकुः ॥ —ऋग् १.१२०.३

इस मन्त्र का महर्षि ने आशय लिया है कि—सकल विद्याजन्य प्रश्नों का उत्तरों से समाधान करने वाले तुम पूर्ण विद्वान् अध्यापक-उपदेशकों का हम स्वीकार करते हैं। वे विद्वान् तुम लोग हमें मन्तव्य वेदोक्त ज्ञान का उपदेश करो। सबके ऊपर दया करने वाला, सब अधीत विद्याओं से जनों को संयुक्त करने वाला तुम्हारा विद्यार्थी तुम्हारा सत्कार करे।

पदार्थ—(ता) तौ सकलविद्याजन्यप्रश्नानुत्तरैः समाधातारौ (विद्वांसा) पूर्णविद्यायुक्तावाप्तावध्यापकोपदेशकौ। अत्राकारादेशः। (हवामहे) आदद्मः (वाम्) युवाम्, (ता) तौ (नः) (अद्य) अस्मिन् वर्तमानसमये (प्र) (आर्चत्) सत्कुर्यात् (दयमानः) सर्वेषामुपरि दयां कुर्वन् (युवाकुः) यो यावयति मिश्रयति संयोजयति सर्वाभिर्विद्याभिः सह जनान् सः।

भावार्थ—अस्मिन् संसारे यो यस्मै सत्या विद्याः प्रदद्यात् स तं मनोवाक्कायैः सेवेत। यः कपटेन विद्यां गूहेत तं सततं तिरस्कुर्यात्। एवं सर्वे मिलित्वा विदुषां मानमविदुषामपमानं च सततं कुर्युर्यतः सत्कृता विद्वांसो विद्याप्रचारे प्रयतेरन्नसत्कृता अविद्वांसश्च।

अर्थात् इस संसार में जो जिसे सत्य विद्याएँ देवे, वह उसकी मन, वाणी और शरीर से सेवा करे। जो कपट से विद्या छिपाये उसका निरन्तर तिरस्कार करे। इस प्रकार सब मिलकर विद्वानों का सम्मान और अविद्वानों का अपमान निरन्तर करें, जिससे सत्कार पाये हुए विद्वान् जन विद्या-प्रचार में प्रयत्न करें और असत्कार पाये हुए अविद्वान् जन भी।

इस मन्त्र के देवता अश्विनौ हैं, तथा मन्त्रगत 'विद्वांसा' और

'मन्म वोचेतम्' शब्द उनके अध्यापक-उपदेशक होने में ज्ञापक हैं।

अन्य कतिपय मन्त्रों में अश्विनौ का अर्थ महर्षि शिल्पवेत्ता दम्पती करते हैं। यथा—

आ वां रथो अश्विना श्येनपत्वा सुमृळीकः स्ववां यात्वर्वाङ्।
यो मर्त्यस्य मनसो जवीयान् त्रिबन्धुरो वृषणा वातरंहाः॥

—ऋग् १.११८.१

अर्थात् हे बलिष्ठ शिल्पवित् स्त्री-पुरुषो, जो तुम्हारा बाज पक्षी के समान उड़ने वाला, अतिशय सुख देने वाला, जिसमें स्वजन अथवा स्वकीय पदार्थ भरे हैं ऐसा, मनुष्य के मन से भी अधिक वेगवान्, नीचे, मध्य में और ऊपर तीनों स्थानों पर बन्धनों वाला, वायु के तुल्य वेग वाला विमानादि यान है, वह हमें प्राप्त हो।

भाष्य के संस्कृत पदार्थ को अन्वयानुसार करने पर उसका यह रूप होगा—

हे (वृषणा) बलिष्ठौ, (अश्विना) शिल्पविदौ दम्पती, (वां) युवयोः, (यः) (त्रिबन्धुरः) त्रयो बन्धुरा अधोमध्योर्ध्वे बन्धा यस्मिन् सः (श्येनपत्वा) श्येन इव पतति यः सः अत्र पतधातोरन्येभ्योऽपि दृश्यन्त इति वनिप् (वातरंहाः) वात इव रंहो गमनं यस्य सः, (मर्त्यस्य मनसः जवीयान्), (सुमृडीकः) सुष्ठु सुखयिता (स्ववान्) प्रशस्ताः स्वे भृत्याः पदार्था वा विद्यन्ते यस्मिन् सः (रथः) अस्ति, सः (अर्वाङ्) अधः (आयातु) आ गच्छतु।

वैदिक देवियों की नारी-परक व्याख्या

वेदों में जो स्त्रीलिंगी देवता उषा, राका, सिनीवाली, अदिति, इडा, सरस्वती प्रभृति आती हैं, उनकी नारीपरक व्याख्या करके महर्षि ने समाज और घर में नारी की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डाला है। वे उषा के सूक्तों में श्लेष से प्रभातवेला और प्रकाशवती नारी दोनों अर्थ करते हैं तथा उषा के गुणों को नारी-जीवन में ग्रहण करने की प्रेरणा देते हैं। यथा—

व्यञ्जिभिर्दिव आतास्वद्यौदप कृष्णां निर्णिजं देव्यावः।
प्रबोधयन्त्यरुणेभिरश्वैरोषा याति सुयुजा रथेन॥

—ऋग् १.११३.१४

हे स्त्रीजनो, जैसे सोतों को जगाती हुई दिव्यगुणयुक्त उषा अभिव्यंजक गुणों के साथ आकाश से सर्वत्र व्याप्त दिशाओं में सब पदार्थों को विशेषकर प्रकाशित करती है, वा निश्चितरूप कृष्णवर्णा रात्रि को दूर करती वा अरुणिमा आदि गुणयुक्त व्यापनशील किरणों के साथ वर्तमान सुष्ठुयुक्त रमणीय स्वरूप से आती है, उसके समान तुम लोग वर्ता करो।

भावार्थ में लिखते हैं—"**अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथोषाः काष्ठासु व्याप्तास्ति तथा कन्या विद्यासु व्याप्नुयुः। यथेयमुषाः स्वकान्तिभिः सुशोभना रमणीयेन स्वरूपेण प्रकाशते तथैताः स्वशीलादिभिः सुन्दरेण रूपेण शुम्भेयुः। यथेयमुषा अन्धकार-निवारणप्रकाशं जनयति तथैता मौर्ख्यं निवार्य सुसभ्यतादिगुणैः प्रकाशन्ताम्।**"

अर्थात् इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जैसे उषा दिशाओं में व्याप्त है, वैसे कन्याएँ विद्याओं में व्याप्त होवें। जैसे यह उषा अपनी कान्तियों से सुशोभित होकर रमणीय स्वरूप से प्रकाशित होती है, वैसे ये कन्याएँ अपने शील आदि गुणों से और सुन्दर रूप से शोभित हों। जैसे यह उषा अन्धकार-निवारक प्रकाश को उत्पन्न करती है, वैसे ये कन्याएं मूर्खता का निवारण करके सुसभ्यता आदि गुणों से प्रकाशित हों।

इडे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति।
एता तेऽघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥

—यजु० ८.४३

कर्मकाण्डिक विनियोग में इस कण्डिका द्वारा यजमान रोहिणी गौ के दाहिने कान में जपता है। तदनुसार उवट और महीधर ने इसका यज्ञिय गौपरक ही अर्थ किया है। स्वामी दयानन्द इसका नारीपरक अर्थ करते हैं तथा उन्होंने इसका पत्नी देवता लिखा है। तदनुसार नारी या पत्नी प्रशंसनीय गुणयुक्त, रमणीय, स्वीकार करने योग्य, कमनीय, आह्लादकारिका, सुशील से द्योतमान, आत्मस्वरूप से अविनाशिनी, प्रशस्तविज्ञानवती, पूज्यतमा, अनेक अच्छी बातों को और वेद को जानने वाली होनी चाहिए।

पदार्थ—(इडे) स्तोतुमर्हे, (रन्ते) रमणीये, (हव्ये)

स्वीकर्तुमर्हे, (काम्ये) कमनीये, (चन्द्रे) आह्लादकारिके, (ज्योते) सुशीलेन द्योतमाने, (अदिते) आत्मस्वरूपेणाविनाशिनि, (सरस्वति) प्रशस्तं सरो विज्ञानं विद्यते यस्यास्तत्सम्वुद्धौ, (महि) पूज्यतमे, (विश्रुति) विविधाः श्रुतयः श्रवणानि तद्वति, (एता) एतानि (ते) तव (अघ्न्ये) हन्तुं तिरस्कर्तुमयोग्ये (नामानि) गौणिक्य आख्याः। (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यो, दिव्यगुणयुक्तपतिभ्यः (मा) माम् (सुकृतम्) सुष्ठु कर्तव्यं कर्म (ब्रूयात्) ब्रूहि।

एक वैदिक देवता सिनीवाली है, जिसका याज्ञिकों के अनुसार अमावस्या अर्थ है तथा नैरुक्तों के अनुसार देवपत्नी। निरुक्त में इसका निर्वचन किया गया है—**सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि, वालं पर्व वृणोतेः, तस्मिन्नन्नवती बालिनी वा, बालेनेवास्यामणुत्वाच्चन्द्रमाः सेवितव्यो भवतीति वा** (निरु० ११.३१)। स्वामी जी इसका अर्थ प्रेमबन्धन में बद्ध नारी करते हैं।

सिनीवालि पृथुष्टुके या देवानामसि स्वसा।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि दिदिड्ढि नः॥ —ऋग् २.३२.६

अन्वय-क्रम में परिवर्तित करने पर इसका संस्कृत पदार्थ इस प्रकार होगा—**हे (पृथुष्टुके) विस्तीर्णजघने (सिनीवालि) प्रेम्णा युक्ते, (या) त्वं (देवानां) विदुषां (स्वसा) भगिनी (असि) सा त्वं मया (आहुतं) समन्तात् प्रक्षिप्तं (हव्यं) दातुमर्हं द्रव्यं जुषस्व सेवस्व। हे (देवि) कामयमाने, त्वं (नः) अस्माकं (प्रजां) सन्तानं (दिदिड्ढि) उपाचिनुहि। अत्र बहुलं छन्दसीति शपः श्लुः।** अर्थात् हे विस्तीर्ण जघनों वाली, प्रेम से युक्त नारी, जो तू विद्वानों की बहिन है, वह तू मेरे द्वारा चारों ओर से लाकर दिये गये द्रव्य को प्रीति से सेवन कर। हे कामनामयी, तू हमें सन्तान प्रदान कर।

भावार्थ—या विद्वत्कुलस्य कन्या विद्वद्बन्धुर्ब्रह्मचर्येण प्राप्तविद्या प्रकाशमाना भवेत् तां पत्नीं विधाय विधिनास्यां सन्तानानि य उत्पादयेत् स (सा) च सततं सुखिनौ स्याताम्।

अर्थात् जो विद्वानों के कुल की और विद्वानों के बन्धुत्व की कन्या ब्रह्मचर्यपूर्वक विद्या प्राप्त करके प्रकाशमान हो उसे पत्नी बनाकर विधिपूर्वक इसमें जो सन्तान उत्पन्न करता है वह पुरुष और वह स्त्री

निरन्तर सुखी होते हैं।

यजुर्वेद के निम्न मन्त्र का इष्टका-उपधान में विनियोग होने के कारण उवट एवं महीधर ने इसे इष्टाकापरक व्याख्यात किया है। किन्तु स्वामी जी ने इसका देवता विदुषी माना है तथा वे इसे पत्नीपरक व्याख्यात करते हैं। वर वधू को कहता है कि इन-इन गुणों से विशिष्ट तुझको मैं अमुक-अमुक बातों के लिए ग्रहण करता हूँ।

यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥ —यजु० १४.२२

अन्वय-क्रम में अर्थ इस प्रकार होगा—**पुनः पत्नी कीदृशी स्यादित्याह। हे स्त्रि, या त्वं (यन्त्री) यन्त्रवत् स्थिता, (राट्) प्रकाशमाना, (यन्त्री) यन्त्रनिर्मित्ता भूमिरिव असि, (यमनी) आकर्षणेन नियन्तुं शीला, (ध्रुवा) आकाशवद् दृढा, (धरित्री) सर्वेषां धारिका असि, तां (त्वा) त्वाम् (इषे) इच्छा-सिद्धये, (त्वा) त्वाम् (ऊर्जे) पराक्रमप्राप्तये, (त्वा) त्वां (रय्यै) लक्ष्म्यै, (त्वा) त्वाम् (पोषाय) [पुष्ट्यै] च अहं स्वीकरोमि।** अर्थात् हे स्त्री, जो तू भूमि के समान यन्त्रवत् स्थित, प्रकाशमान और नियन्त्रण में निमित्त है, आकर्षण से नियम में रखने के स्वभाव वाली और आकाश के समान दृढ है, सबको या सब शुभ गुणों को धारण करने वाली है, उस तुझको इच्छासिद्धि के लिए, पराक्रम-प्राप्ति के लिए, लक्ष्मी के लिए और पुष्टि के लिए मैं स्वीकार करता हूँ।

भावार्थ—या स्त्री भूमिवत् क्षमान्विताऽन्तरिक्षवदक्षोभा यन्त्रवज्जितेन्द्रिया भवति सा कुलदीपिकाऽस्ति।

अर्थात् जो स्त्री पृथिवी के समान क्षमायुक्त, आकाश के समान अक्षुब्ध और यन्त्रकला के तुल्य जितेन्द्रिय होती है, वह कुल को प्रकाशित करने वाली बनती है।

पुत्र को शिक्षा

स्थिरो भव वीड्वङ्ग आशुर्भव वाज्यर्वन्।
पृथुर्भव सुषुदस्त्वमग्नेः पुरीषवाहणः॥ —यजु० ११.४४

यह मन्त्र 'अर्वा' को संबोधित किया गया है। उवट एवं महीधर ने रासभाभिमन्त्रण में इसका विनियोग किया है तथा अर्वा का अर्थ

रासभ ही किया है—**इयर्ति प्रतिपदार्थं गच्छतीत्यर्वा रासभः** (मही०)। स्वामी दयानन्द मन्त्र की पुत्रपरक व्याख्या करते हैं। उनके अनुसार इस मन्त्र में यह बताया गया है कि माता-पिता अपनी सन्तानों को किस प्रकार उपदेश करें—**अथ पितरौ स्वापत्यानि कथं शिक्षेयातामित्युपदिश्यते।**

अन्वयः—हे अर्वन् पुत्र त्वं विद्याग्रहणाय स्थिरो भव, वाजी वीड्वङ्गः आशुर्भव। त्वमग्रेः सुषदः पुरीषवाहणः पृथुर्भव।

"हे विज्ञानयुक्त पुत्र, तू विद्याग्रहण के लिए स्थिर हो। नीति को प्राप्त, दृढ़ बलिष्ठ अंगों वाला, शीघ्र कर्म करने वाला हो। तू अग्नि के शोभन व्यवहारों में स्थित और पालन आदि शुभ कर्मों को प्राप्त कराने वाला तथा सुख का विस्तार करने वाला हो।"

भावार्थ—हे सुसन्तानाः, युष्माभिर्ब्रह्मचर्येण शरीरबलं विद्यासुशिक्षाभ्यामात्मबलं च पूर्णं दृढं कृत्वा स्थिरतया रक्षा विधेया, आग्नेयास्त्रादिना शत्रुविनाशश्चेति मातापितरः स्वसन्तानान् सुशिक्षेयुः।

अर्थात् हे उत्तम सन्तानो, तुमको चाहिये कि ब्रह्मचर्य से शरीर का बल और विद्या तथा सुशिक्षा से आत्मा का बल पूर्ण दृढ़ कर स्थिरता से आत्मरक्षा करो और आग्नेयास्त्र आदि से शत्रुओं का विनाश करो, इस प्रकार माता-पिता अपने सन्तानों को सुशिक्षा करें।

रुद्र वैद्य

कतिपय रुद्र देवता वाले मन्त्रों में स्वामी जी रुद्र का अर्थ सर्वरोगदोषनिवारक वैद्य करते हैं। यथा—

त्वादत्तेभी रुद्र शन्तमेभिः शतं हिमा अशीय भेषजेभिः।
व्यस्मद् द्वेषो वितरं व्यंहो व्यमीवाश्चातयस्वा विषूचीः॥

—ऋग् २.३३.२

भाष्य में इसका पदार्थ तथा भावार्थ इस प्रकार लिखा है—

पदार्थ—हे (रुद्र) सर्वरोगदोषनिवारक वैद्यराज, आप हम लोगों को (वि चातयस्व) विशेषकर जाँचें। (त्वादत्तेभिः) आपसे दी हुई (शंतमेभिः) अतीव सुख करने वाली (भेषजेभिः) औषधों से (विषूचीः) समग्र शरीर में व्याप्त (अमीवाः) रोगों को (वि) आप

दूर करो। आप (अस्मत्) हमसे (द्वेषः) वैरियों को वा ईर्ष्या आदि दोषों को और (वितरम्) विशेषता से उल्लंघन करने योग्य (अंहः) पापात्मक कर्म को वा कुपथ्यादि कर्म को (वि) दूर करो, जिससे मैं (शतं हिमाः) सौ संवत्सर आनन्द को (वि अशीय) विशेषकर प्राप्त होऊँ।

भावार्थ—हे वैद्याः, यूयम् अत्युत्तमैरौषधैः सर्वेषां महतो रोगान् निवार्य रागद्वेषोन्मादादिदोषांश्च वियोज्य शतवार्षिकान् प्रायो जनान् कुरुत।

अर्थात् हे वैद्यो, आप अत्युत्तम औषधों से सबके बड़े-बड़े रोगों को निवारण करके तथा राग-द्वेष-उन्माद आदि दोषों को हटाकर मनुष्यों को प्रायः शत वर्ष की आयु वाला कर दो।

शकुनि उपदेशक

ऋग्वेद, २य मण्डल के सूक्त ४२,४३ का देवता सायण ने कपिञ्जलरूपी इन्द्र और स्वामी दयानन्द ने कपिञ्जल के समान इन्द्र (कपिञ्जल इवेन्द्रः) लिखा है। कात्यायन अपनी ऋक्सर्वानुक्रमणी में लिखते हैं कि इन सूक्तों के द्वारा ऋषि ने मार्ग में बोलते हुए पक्षी की स्तुति की—"**एताभ्यामृषिरध्वनि वाश्यमानं शकुन्तं तुष्टाव**"। सायण ने आश्वलायन गृह्यसूत्र का विनियोग उद्धृत करते हुए लिखा है कि पक्षियों की अमनोज्ञ वाणी सुनकर इस सूक्त का जप करे—"वयसाममनोज्ञा वाचः श्रुत्वा कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुबाण इति सूक्तं जपेत्" (आश्व. गृ. ३.१०.९)। सायण ने कपिंजल पक्षीपरक ही अर्थ किया है। किन्तु स्वामी दयानन्द यहाँ पक्षी के समान भ्रमण करते हुए उपदेश करने वाला उपदेशक अर्थ लेते हैं। निम्न मन्त्र द्रष्टव्य है—

कनिक्रदज्जनुषं प्रब्रुवाण इयर्ति वाचमरितेव नावम्।
सुमङ्गलश्च शकुने भवासि मा त्वा काचिदभिभा विश्व्या विदत्॥

—ऋग् २.४२.१

भावार्थ में महर्षि लिखते हैं—"**अत्रोपमालंकारः। य उपदेशको यथारित्राणि नावं प्राप्नुवन्ति तथा सर्वान् मनुष्यानुपदेशाय प्राप्नोत्युपदिशन् पक्षिवद् भ्रमति तस्मै सुमङ्गलाचाराय कश्चित् प्रभाभंगो न स्यादेतदर्थं राज्ञोपदेशकानां रक्षा विधेया**"।

अर्थात् इस मन्त्र में उपमालङ्कार है। जो उपदेशक जैसे चप्पू नौका को प्राप्त होते हैं, वैसे सब मनुष्यों को उपदेश के लिए प्राप्त होते

हैं और उपदेश करता हुआ पक्षी के समान भ्रमण करता है, उस सुमङ्गलाचारी का कोई प्रभाभङ्ग न हो एतदर्थ राजा को चाहिए कि उपदेशकों की रक्षा करे।

कृषि-विद्या

ऋक् ४.५७ कृषि-सूक्त है। अन्य भाष्यकारों ने भी यद्यपि इसकी व्याख्या कृषिपरक ही की है, तथापि इसमें आने वाले 'क्षेत्रस्य पतिः' 'शुनासीरौ' और 'इन्द्र' के उन्होंने अधिदैवत अर्थ ही लिये हैं। 'क्षेत्रस्य पतिः' निरुक्त में मध्यम स्थानीय देवों में पठित होने से अधिदैवत में वायु है। निरुक्त में शुनासीरौ को वायु और आदित्य माना है—**शुनो वायुः शु एति अन्तरिक्षे, सीर आदित्यः सरणात्**। इन्द्र मध्यमस्थानीय विद्युत् है। शुनासीरौ पर शौनकीय बृहद् देवता ग्रन्थ में लिखा है कि शाकपूणि आचार्य सूर्य और इन्द्र को शुनासीरौ मानता है[२५]। सायण ने शुन को इन्द्र और सीर को वायु कहा है[२६], फिर वायु-आदित्य वाला नैरुक्त मत भी दिया है। क्षेत्रपति के विषय में सायण ने एक श्लोक दिया है, जिसका भाव है कि कुछ रुद्र को क्षेत्रपति कहते हैं, दूसरे अग्नि को क्षेत्रपति मानते हैं; अथवा क्षेत्रपति कोई स्वतन्त्र ही देव है[२७]। इन्द्र को सायण ने इन्द्रदेव मात्र कहा है। स्वामी दयानन्द ने प्रकृत में इन देवों के अधिभूत तात्पर्य लिये हैं, क्षेत्रपति से खेत का स्वामी, शुनासीरौ से भूस्वामी और खेत में कार्य करने वाले सेवक तथा इन्द्र से भूमि-विदारक किसान[२८]।

शुनं नः फाला वि कृषन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अभि यन्तु वाहैः।
शुनं पर्जन्यो मधुना पयोभिः शुनासीरा शुनमस्मासु धत्तम्॥

—ऋग् ४.५७.८

---

२५. वायुः शुनः सूर्य एवात्र सीरः शुनासीरौ वायुसूर्यौ वदन्ति।
शुनासीरं यास्क इन्द्रं तु मेने, सूर्येन्द्रौ तौ मन्यते शाकपूणिः॥ —बृ. दे. ५.८

२६. द्युदेवः शुनदेवता इति शौनकः। अतः शुन इन्द्रः सीरो वायुः (मन्त्र ५), हे शुनासीरा इन्द्रवायू वाय्वादित्यौ वा (मन्त्र ८)। सायण

२७. रुद्रं क्षेत्रपतिं प्राहुः केचिदग्निमथापरे।
स्वतन्त्र एव वा कश्चित् क्षेत्रस्य पतिरुच्यते॥

२८. क्षेत्रस्य पतिः स्वामी। (क्षेत्रस्य) अन्न के उत्पन्न होने की भूमि का (पतिः) स्वामी (मन्त्र ३)। शुनासीरौ क्षेत्रपति-भृत्यौ (मन्त्र ५), शुनासीरा सुखदस्वामिभृत्यौ कृषीवलौ (मन्त्र ८)। इन्द्रः भूमेर्दारयिता (मन्त्र ७)।

यथा फालाः अयोनिर्मिता भूमिविलेखनार्थाः [उपकरण-संभाराः] वाहैः वृषभादिभिः नः अस्मभ्यं भूमिं शुनं सुखं विकृषन्तु, कीनाशाः कृषीवलाः शुनं सुखम् अभि यन्तु, पर्जन्यः मेघः मधुना मधुरादिगुणेन पयोभिः उदकैः शुनं सुखम् अभिवर्षतु, तथा शुनासीरा सुखदस्वामिभृत्यौ कृषीवलौ अस्मासु शुनं सुखं धत्तं धरतम्[२९]।

अर्थात् जैसे हल के अग्रभाग में लगे लोह-फलक बैल आदियों से चलाये जाते हुए हमारे लिए भूमि को सुखपूर्वक खोदें, कृषक सुखपूर्वक चलें, बादल मधुरतापूर्वक जलों से सुख के साथ बरसे, वैसे हे किसान कहे जाने वाले खेत के स्वामी और मजदूरो, तुम हमें सुख प्रदान करो।

भावार्थ—कृषीवला मनुष्या अत्युत्तमानि फालादीनि निर्माय हलादिना भूमिमुत्तमां निष्कृष्योत्तमं सुखं प्राप्नुवन्तु तथैवान्येभ्यो राजादिभ्यः सुखं प्रयच्छन्त्विति।

अर्थात् किसान मनुष्यों को चाहिये कि उत्तम फाल आदि बनाकर हल आदि से भूमि को उत्तम प्रकार गोड़ कर उत्कृष्ट सुख प्राप्त करें, वैसे ही अन्य राजा आदि को सुख दें।

ऊपर दिये गये इन कतिपय उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि महर्षि दयानन्द वेदों की अधिभूत व्याख्या के लिए कितने अधिक सचेष्ट हैं।

उपसंहार

इस अध्याय में किये गये विवेचन से हम इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रथम अध्याय में जिन वेदार्थ-प्रक्रियाओं का परिचय दिया गया है, उनमें से ऐतिहासिक प्रक्रिया को छोड़कर शेष सभी प्रक्रियाओं में महर्षि दयानन्द ने वेद-मन्त्रों की प्रचुर रूप से व्याख्याएँ की हैं, यद्यपि अपनी व्याख्याओं में इन प्रक्रियाओं के नामों का उल्लेख नहीं किया है। अन्य वेद-भाष्यकारों के भाष्य अधियज्ञ, अध्यात्म आदि किसी एक ही प्रक्रिया को उद्देश्य बनाकर लिखे गये थे, अतः उनमें इतर प्रक्रियाओं के अर्थ बहुत कम हैं। परन्तु दयानन्द का

२९. यह अन्वय-क्रम से परिवर्तित पदार्थ है।

वेदभाष्य तो इस स्थापना को लेकर चलता है कि वेदों में सब सत्य विद्याएँ हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि दयानन्द के वेदभाष्य में सभी वेद-प्रक्रियाओं का उपयोग हो। प्रत्येक वेदार्थ-प्रक्रिया के लिए महर्षि के भाष्य से जो उदाहरण इस अध्याय में दिये गये हैं, उनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक स्थल उनके भाष्य में उपलब्ध हो जाते हैं, जिनसे उनके भाष्य में इन प्रक्रियाओं के उपयोग की व्यापकता प्रमाणित होती है।

यदि वेद मानव को उसके कर्त्तव्य-कर्मों का उपदेश देने के लिए हैं, तो यह भी स्वाभाविक है कि प्रत्येक श्रेणी के मानव के लिए सीधे रूप में कहे गये उपदेश उनमें हों। अतएव दयानन्द के भाष्य में सर्वाधिक जिस प्रक्रिया का उपयोग हुआ है वह अधिभूत प्रक्रिया है। वैदिक देवताओं के विद्वान्, अध्यापक, उपदेशक, राजा, सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, शिल्पी, मेधावी, विदुषी स्त्री, अध्यापिका, पत्नी आदि अर्थ महर्षि दयानन्द पदे-पदे करते हैं। परन्तु साथ ही सब कर्मों में मानव के आराध्य परमेश्वर को भी महर्षि विस्मृत नहीं करते, अतः परमार्थ को सूचित करने के लिए वे वेदार्थ में अध्यात्म-प्रक्रिया का भी पर्याप्त उपयोग करते हैं। वस्तुतः लौकिक व्यवहार और परमार्थ में वेदानुमोदित सामंजस्य महर्षि दयानन्द की विचारधारा की एक अनुपम विशेषता है। एक ओर जहाँ दयानन्द धर्मोपार्जित सब प्रकार की भौतिक सम्पत्ति धन-धान्य, पशु, हिरण्य, स्वराज्य, चक्रवर्ती राज्य को मानव के लिए उपादेय मानते हैं, वहाँ साथ ही यम, नियम योगाभ्यास, परमेश्वर की पूजा एवं मुक्ति के लिए प्रयास को भी जीवन का अंग मानते हैं। यही वैदिक आदर्श है। अतएव व्यवहारार्थ और परमार्थ इन दो अर्थों में ही महर्षि ने अपने सम्पूर्ण वेदार्थ को वर्गीकृत कर लिया है। अध्यात्म-प्रक्रिया को छोड़कर शेष सब वर्णित वेदार्थ-प्रक्रियाएँ कैसे महर्षि की व्यावहारिक प्रक्रिया के अन्तर्निहित हो जाती हैं, यह पूर्व दर्शाया जा चुका है।

महर्षि-भाष्य से विभिन्न वेदार्थ-प्रक्रियाओं के समर्थन में जो वेदमन्त्र ऊपर दिये गये हैं, उनका चुनाव करते हुए यह ध्यान रखा गया है कि वे प्रायः ऐसे हों जिनमें मन्त्र के देवतावाची पद अग्नि, वरुण, इन्द्र, अश्विनौ आदि का उस-उस प्रक्रिया के अनुरूप अर्थ किया गया हो। वस्तुतः किसी मन्त्रार्थ में कौन-सी वेदार्थ-प्रक्रिया

है, इसमें प्रायः निर्णायक देवतावाची पद का अर्थ ही होता है। देवता-पद का अर्थ परिवर्तित हो जाने पर शेष मन्त्र का अभिप्रायः भी उसके अनुरूप हो जाता है। उदाहरणस्वरूप निम्न मन्त्र को ले सकते हैं—

इमं यज्ञमिदं वचो जुजुषाण उपागहि।
सोम त्वं नो वृधे भव॥ —ऋग् १.९१.१०

इस मन्त्र का देवता सोम है। मन्त्र का सामान्य अर्थ यह है—"हे सोम, इस यज्ञ को और इस वचन को प्रीतिपूर्वक सेवन करता हुआ तू हमारे समीप आ। तू हमारी वृद्धि के लिए हो।" यहां सोम का अर्थ परमेश्वर लें, तो यज्ञ जीवनरूपी यज्ञ है, वचन स्तुति-वचन है। अध्यात्म-विज्ञान द्वारा हम परमेश्वर के अभिमुख हों, तो हमारी उन्नति होगी। यह अध्यात्म अथवा पारमार्थिक प्रक्रिया का अर्थ है। सोम का अर्थ विद्वान् मनुष्य करें तो विद्या-रक्षा या शिल्प-सिद्धि 'यज्ञ' है, तदनुकूल प्रार्थना वचन है। विद्वान् को समीप बुलाते हैं कि वह आकर हमारी उन्नति करे। सोम का अर्थ राजा भी ले सकते हैं। तब राष्ट्र-संचालन यज्ञ होगा, राजा से हम प्रार्थना करते हैं कि वह हमारे प्रार्थना-वचन के अनुसार अभिमुख होकर राष्ट्र की वृद्धि करे। यह दोनों (विद्वान् और राजा) अर्थ अधिभूत-प्रक्रिया के अर्थ हैं। सोम का अर्थ सोम ओषधि करें, तो मन्त्र से यह प्रेरणा मिलती है कि वैद्य की सहायता से हम उस ओषधि को प्राप्त करें तथा वह ओषधि हमारे शत-संवत्सर जीवन-यज्ञ में सेवित होकर हमारे शरीर की वृद्धि करे[३०]। सोम का अर्थ चन्द्रमा भी ले सकते हैं। सोम ओषधि तथा चन्द्रमा परक व्याख्या अधिदैवत व्याख्या है। यदि किसी यज्ञ-विधि में सोम का उपयोग करते हुए इस मन्त्र का विनियोग कर लिया जाये, तब यज्ञ का तात्पर्य प्रकृत यज्ञानुष्ठान ही होगा, तथा यह व्याख्या अधियज्ञ व्याख्या कहलायेगी।

यह भी संभव है कि कोई व्यक्ति इस मन्त्र पर इतिहास खड़ा कर ले। इस सूक्त का ऋषि गोतम है। अतः यह इतिहास रचा जा सकता है—"गोतम ऋषि रोगग्रस्त होने के कारण शरीर से दुर्बल

३०. तुलनीयः इस मन्त्र पर स्वामी दयानन्द का भाष्य, जिसमें परमेश्वर, विद्वान् तथा सोम औषधपरक व्याख्या है।

तथा धन से हीन हो गया था। उसे किसी ने यह परामर्श दिया कि तुम यज्ञ करो तथा उसमें देवता का आवाहन करो। सोम देव तुम्हारे दारिद्र्य को दूर करेंगे। अतः गोतम यज्ञ रचाकर सोमदेव का आवाहन कर रहा है।'' यदि व्याख्याता इन घटना को सच्चा इतिहास मानकर मन्त्र की व्याख्या करता है, तो यह ऐतिहासिक प्रक्रिया की व्याख्या मानी जायेगी। यदि कथाकार इस घटना को सचमुच का इतिहास न मानकर रोचकता की दृष्टि से ऐसी कथा रच लेता है, तब यह आख्यान-प्रक्रिया की व्याख्या कहलायेगी।

जहाँ मन्त्र का एक ही अर्थ सम्भव होता है अथवा एकाधिक अर्थ होने पर भी किया एक ही अर्थ जाता है, वहाँ वह अर्थ जिस कोटि का है, उसके अनुसार प्रक्रिया का निश्चय हो जाता है। कभी-कभी देवता-पद का अर्थ समान रहने पर भी भिन्न वेदार्थ-प्रक्रियाओं की व्याख्याएँ हो सकती हैं। यथा—

येनेदं भूतं भुवनं भविष्यत् परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु॥

—यजु० ३४.४

इस मन्त्र का देवता 'मनः' है। मन अर्थ में कोई परिवर्तन न करते हुए भी इस मन्त्र की अध्यात्म तथा अधियज्ञ दोनों व्याख्याएँ होती हैं। यह कहा गया है कि मन के द्वारा ही सप्तहोता यज्ञ चलता है। अध्यात्म में सप्तहोता यज्ञ है ज्ञान-यज्ञ। मनुष्य के ज्ञानयज्ञ के सात होता है पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, प्राण और आत्मा। मन के बिना यह ज्ञान-यज्ञ नहीं चल सकता, क्योंकि मन जिस ज्ञानेन्द्रिय से संयुक्त होता है, वही ज्ञानार्जन के लिए प्रवृत्त होती है। अधियज्ञ में यह यज्ञ अग्निष्टोम है, वह सात ऋत्विजों होता, मैत्रावरुण आदि से सम्पन्न होने के कारण सप्तहोता कहलाता है[३१]। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि दोनों ही व्याख्याओं की परिणति क्योंकि मन में होती है, और मन का सम्बन्ध शारीरिक अध्यात्म से है, अतः आंशिक रूप से द्विविध

---

३१. येन च मनसा यज्ञोऽग्निष्टोमादिः तायते विस्तार्यते। ...कीदृशो यज्ञः? सप्तहोता सप्त होतारो देवानामाह्वातारो होतृमैत्रावरुणादयो यत्र स सप्तहोता। अग्निष्टोमे सप्त होतारो भवन्ति—महीधर। तुलनीयः दयानन्द-भाष्य, जिसमें अध्यात्म और अधियज्ञ दो व्याख्याएँ हैं।

प्रक्रियाओं का अवलम्बन करने पर भी सम्पूर्ण मन्त्र-व्याख्यान अध्यात्म ही कहलायेगा।

अस्तु। इस अध्याय का निष्कर्ष यह है कि स्वामी दयानन्द ने अपनी पारमार्थिक और व्यावहारिक वेदार्थ-प्रक्रियाओं के माध्यम से अधिदैवत, अध्यात्म आदि विभिन्न प्रक्रियाओं के अर्थ अपने वेदभाष्य में किये हैं। इस अध्याय में दयानन्द-भाष्य के उन मन्त्रों को सामान्यत: नहीं लिया गया है जिनका अर्थ एकाधिक प्रक्रियाओं में किया गया है। उन पर अगले अध्याय में दृष्टिपात किया जायेगा।

□□

चतुर्थ अध्याय

स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में वेदमन्त्रों की एकाधिक प्रक्रियाओं में व्याख्या

अनेकार्थकता का उद्घाटन

वेदमन्त्रों को एकाधिक प्रिक्रियाओं में व्याख्यात करने की पुरातन शैली का महर्षि दयानन्द ने भी अनुसरण किया है। वे श्लेषादि अलंकारों के बल से मन्त्रों के एकाधिक अर्थ प्रायः करते हैं। ऋग्वेदभाष्य में सूक्त १ में अग्नि के परमेश्वर और भौतिक अग्नि, सूक्त २ में वायु के परमेश्वर और भौतिक वायु, सूक्त ३ में इन्द्र के परमेश्वर और सूर्य, सूक्त ५ में इन्द्र के परमेश्वर और वायु तथा परमेश्वर और सूर्य, सूक्त ६ में इन्द्र के परमेश्वर, सूर्य और वायु, सूक्त ११ में इन्द्र के परमेश्वर और शूरवीर सेनापति, परमेश्वर और सभाध्यक्ष राजा, एवं सूर्य और सेनापति अर्थ करते हुए मन्त्रों के दो-दो या तीन-तीन अर्थ किये हैं। यही शैली आगे भी भाष्य में दृष्टिगोचर होती है। परन्तु सर्वत्र ही महर्षि ने एकाधिक अर्थ किये हों ऐसा नहीं है। अनेक स्थलों में एक ही अर्थ किया है। प्रत्येक मन्त्र के ही एकाधिक अर्थ करने हैं ऐसा महर्षि का आशय नहीं है। जहाँ ऐसा वर्णन है जो ईश्वर में ही घट सकता है, वहाँ केवल ईश्वरपरक ही अर्थ करते हैं और जो वर्णन विद्वान् आदि या सूर्यादि में ही घटित हो सकता है उसका विद्वान् आदि परक या सूर्यादिपरक ही अर्थ करते हैं, ईश्वरपरक नहीं। यथा सोम देवता के सूक्त १.९१ की व्याख्या स्वामि-भाष्य में ईश्वर तथा विद्वान् परक की है, किन्तु मन्त्र १३ "**सोम रारन्धि नो हृदि**" आदि की व्याख्या केवल ईश्वरपरक ही की है और स्पष्ट लिख दिया है कि यहाँ असंभव होने से विद्वान् अर्थ नहीं होगा— **अत्रासंभवत्वाद् विद्वान् न गृह्यते**। इसी प्रकार मन्त्र २२ "**त्वमिमा ओषधीः सोम विश्वास्त्वमपो अजनयस्त्वं गाः**" में भी केवल ईश्वरपरक अर्थ किया है, क्योंकि वहाँ सोम के द्वारा ओषधियों, जलों, गौओं आदि की उत्पत्ति वर्णित है, जो विद्वान् के लिए संभव

नहीं है। यजुर्वेदभाष्य में "**स पर्यगाच्छुक्रमकायमव्रणम्**" ४०.८ का अर्थ भी केवल ईश्वरपरक किया है। परन्तु यह आग्रह भी समीचीन प्रतीत नहीं होता कि महर्षि ने वेदभाष्य में यदि किसी मन्त्र का एक अर्थ किया है तो उसका दूसरा अर्थ हो ही नहीं सकता। महर्षि ने स्वयं ऐसे कई मन्त्रों का अपने अन्य ग्रन्थों में दूसरा अर्थ किया है। यथा "**उदु त्यं जातवेदसम्**" यजु० ३३.३१ तथा "**शं नो देवीरभिष्टये**" यजु० ३६.१२ को यजुर्भाष्य में क्रमशः सूर्यपरक और जलपरक, किन्तु पंचमहायज्ञविधि के सन्ध्योपासनप्रकरण में दोनों को ईश्वरपरक व्याख्यात किया है। "**स वज्रभृद् दस्युहा**" ऋग् १.१००.१२ तथा "**वयं जयेम त्वया युजा**" ऋग् १.१०२.४ की ऋग्-भाष्य में सेनापतिपरक किन्तु आर्याभिविनय में ईश्वरपक व्याख्या की है। इसी प्रकार ऋग्भाष्य में "**मा नो महान्तम्**" ऋग् १.११४.७ की न्यायाधीशपरक, "**मानस्तोके तनये**" ऋग् १.११४.८ की राजपुरुषपरक और "**उद्गातेव शकुने साम गायसि**" ऋग् २.४३.२ तथा "**आवदंस्त्वं शकुने भद्रमावद**" ऋग् २.४३.३ की उपदेश परक व्याख्या की है, किन्तु आर्याभिविनय में इन सबकी ईश्वरपरक व्याख्या है। ऋग्भाष्य में "**मृडा नो रुद्र**" ऋग् १.११४.२ तथा "**पराणुदस्व मघवन्**" ऋग् ७.३२.२५ की राजपरक और "**ऊर्ध्वो नः पाह्यंहसो**" ऋग् १.३६.१४ तथा "**पाहि नो अग्ने**" ऋग् १.३६.१५ की सभाध्यक्षपरक व्याख्या है, किन्तु आर्याभिविनय में ये सब भी ईश्वरपरक व्याख्यात हैं। "**आ कृष्णेन रजसा**[१]" यजु. ३३.४३ की यजुर्वेदभाष्य में केवल सूर्यमण्डलपरक किन्तु ऋ भा. भू. के आकर्षणानुकर्षण विषय में परमात्मा और सूर्य उभयपरक व्याख्या है। परोपकारिणी सभा, अजमेर के पास महर्षि के हस्तलिखित ग्रन्थों में एक ऐसा हस्तलेख भी विद्यमान है, जिसमें ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों का अनेकार्थक भाष्य किया गया है। उसमें ऐसे सूक्त या मन्त्र भी अनेकार्थक व्याख्यात हुए हैं, जिनका मुद्रित वेदभाष्य में एक ही एक अर्थ स्वामी जी ने किया है। अतः जिस मन्त्र का स्वामी जी ने अपने वेदभाष्य में एक ही अर्थ दिया है, उस मन्त्र का कोई दूसरा अर्थ करना है या नहीं

१. यह मन्त्र ऋग्वेद (१.३५.२) में भी आता है। वहाँ भी परमात्मा और सूर्य उभयपरक व्याख्यात है। ऋ. भा. भू. में इस मन्त्र को उद्धृत करते हुए पता ऋग्वेद का नहीं, किन्तु यजुर्वेद का ही दिया है।

इसमें स्वामी जी की शैली से ही मार्गदर्शन प्राप्त करते हुए वेद के विद्यार्थी को अपने विवेक से काम लेना चाहिए।

वेद के सम्बन्ध में जैसे अन्य अनेक विषयों में महर्षि ने मार्गदर्शन किया है, वैसे ही वेदमन्त्रों की अनेकार्थकता के उद्घाटन में भी किया है। महर्षि ने जितने वेदमन्त्रों की एकाधिक व्याख्याएँ की हैं, उतने मन्त्रों की उनसे पूर्व किसी भाष्यकार ने नहीं की थीं। विभिन्न प्रक्रियाओं में उन्होंने जो किसी वेदमन्त्र की दो या अधिक व्याख्याएँ की हैं, उनके कुछ उदाहरण यहाँ प्रदर्शित किये जायेंगे।

अध्यात्म और अधिदैवत व्याख्याएँ

अध्यात्म और अधिदैवत दो व्याख्याएँ महर्षि-भाष्य में अनेक स्थानों पर हैं, जहाँ एक अर्थ परमेश्वरपरक तथा दूसरा भौतिक अग्नि, वायु, विद्युत्, सूर्यादिपरक किया गया है। विभिन्न देवताओं के कतिपय मन्त्रों की व्याख्या नमूने के रूप में प्रस्तुत है।

अग्नि

कविमग्निमुपस्तुहि सत्यधर्माणमध्वरे।
देवममीवचातनम्॥ —ऋग् १.१२.७

इस मन्त्र में मनुष्य को अग्नि की स्तुति के लिए प्रेरित किया गया है। महर्षि अग्नि से ईश्वर और भौतिक अग्नि दोनों का ग्रहण करते हैं। अग्नि के विशेषण यहाँ कवि, सत्यधर्मा, देव और अमीवचातन पठित हैं। ईश्वर सबकी बुद्धियों में पहुँचने के कारण कवि, नाशरहित धर्मों वाला होने से सत्यधर्मा, सुखदाता होने से देव और अज्ञानादि दोषों का विनाशक होने से अमीवचातन है। भौतिक अग्नि सब दृश्यों का दर्शयिता होने से कवि, नाशरहित धर्मों वाला होने से सत्यधर्मा, सुखदाता होने से देव और ज्वरादि रोगों का विनाशक होने से अमीवचातन है। अध्वर में अग्नि की स्तुति करनी है। अध्वर का अर्थ ईश्वर-पक्ष में उपासना-यज्ञ और भौतिक अग्नि के पक्ष में अग्निहोत्रादि यज्ञ है। स्तवन का अर्थ प्रकाशित करना है। संस्कृत-भाष्य इस प्रकार है—

अथाग्निशब्देनेश्वरभौतिकार्थावुपदिश्येते—

पदार्थ—(कविम्) सर्वेषां बुद्धीनां सर्वज्ञतया क्रमितारमीश्वरं,

सर्वेषां दृश्यानां दर्शयितारं भौतिकं वा (अग्निम्) ज्ञातारं दाहकं वा (उप) सामीप्येऽर्थे (स्तुहि) प्रकाशय (सत्यधर्माणम्) सत्या नाशरहिता धर्मा यस्य तम् (अध्वरे) उपासनीये कर्तव्ये वा यज्ञे (देवम्) सुखदातारम् (अमीवचातनम्) अमीवानज्ञानादीन् ज्वरादींश्च रोगान् चातयति हिनस्ति तम्।

अन्वय—हे मनुष्य, त्वमध्वरे सत्यधर्माणम् अमीवचातनं कविं देवम् अग्निं परमेश्वरं भौतिकं च उपस्तुहि।

भावार्थ—अत्र श्लेषालङ्कारः। मनुष्यैः सत्यविद्याधर्मप्राप्तये सत्यशिल्पविद्यासिद्धये चाग्निरीश्वरो भौतिको वा तत्तद्गुणैः प्रकाशयितव्यो यतः प्राणिनां रोगनिवारणेन सुखान्युपगतानि स्युः।

निम्न मन्त्र में भी अग्नि का एक अर्थ परमेश्वर तथा दूसरा शिल्पसाधक अग्नि करते हैं—

धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति तं धूर्व यं वयं धूर्वामः।

देवानामसि वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतमम्॥

—यजु० १.८

अथ सर्वविद्याधारकेश्वरो विद्यासाधनीभूतो भौतिकोऽग्निश्चोपदिश्यते—

पदार्थः—(धूः) सर्वदोषनाशकोऽन्धकारनाशको वा... (वह्नितमम्) वहति प्रापयति यथायोग्यं सुखानि स वह्निः सोऽतिशयितस्तम् (सस्नितमम्) अतिशयेन शुद्धं शुद्धिकारकं च। तथा शुद्धिहेतुं भौतिकं वा। अथवा स्वव्याप्त्या सर्वजगद्वेष्टयितारमीश्वरं शिल्पविद्याहेतुं व्यापनशीलं भौतिकं वा। स्ना शौचे अथवा ष्णै वेष्टने इत्यस्य रूपम्। (पप्रितमम्) प्राति प्रपूरयति सर्वाभिर्विद्याभिरानन्दैश्च जनान् स्वव्याप्त्या जगद्वा मूर्तं वस्तु शिल्पिविद्यासाध्याङ्गानि च यः सोऽतिशयितस्तम्। (जुष्टतमम्) धार्मिकैर्भक्तजनैः शिल्पभिश्च यो जुष्यते स जुष्टः, अतिशयेन जुष्टस्तम्। (देवहूतमम्) देवैर्विद्वद्भिः हूयते शब्द्यते सोऽतिशयितस्तम्। ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे चेत्यस्य रूपम्।

अन्वयः—हे परमेश्वर, यतस्त्वं धूरसि सर्वाभिरक्षकश्चासि तस्माद्वयमिष्टबुद्ध्या देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं

देवहूतमं त्वां नित्यमुपास्महे। योऽस्मान् धूर्वति यं च वयं धूर्वामस्तं त्वं धूर्व। यश्च सर्वद्रोही तमपि धूर्वन्तं सर्वहिंसकं सदैव धूर्व। इत्येकः।

हे शिल्पविद्यां चिकीर्षो, त्वं यो भौतिकोऽग्निर्धूः सर्व-पदार्थच्छेदकत्वाद्धिंसकोऽस्ति तं क्लाकौशलेन यानेषु सम्प्रयोजनीयं देवानां वह्नितमं सस्नितमं पप्रितमं जुष्टतमं देवहूतममग्निं वयं धूर्वामस्ताडयामः योऽ युक्त्या सेवितोऽस्मान् धूर्वति तं धूर्वन्तमग्निं धूर्व। हे वीर, त्वं यो दुष्टशत्रुरस्मान् धूर्वति तमप्याग्नेयास्त्रेण धूर्व, यश्च दस्युरस्ति तमपि धूर्व। इति द्वितीयः।

ईश्वर-पक्ष में—हे परमेश्वर, आप (धूः) सब दोषों के नाशक और जगत् की रक्षा करने वाले (असि) हैं, इस कारण हम लोग इष्ट बुद्धि से (देवानाम्) विद्वानों को (वह्नितमम्) विद्या, मोक्ष और सुख में यथायोग्य पहुँचाने वाले, (सस्नितमम्) अतिशय शुद्ध तथा शुद्ध करने वाले, (पप्रितमम्) सब विद्या और आनन्द से संसार को पूर्ण करने वाले, (जुष्टतमम्) धार्मिक भक्तजनों से सेवा करने योग्य और (देवहूतमम्) विद्वानों से स्तुति करने योग्य आप की नित्य उपासना करते हैं। (यः) जो कोई द्वेषी, छली, कपटी, पापी, कामक्रोधादियुक्त मनुष्य (अस्मान्) धर्मात्मा और सबको सुख से युक्त करने वाले हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देता है और (यम्) जिस पापी जन को (वयम्) हम लोग (धूर्वामः) दुःख देते हैं (तम्) उसको आप (धूर्व) शिक्षा कीजिये तथा जो सब से द्रोह करने वाला है वा सबको दुःख देता है उसको भी आप सदैव (धूर्व) ताड़ना कीजिये।

भौतिक अग्नि-पक्ष में—हे शिल्पविद्या को जानने की इच्छा करने वाले मनुष्य, जो भौतिक अग्नि (धूः) सब पदार्थों का छेदक और अन्धकार का नाश करने वाला (असि) है, तथा जो कला-कौशल से यानों में प्रयोग करने योग्य और (देवानाम्) विद्वानों को (वह्नितमम्) सुख पहुँचाने वाला, (सस्नितमम्) शुद्धि का हेतु, (पप्रितमम्) शिल्पविद्या का मुख्य साधन, (जुष्टतमम्) कारीगरों से सेवित तथा (देवहूतमम्) विद्वानों से गुण वर्णन करने योग्य अग्नि है उसको (वयम्) हम लोग (धूर्वामः) ताड़ते हैं, और जिसका सेवन युक्ति से न किया जाए तो जो (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) पीड़ा करता है (तम्) उस (धूर्वन्तम्) पीड़ा करने वाले अग्नि को

(धूर्व) यानादिकों में युक्त कर। तथा हे वीर पुरुष, तू (यः) जो दुष्ट शत्रु (अस्मान्) हम लोगों को (धूर्वति) दुःख देता है (तम्) उसको (धूर्व) आग्नेयास्त्र से नष्ट कर, तथा जो कोई चोर आदि है उसका भी (धूर्व) नाश कर।

मन्त्र का संस्कृत में भावार्थ इस प्रकार है—

भावार्थ—यो धातेश्वरः सर्वं जगद् दधाति पापिनो दुष्टान् जीवान् तत्कृतपापफलदानेन ताडयति धार्मिकांश्च रक्षति, सर्वसुखप्रापक आत्मशुद्धिकारकः पूर्णविद्याप्रदाता विद्वद्भिः स्तोतव्यः प्रीत्येष्टबुद्ध्या च सेवनीयोऽस्ति, स एव सर्वैर्मनुष्यैर्भजनीयः। तथैव योऽग्निः सकलशिल्पविद्याक्रियासाधकतमः पृथिव्यादिपदार्थानां मध्ये प्रकाशकप्रापकतमतया श्रेष्ठोऽस्ति, यस्य प्रयोगेणाग्नेयास्त्रादिविद्यया शत्रूणां पराजयो भवति स एव शिल्पिभिर्विद्यायुक्त्या होमयानक्रियासिध्यर्थं सेवनीयः[२]।

अर्थात् जो ईश्वर सब जगत् को धारण करता है, पापी दुष्ट जीवों को उनके किये हुए पापों का फल देकर ताडना करता है और धार्मिकों की रक्षा करता है, जो सब सुख प्राप्त कराने वाला, आत्मा की शुद्धि करने वाला, पूर्ण विद्या का प्रदाता, विद्वानों से स्तुति करने योग्य, प्रीति तथा इष्ट बुद्धि से सेवन करने योग्य है, वही सब मनुष्यों द्वारा भजनीय है। वैसे ही जो भौतिक अग्नि सकल शिल्प विद्याओं की क्रियाओं का साधकतम और पृथिवी आदि पदार्थों के मध्य में सर्वाधिक प्रकाशप्रापक होने से श्रेष्ठ है, जिसके प्रयोग से आग्नेयास्त्र आदि विद्या से शत्रुओं का पराजय होता है, उसी का शिल्पियों को विद्या की युक्ति से होम तथा विमानादि यानों की क्रियासिद्धि के लिए सेवन करना चाहिए।

वायु

ऋग् १.२.१-३ तीनों वायु देवताक मन्त्रों की व्याख्या महर्षि-भाष्य में परमेश्वर और भौतिक वायु दोनों पक्षों में की गयी है। उदाहरणार्थ तृतीय मन्त्र प्रस्तुत है—

२. अध्यात्म तथा अधिदैवत उभयविध व्याख्या के लिए स्वामि-भाष्य के निम्न स्थल भी द्रष्टव्य हैं—
ऋग् १.११.५; १.१२.३,८-१२; १.१३.१; १.१४.१,२,७।
यजु० २.१४, १६; ३.१२, १७-१९, २३.३८, ३९; ४.१६; ५.५,६।

वायो तव प्रपृञ्चती धेना जिगाति दाशुषे।
उरूची सोमपीतये॥ —ऋग् १.२.३

स्वामी-भाष्य से इसका संस्कृत-पदार्थ तथा अन्वय यहाँ दिया जाता है—

पदार्थ—(वायो) वेदवाणीप्रकाशकेश्वर (तव) जगदीश्वरस्य (प्रपृञ्चती) प्रकृष्टा चासौ पृञ्चती चार्थसंबन्धेन सकलविद्यासंपर्ककारयित्री (धेना) वेदचतुष्टयी वाक्। धेनेति वाङ्नामसु पठितम्। निघं० १.११। (जिगाति) प्राप्नोति। जिगातीति गतिकर्मसु पठितम्। निघं० २.१४, तस्मात्प्राप्त्यर्थो गृह्यते। (दाशुषे) निष्कपटेन विद्यां दात्रे पुरुषार्थिने मनुष्याय (उरूची) बह्वीनां पदार्थविद्यानां ज्ञापिका। उर्वीति बहुनामसु पठितम्। निघं० ३.१, (सोमपीतये) सूयन्ते ये पदार्थास्तेषां पीतिः पानं यस्य तस्मै विदुषे मनुष्याय। अत्र सह सुपेति समासः।

भौतिकपक्षे त्वयं विशेषः—वायोः पवनस्य योगेनैव तव अस्य प्रपृञ्चती शब्दोच्चारणसाधिका धेना वाणी दाशुषे शब्दोच्चारणकर्त्रे उरूची बह्वर्थज्ञापिका। अन्यत् पूर्ववत्।

अन्वयः—हे वायो परमेश्वर, भवत्कृपया या तव प्रपृञ्चत्युरूची धेना सा सोमपीतये दाशुषे विदुषे जिगाति। तथा तवास्य वायोः प्राणस्य प्रपृञ्चत्युरूची धेना सोमपीतये दाशुषे जीवाय जिगाति।

भाव यह होगा—

ईश्वर-पक्ष में—हे वेदविद्या के प्रकाश करने वाले परमेश्वर, आपकी जो प्रकृष्ट एवं अर्थसम्बन्ध द्वारा सकल विज्ञान से सम्पर्क कराने वाली और अनेक पदार्थविद्याओं को जनाने वाली चारों वेदों की वाणी है, वह उत्पन्न सांसारिक पदार्थों का निरन्तर विचार करने वाले और निष्कपट-भाव से विद्या-दान करने वाले पुरुषार्थी विद्वान् मनुष्य को प्राप्त होती है।

भौतिक वायु-पक्ष में—इस भौतिक वायु या प्राण के योग से शब्दोच्चारण में साधक और अनेक अर्थों को जनाने वाली जो वाणी है, वह पदार्थों का ज्ञान करने वाले तथा शब्द का उच्चारण करने वाले पुरुषार्थी विद्वान् को प्राप्त होती है।

इन्द्र

इन्द्र की अध्यात्म और अधिदैवत व्याख्या करते हुए महर्षि ने अध्यात्म अर्थ परमेश्वर या प्राण तथा दूसरा अधिदैवत अर्थ सूर्य, वायु, अग्नि या विद्युत् किया है। इन्द्र-देवताक निम्न मन्त्र को स्वामी जी ने परमेश्वर-परक, आदित्य-परक तथा प्राण-परक व्याख्यात किया है। परमेश्वर-परक तथा प्राण-परक व्याख्याएँ अध्यात्म-प्रक्रिया के तथा आदित्य-परक व्याख्या अधिदैवत प्रक्रिया के अन्तर्गत होगी।

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः।
रोचन्ते रोचना दिवि॥ —ऋग् १.६.१

यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी उपासनाविषय में व्याख्यात हुआ है। वहाँ भी इसके तीन अर्थ किये हैं। प्रथम अर्थ के अनुसार जो योगी विद्वान् जन महान् परमेश्वर को अपनी आत्मा के साथ संयुक्त करते हैं, वे परमानन्दयोग से प्रकाशित होते हैं। द्वितीय अर्थ के अनुसार अपनी किरणों से सर्वत्र व्याप्त होने वाले अग्निमय आदित्य के आकर्षण से सब पदार्थ युक्त हैं तथा उसी के प्रकाश से प्रकाशित होते हैं। तृतीय अर्थ के अनुसार जो उपासक सर्वमर्मस्थ सर्वावयववृद्धिकर प्राण को प्राणायाम की रीति से शरीर में नियुक्त करते हैं, वे मोक्ष के आनन्द में सदैव प्रकाशित होते हैं।

ऋग्भाष्य में सूर्यपरक अर्थ भिन्न है। वहाँ शिल्पविद्या में आदित्य या आदित्य-किरणों का जो उपयोग करते हैं, वे तेजस्वी होकर उत्तम आनन्द से प्रकाशित होते हैं, यह भाव है।

''(ब्रध्नम्) महान्तं परमेश्वरम् शिल्पविद्यासिद्धय आदित्यमग्निं प्राणं वा... (अरुषम्) सर्वेषु मर्मसु सीदन्तमहिंसकं परमेश्वरं प्राणवायुं तथा बाह्ये देशे रूपप्रकाशकं रक्तगुणविशिष्टमादित्यं वा''। पदार्थः

यहाँ **''आदित्यमग्निं''** से आदित्यरूपी अग्नि अर्थ न लेकर आदित्य और अग्नि को पृथक्-पृथक् लें, जैसा कि भाष्य के भाषापदार्थ में है[३], तो चौथा भौतिक अग्नि का शिल्पविद्या में उपयोग परक अर्थ भी हो जाता है। साथ ही भाष्य में अन्वय में **''परमात्मानं स्वात्मनि,**

३. (ब्रध्नम्) महान् सूर्य और अग्नि को शिल्पविद्या में (परियुञ्जन्ति) सब प्रकार से युक्त करते हैं।

बाह्यदेशे सूर्यं वायुं वा युञ्जन्ति'' ऐसा पाठ है। यहाँ वायु से बाह्य वायु का शिल्पविद्या में प्रयोग कर आनन्दित होना अर्थ लिया जाये, तो पाँचवाँ वायुपरक अर्थ भी ऋषि को अभिप्रेत है, यह माना जा सकता है।

निम्न मन्त्र में इन्द्र का अर्थ परमेश्वर तथा विद्युदादियुक्त वायु किया है।

आ त्वेता निषीदतेन्द्रमभि प्रगायत।

सखायः स्तोमवाहसः॥ —ऋग् १.५.१

पदार्थः—(आ) समन्तात् (तु) पुनरर्थे (आ) अभ्यर्थे (इत) प्राप्नुत। द्व्यचोऽतस्तिङ इति दीर्घः। (निषीदत) शिल्पविद्यायां नितरां तिष्ठत (इन्द्रम्) परमेश्वरं विद्युदादियुक्तं वायुं वा। इन्द्र इति पदनामसु पठितम्, निघं० ५.४। विद्याजीवनप्रापकत्वादिन्द्रशब्देनात्र परमात्मा वायुश्च गृह्यते। **विश्वेभिः सोम्यं मध्वग्न इन्द्रेण वायुना,** ऋग् १.१४.१०, इन्द्रेण वायुनेति वायोरिन्द्रसंज्ञा। (अभिप्रगायत) आभिमुख्येन प्रकृष्टतया विद्यासिध्यर्थं तद्गुणानुपदिशत शृणुत च (सखायः) परस्परं सुहृदो भूत्वा (स्तोमवाहसः) स्तोमः स्तुतिसमूहो वाहः प्रापयितव्यो वा येषां ते।

अन्वयः—हे स्तोमवाहसः सखायो विद्वांसः, सर्वे यूयं मिलित्वा परस्परं प्रीत्या मोक्षशिल्पविद्यासम्पादनोद्योग आनिषीदत, तदर्थमिन्द्रं परमेश्वरं वायुं चाभिप्रगायत, एवं पुनः सर्वाणि सुखान्येत।

अर्थात् हे स्तुति करने और कराने वाले, सबसे मित्रभाव में वर्तने वाले विद्वान् लोगो, तुम सब मिलकर प्रीति के साथ मोक्ष और शिल्पविद्या को सिद्ध करने के उद्योग में स्थित होवो और उसके लिए परमेश्वर और विद्युदादियुक्त वायु के गुणों का उपदेश करो। इस प्रकार सब सुखों को प्राप्त करो।

निम्न मन्त्र में श्लेष द्वारा इन्द्र के सूर्यलोक और परमेश्वर अर्थ लेकर फिर लुप्तोपमा[४] अलंकार द्वारा दोनों में उपमानोपमेयभाव गृहीत किया गया है। फिर उससे यह व्यङ्ग्यार्थ निकाला गया है कि जैसा

४. प्रचलित अलंकार-शास्त्र के अनुसार यह व्यङ्ग्योपमा कहलायेगी।

ईश्वर करता है वैसा ही हम भी करें।

अथेन्द्रशब्दनेश्वरसूर्यलोकावुपदिश्येते—

सुविवृतं सुनिरजमिन्द्र त्वादातमिद्यशः।

गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः॥ —ऋग् १.१०.७

पदार्थः—(सुविवृतम्) सुष्ठु विकाशितम् (सुनिरजम्) सुखेन नितरां क्षेप्तुं योग्यम् (इन्द्र) महायशः सर्वविभागकारकेश्वर सर्वविभक्तरूपदर्शकः सूर्यलोको वा (त्वादातम्) त्वया शोधितं, तेन सूर्येण वा... (राधः) राध्नुवन्ति सुखानि ये तद्विद्यासुवर्णादिधनम्। राध इति धननामसु पठितम्। निघं० २.१०, (अद्रिवः) अद्रिर्मेघः प्रशंसा धनं वा भूयान् विद्यते यस्मिन् तत्संबुद्धौ ईश्वर मेघवान् सूर्यो वा। अद्रिरिति मेघनामसु पठितम्। निघं० १.१०, अत्र भूम्न्यर्थे मतुप्।

अन्वयः—यथाऽयमद्रिवो मेघवान् (इन्द्रः) सूर्यलोकः सुनिरजं त्वादातं तेन शोधितं यशो जलं सुविवृतं सुष्ठु विकाशितं राधो धनं च कृणुष्व करोति गवां किरणानां व्रजं समूहं चापवृधि उद्घाटयति, तथैव हे अद्रिव इन्द्र जगदीश्वर, त्वं सुविवृतं सुनिरजं त्वादातं यशो राधो धनं च कृणुष्व कृपया कुरु, तथा हे अद्रिवो मेघादिरचकत्वात्प्रशंसनीय त्वं गवां व्रजमपवृधि ज्ञानद्वारमुद्घाटय।

अर्थात् जैसे यह मेघ वाला अथवा उत्तम प्रकाशादि धन वाला सूर्यलोक सुख से प्रक्षिप्त करने योग्य स्वशोधित जल को तथा सुविकासित धन को प्रकट करता है और किरणों के समूह को उद्घाटित करता है, वैसे ही प्रशंसाधन के स्वामी, महायशस्वी सब पदार्थों के यथायोग्य बाँटने वाले हे जगदीश्वर, आप सुविवृत, आसानी से निकल कर चारों ओर फैलने वाले तथा आपके द्वारा शोधित यश और धन को प्रकट कीजिए और हे मेघादि के रचयिता होने के कारण प्रशंसनीय परमेश्वर, आप अपने-अपने विषय की प्रकाशक मन आदि इन्द्रियों के ज्ञान-द्वार को उद्घाटित कीजिए।

निम्न मन्त्र में भी स्वामी जी इन्द्र से परमेश्वर और सूर्य दोनों अर्थ गृहीत करते हैं—

इन्द्रश्च मृडयाति नो न नः पश्चादघं नशत्।

भद्रं भवाति नः पुरः॥ —ऋग् २.४१.११

"यदिन्द्र परमेश्वरस्तत्कृतः सूर्यश्च नो मृडयाति अतो नः पुरः पश्चाच्च अघं न नशत्, किन्तु नो याथातथ्यं भद्रं भवाति।"

अर्थात् यदि परमेश्वर और परमेश्वर-रचित सूर्य हमें सुखी करे, तो हमारे आगे और पीछे पाप न प्राप्त हो, किन्तु हमारे लिए यथार्थ रूप में कल्याण ही हो।

ऋ.भा.भू. के आकर्षणानुकर्षण विषय के अन्तर्गत इन्द्र देवता के निम्न मन्त्र का भाष्य अध्यात्म में परमेश्वर-परक तथा अधिदैवत में वायु और सूर्यपरक किया गया है—

यदा ते हर्यता हरी वावृधाते दिवेदिवे।
आदित्ते विश्वा भुवनानि येमिरे॥ —ऋग् ८.१२.२८

भाष्यम्—यदा ते० अस्याभिप्रायः—सूर्येण सह सर्वेषां लोकानामाकर्षणमस्ति, ईश्वरेण सह सूर्यादिलोकानां चेति।

हे इन्द्रेश्वर वा वायो सूर्य (यदा) यस्मिन् काले (ते) (हरी) आकर्षणप्रकाशनहरणशीलौ बलपराक्रमगुणौ अश्वौ किरणौ वा (हर्यता) हर्यतौ प्रकाशवन्तौ (वावृधाते) अत्यन्तं वर्धमानौ भवतस्ताभ्याम् (आदित्) तदनन्तरं (दिवेदिवे) प्रतिदिनं प्रतिक्षणं च ते तव गुणाः प्रकाशाकर्षणादयो (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) सर्वान् लोकानाकर्षणेन (येमिरे) नियमेन धारयन्ति। अतः कारणात् सर्वे लोकाः स्वां स्वां कक्षां विहायेतस्ततो नैव विचलन्तीति।

भावार्थ—(यदा ते०) इस मन्त्र का अभिप्राय यह है कि सब लोकों के साथ सूर्य का आकर्षण और सूर्य आदि लोकों के साथ परमेश्वर का आकर्षण है।

(यदा ते०) हे इन्द्र परमेश्वर, आपके अनन्त बल और पराक्रम गुणों से सब संसार का धारण, आकर्षण और पालन होता है। आपके ही सब गुण सूर्यादि लोकों को धारण करते हैं। इस कारण से सब लोक अपनी-अपनी कक्षा और स्थान से इधर उधर चलायमान नहीं होते।

दूसरा अर्थ—इन्द्र [अर्थात्] जो वायु [और] सूर्य है, इसमें ईश्वर के रचे आकर्षण, प्रकाश और बल आदि बड़े-बड़े गुण हैं। उनसे सब लोकों का दिन-दिन और क्षण-क्षण के प्रति धारण, आकर्षण

और प्रकाश होता है। इस हेतु से सब लोक अपनी-अपनी ही कक्षा में चलते रहते हैं, इधर-उधर विचल नहीं सकते[५]।

सविता

सविता देवता के अधोलिखित मन्त्र के भाष्य में सविता नाम से श्लेष द्वारा ईश्वर और सूर्य के गुणों का उपदेश करते हुए उनके लाभों को प्राप्त करने की प्रेरणा की गयी है—

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम्॥ —ऋग् १.२२.७

अथ सवितृशब्देनेश्वरसूर्यगुणा उपदिश्यन्ते—

पदार्थः—(विभक्तारम्) जीवेभ्यस्तत्तत्कर्मानुकूलफलविभाजितारम्। विविधपदार्थानां पृथक् पृथक् कर्तारं वा (हवामहे) आदद्मः। अत्र बहुलं छन्दसि इति शपः स्थाने श्लोरभावः। (वसोः) वस्तुजातस्य (चित्रस्य) अद्भुतस्य (राधसः) विद्यासुवर्णचक्रवर्तिराज्यादिधनस्य च (सवितारम्) उत्पादकमैश्वर्यहेतुं वा (नृचक्षसम्) नृषु चक्षा अन्तर्यामिरूपेण विज्ञानप्रकाशो वा यस्य तम्।

अन्वयः—हे मनुष्या, यथा वयं नृचक्षसं वसोश्चित्रस्य राधसो विभक्तारं सवितारं परमेश्वरं सूर्यं वा हवामह आददीमहि तथैव यूयमप्यादत्त।

भावार्थः—अत्र श्लेषोपमालङ्कारौ। मनुष्यैर्यतः परमेश्वरः सर्वशक्तिमत्त्वसर्वज्ञत्वाभ्यां सर्वजगद्रचनं कृत्वा सर्वेभ्यः कर्मफलप्रदानं करोति, सूर्योऽग्निमयत्वछेदकत्वाभ्यां मूर्तद्रव्याणां विभागप्रकाशौ करोति, तस्मादेतौ सर्वदा युक्त्योपचर्य्यौ।

अर्थ इस प्रकार होगा—

ईश्वर-पक्ष में—[हे मनुष्यो, जैसे] हम, मनुष्य में अन्तर्यामी रूप से विज्ञान का प्रकाश करने वाले, प्रत्येक वस्तु का तथा अद्भुत विद्या, सुवर्ण, चक्रवर्ती राज्य आदि धन का जीवों को उनके कर्मानुसार

५. इन्द्र-देवताक मन्त्रों की अध्यात्म तथा अधिदैवत उभयविध व्याख्या के लिए महर्षि-भाष्य के निम्न स्थल भी अवलोकनीय हैं—ऋग् १.३.४, १.५.४, १.६.७, १.७.५, १.९.१,३, २.१२.२,९; यजु० ३.५२।

फल के रूप में विभाजन करने वाले, जगत् के उत्पादक परमेश्वर को स्वीकार करते हैं [वैसे ही तुम भी करो]।

सूर्य-पक्ष में—[हे मनुष्यो, जैसे] हम, मनुष्यों को प्रकाश देने वाले, प्रत्येक वस्तु तथा अद्भुत धनानि का पृथक्-पृथक् विभाग करने वाले, ऐश्वर्य-हेतु सूर्य को स्वीकार करते हैं [वैसे ही तुम भी करो][६]।

निम्न मन्त्र में भी सविता के परमेश्वर एवं सूर्य दो अर्थ किये गये हैं तथा उनकी आकर्षणशक्ति से पृथिव्यादि लोक धृत हैं, यह व्याख्या की गयी है[७]—

आ कृष्णेन रजसा वर्तमानो निवेशयन्नमृतं मर्त्यं च।
हिरण्ययेन सविता रथेना देवो याति भुवनानि पश्यन्॥

—ऋग् १.३५.२

अयं सविता देवः परमेश्वर आकृष्णेन रजसा सहाभिव्याप्य वर्तमानः सर्वस्मिन् जगत्यमृतं मर्त्यं च निवेशयन् सन् हिरण्ययेन यशोमयेन ज्ञानरथेन युक्तो भुवनानि पश्यन्नायाति समन्तात् सर्वान् पदार्थान् प्राप्नोतीति पूर्वोऽन्वयः।

अयं सविता देवः सूर्यलोकः कृष्णेन रजसा सह वर्तमानोऽस्मिन् जगत्यमृतं मर्त्यं च निवेशयन् हिरण्ययेन रथेन भुवनानि पश्यन् दर्शयन् सन्नायाति समन्ताद् वृष्ट्यादिरूपविभागं च प्रापयतीत्यपरोऽन्वयः।

भाष्य के संस्कृत-पदार्थ तथा ऊपर उद्धृत अन्वय के अनुसार उभय पक्ष में मन्त्र का धारावाही अनुवाद इस प्रकार होगा—

परमेश्वर-पक्ष में—यह सब जगत् को उत्पन्न करने वाला, सबसे अधिक प्रकाशयुक्त और सबको प्रकाशित करने वाला परमेश्वर अपनी आकर्षण-शक्ति से सब सूर्यादि लोकों के साथ व्यापक होकर विद्यमान होता हुआ सब जगत् में अन्तर्यामी रूप से वेद द्वारा मोक्षसाधक

---

६. ''हम अमुक-अमुक गुणों वाले परमेश्वर और सूर्य को स्वीकार करते हैं'' यह मन्त्र में कहा गया है। इससे यह अर्थापत्ति निकलती है कि ''वैसे ही हे मनुष्यो, तुम भी करो''॥ इसी को स्वामी जी ने उपमा कहा है।

७. यह मन्त्र यजुर्वेदीय (३३.४३) के रूप में ऋ.भा.भू. के आकर्षणानुकर्षणप्रकरण में भी परमात्मा और सूर्यपरक व्याख्यात हुआ है।

सत्य ज्ञान को और कर्म-व्यवस्था तथा प्रलय-व्यवस्था से मरणधर्मयुक्त प्राणी को यथा-स्थान स्थापित करता हुआ यशोमय ज्ञानरथ से युक्त होकर सब लोकों को देखता हुआ सब पदार्थों को प्राप्त होता है।

सूर्य-पक्ष में—यह प्रकाश, वृष्टि और रसों को उत्पन्न करने वाला प्रकाशक सूर्य कृष्णवर्ण पृथिव्यादि लोकों के साथ अपनी आकर्षण-शक्ति से वर्तमान होकर इस जगत् में वृष्टि द्वारा अमृतस्वरूप रस को तथा काल-व्यवस्था में मरणधर्मा प्राणियों को यथास्थान स्थापित करता हुआ, तेजोमय गमन से लोकों को दर्शाता हुआ आता है और चारों ओर वृष्ट्यादिरूप विभाग को प्राप्त करता है।

भाष्य में मन्त्र का भावार्थ इस रूप में दिया गया है—**अत्र श्लेषालङ्कारः। यथा पृथिव्यादयो लोकाः सर्वान् मनुष्यादीन् धरन्ति, सूर्यलोक आकर्षणेन पृथिव्यादीन् धरति। ईश्वरः स्वसत्तया सूर्यादीन् लोकान् धरति। एवं क्रमेण सर्वलोकधारणं प्रवर्तते। नैतेन विनान्तरिक्षे कस्यचिद् गुरुत्वयुक्तस्य लोकस्य स्वपरिधौ स्थितेः सम्भवोऽस्ति। नैव लोकानां भ्रमणेन विना क्षणमुहूर्त-प्रहराहोरात्रपक्षमासर्तुसंवत्सरादयः कालावयवा उत्पत्तुं शक्नुवन्तीति।**

अर्थात् इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। पृथिवी आदि लोक सब मनुष्यादि प्राणियों को धारण करते हैं, सूर्यलोक आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों को धारण करता है, ईश्वर अपनी सत्ता से सूर्य आदि लोकों को धारण करता है, इस प्रकार क्रम से सब लोकों का धारण होता है। इसके बिना अन्तरिक्ष में किसी गुरुतायुक्त लोक की अपनी परिधि में स्थिति संभव नहीं हो सकती। लोकों के भ्रमण के बिना क्षण, मुहूर्त, प्रहर, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, संवत्सर आदि कालावयव उत्पन्न नहीं हो सकते।

सोम

सोम-देवताक निम्न मन्त्र यजुर्वेद-भाष्य में अध्यात्म में परमेश्वर तथा अधिदैवत में सोम ओषधिपरक व्याख्यात हुआ है।

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।
प्रजावन्तः सचेमहि॥ —यजु० ३.५६

अथ सोमशब्देनेश्वरौषधिरसा उपदिश्यन्ते—

पदार्थः—(वयम्) मनुष्याः (सोम) सुवति चराचरं जगत्तत्सम्बुद्धौ जगदीश्वर, अथवा सूयन्ते रसा यस्मात्स सोम ओषधिराजः (व्रते) सत्यभाषणादिधर्मानुष्ठाने (तव) अस्य वा (मनः) अन्तः करणस्याहङ्कारादिवृत्तिम् (तनूषु) विस्तृतसुख-शरीरेषु (बिभ्रतः) धारयन्तः पोषयन्तश्च (प्रजावन्तः) वह्व्यः सुसन्ताना राष्ट्राख्याः प्रजा विद्यन्ते येषान्ते। अत्र भूम्यर्थे मतुप् (सचेमहि) समवेयाम।

अन्वयः—हे सोम जगदीश्वर, तव सत्याचरणरूपे व्रते वर्तमानास्तनूषु मनो बिभ्रतः प्रजावन्तः सन्तो वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि समवेयामेत्येकः। तवास्य सोमस्य व्रते सत्याचरणनिमित्ते तनूषु मनो बिभ्रतः सन्तः प्रजावन्तो भूत्वा वयं सर्वैः सुखैः सचेमहि नित्यं समवेयामेति द्वितीयः।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। ईश्वरस्याज्ञायां वर्तमाना मनुष्याः शरीरात्मसुखं नित्यं प्राप्नुवन्ति। एवं सोमाद्योषधिसे-विनोऽपि तत्सुखं समवयन्ति नेतर इति।

उभय पक्ष में धारावाही अनुवाद इस प्रकार होगा—

परमेश्वर-पक्ष में—हे सब जगत् को उत्पन्न करने वाले जगदीश्वर, आपके सत्यभाषण आदि धर्मों के अनुष्ठान में वर्तमान होकर विस्तृतसुखयुक्त शरीरों में अन्तःकरण की अहंकारादिवृत्ति को धारण करते हुए और उत्तम सन्तान तथा उत्तम राष्ट्र-प्रजा वाले होते हुए हम सब सुखों को प्राप्त होवें।

ओषधि-पक्ष में—इस ओषधिराज सोम का सत्य-सत्य गुणज्ञान और सेवन करते हुए, विस्तृतसुखयुक्त शरीरों में मन को धारण करते हुए उत्तम सन्तानों सहित हम लोग सब सुखों को प्राप्त होवें।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालङ्कार है। ईश्वर की आज्ञा में चलने वाले मनुष्य शरीर और आत्मा का सुख नित्य प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार सोम आदि ओषधियों का सेवन करने वाले भी उस सुख को पाते हैं, दूसरे नहीं।

वरुण

निम्न मन्त्र का भाष्य वरुण का अर्थ अध्यात्म में परमेश्वर तथा

अधिदैवत में सूर्य और वायु लेकर किया गया है।

अथेश्वरसूर्यवायुगुणा उपदिश्यन्ते—

अदित्यास्त्वगस्यदित्यै सद आसीद। अस्तभ्नाद् द्यां वृषभो अन्तरिक्षममिमीत वरिमाणम्पृथिव्याः। आसीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानि। —यजु० ४.३०

अन्वयः—हे जगदीश्वर, यतो वृषभस्त्वम् अदित्यास्त्वगसि, अदित्यै सद आसीद आसादयसि, द्यामस्तभ्नात् स्तभ्नासि, वरिमाणम् अन्तरिक्षम् अमिमीत निर्मिमीषे, सम्राट् सन् पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनानि आसीदद् आसादयसि अस्मात्तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य ते तवेदेव व्रतानि सन्तीति वयमपद्महि विजानीयामेत्येकः।

यो वृषभः सम्राट् सूर्यो वायुश्चादित्यास्त्वगसि अस्ति संवृणोति, अदित्यै सद आसीद आसादयति, द्यामस्तभ्नात्, वरिमाणम् अन्तरिक्षम् अवकाशममिमीत निर्मिमीते, पृथिव्या अन्तरिक्षस्य मध्ये विश्वा भुवनानि आसीदद् आसादयति, तस्य तान्येतानि विश्वा सर्वाणि वरुणस्य सूर्यस्य वायोश्चेदेव व्रतानि शीलानि सन्तीति वयमपद्महीति द्वितीयः।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। पूर्वस्मान्मन्त्राद् ''अपद्महि'' इति पदमनुवर्तते। परमेश्वरस्यैवैष स्वभावो यदिदं सर्वमभिव्याप्य रचयित्वा धरति। एवं सूर्यवाय्वोरपि प्रकाशधारणस्वभावोऽस्ति।

परमेश्वर-पक्ष में—हे जगदीश्वर, यतः श्रेष्ठगुणयुक्त आप पृथिवी के आच्छादन करने वाले हैं, पृथिवी आदि सृष्टि के लिए स्थिति को प्राप्त कराते हैं, सूर्य आदि को धारण करते हैं, अत्यन्त उत्तम अन्तरिक्ष को रचते हैं, सम्राट् होकर पृथिवी और अन्तरिक्ष के बीच में सब लोकों को स्थापित करते हैं, अतः ये सब श्रेष्ठरूप आपके ही सत्य स्वभाव और कर्म हैं, ऐसा हम लोग जानते हैं।

सूर्य-वायु-पक्ष में—जो श्रेष्ठ सम्यक् प्रकाशमान सूर्य और वायु पृथिवी के आच्छादन करने वाले हैं, पृथिवी आदि सृष्टि के लिए लोकों को स्थापित करते हैं, प्रकाश को धारण करते हैं, श्रेष्ठ आकाश को रचते हैं, और पृथिवी तथा आकाश के बीच में सब लोकों को स्थापित करते हैं, वे सब सूर्य और वायु के ही स्वभाव और कर्म हैं,

ऐसा हम लोग जानते हैं[८]।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। पूर्व मन्त्र से 'अपद्महि' इस पद की अनुवृत्ति आती है। परमेश्वर का यही स्वभाव है कि वह इस ब सूर्य, वायु आदि को व्याप्त होकर रचकर धारण करता है। इसी प्रकार सूर्य और वायु का भी प्रकाश को धारण करने आदि का स्वभाव है।

रुद्र

निम्न मन्त्र को अध्यात्म में परमेश्वर और जीवपरक तथा अधिदैवत में वायुपरक व्याख्यात किया गया है।

कद्रुद्राय प्रचेतसे मीळ्हुष्टमाय तव्यसे।
वोचेम शन्तमं हृदे॥ —ऋग् १.४३.१

पदार्थः—(कत्) कदा (रुद्राय) परमेश्वराय जीवाय वायवे वा (प्रचेतसे) प्रकृष्टं चेतो ज्ञानं यस्य यस्माद्वा तस्मै (मीढुष्टमाय) प्रसेक्तृतमाय (तव्यसे) अतिशयेन वृद्धाय। अत्र तवीयानिति संप्राप्ते छान्दसो वर्णलोपो वा इतीकारलोपः। (वोचेम) उपदिशेम (शंतमम्) अतिशयितं सुखम् (हृदे) हृदयाय।

इस मन्त्र के भावार्थ में महर्षि लिखते हैं कि रुद्र शब्द से तीन अर्थ गृहीत होते हैं—परमेश्वर, जीव और वायु। परमेश्वर सर्वज्ञ होने से जिसने जैसा पापकर्म किया होता है तदनुसार उसे फल देकर रुलाता है, अतः वह रुद्र है। जीव मरण के समय जब शरीर को छोड़ता है और पाप के फल का भोग करता है, तब स्वयं रोता है, इस कारण वह रुद्र है। वायु शूल आदि पीड़ा का निमित्त होकर रुलाता है, अतः वह रुद्र है। तीनों के पक्ष में मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा—

ईश्वर-पक्ष में—हम (कत्) कब (प्रचेतसे) प्रकृष्ट-ज्ञान-युक्त तथा प्रकृष्ट ज्ञान को देने वाले, (मीढुष्टमाय) अतिशय रूप से सद्गुण, धन, वृष्टि आदि का सेचन करने वाले, (तव्यसे) अतिशय वृद्ध (हृदे) हृदय में रहने वाले (रुद्राय) परमेश्वर के ज्ञान के लिए (शन्तमं) अत्यधिक शान्तिदायक वेद का (वोचेम) उपदेश करें।

---

८. वरुण के अध्यात्म-अधिदैवत अर्थों के लिए निम्न मन्त्रों का स्वामि-भाष्य भी द्रष्टव्य है : ऋग् १.२४.८, ११,१२

जीव-पक्ष में—हम (कत्) कब (प्रचेतसे) प्रकृष्ट ज्ञान वाले, (मीढुष्टमाय) अन्यों पर ज्ञानादि की वर्षा करने वाले, (तव्यसे) अति महान्, (हृदे) हृदय-वासी (रुद्राय) जीवात्मा के लिए (शन्तमं) अतिशय सुखकारक वेद का (वोचेम) उपदेश करें।

वायु-पक्ष में—हम (कत्) कब (प्रचेतसे) प्रकष्ट ज्ञान के निमित्तभूत (मीढुष्टमाय) बल आदि सेचन करने वाले, (तव्यसे) अतिशय महान् (रुद्राय) प्राण-वायु के ज्ञान के लिए (शन्तमं) अतिशय सुखकारक वेद का (वोचेम) उपदेश करें[९]।

इसी प्रकार कतिपय अन्य देवताओं के मन्त्रों का भाष्य भी महर्षि दयानन्द ने अध्यात्म और अधिदैवत दोनों दृष्टियों से किया है[१०]।

अध्यात्म और अधिभूत व्याख्याएँ

अनेक मन्त्रों की व्याख्याएँ स्वामी दयानन्द ने इस रूप में भी की हैं कि एक अर्थ ईश्वर, जीव या प्राणपरक अध्यात्म है और दूसरा अर्थ राजा, सेनापति, अध्यापक, उपदेशक, विद्वान्, वैद्य आदि परक अधिभूत है।

इन्द्र

इन्द्र देवता के निम्न मन्त्र का अर्थ श्लेष से अध्यात्म में ईश्वर-परक तथा अधिभूत में विजेता शूरवीर-परक किया है।

अथेन्द्रशब्देनेश्वरविजेतारावुपदिश्येते—

इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः।

रथीतमं रथीनां वाजानां सत्पतिम्पतिम्॥ —ऋग् १.११.१

पदार्थः—(इन्द्रम्) विजयप्रदमीश्वरम्, शत्रूणां विजेतारं शूरं

---

९. भाष्य में तीनों पक्षों का अर्थ पृथक्-पृथक् न दर्शाकर इकट्ठा दिखाया गया है। यहाँ स्पष्टीकरणार्थ पृथक् दिखा दिया है।

१०. द्रष्टव्य: यजु० ४.३५,३६, दोनों मन्त्रों का देवता सूर्य, व्याख्या परमेश्वर और सूर्य उभयपरक। ऋग् १.९७.४, १.९८.१, देवता वैश्वानर, व्याख्या ईश्वर और भौतिक अग्नि परक एवं विद्युत् परक। ऋग् १.१३.१०, देवता त्वष्टा, व्याख्या परमात्मा और भौतिक अग्नि परक। १.१५.७,८ देवता द्रविणोदस्, व्याख्या परमेश्वर और भौतिक अग्नि परक।

वा (विश्वाः) सर्वाः (अवीवृधन्) अत्यन्तं वर्धयन्तु। अत्र लोडर्थे लुङ्। (समुद्रव्यचसम्) समुद्रेऽन्तरिक्षे व्यचो व्याप्तिर्यस्य तं सर्वव्यापिनमीश्वरम्, समुद्रे नौकादिविजयगुणसाधनव्यापिनं शूरवीरं वा (गिरः) स्तुतयः (रथीतमम्) बहवो रथा रमणाधिकरणाः पृथिवीसूर्यादयो लोका विद्यन्ते यस्मिन् स रथीश्वरः सोऽतिशयितः शूरस्तम्। रथिन ईद्वक्तव्यः। अ० ८.२.१७ इति वार्तिकेनेकारादेशः। रथीनाम् नित्ययुक्ता रथा विद्यन्ते येषां योद्धॄणां तेषाम्। अन्येषामपि दृश्यते अ० ६.३.१३७ अनेन दीर्घः। (वाजानाम्) वजन्ति प्राप्नुवन्ति जयपराजयौ येषु युद्धेषु तेषाम् (सत्पतिम्) यः सतां नाशरहितानां प्रकृत्यादिकारणद्रव्याणां पतिः स्वामी तमीश्वरम्। यः सतां सद्व्यवहाराणां सत्पुरुषाणां वा पतिः पालकस्तं न्यायाधीशं राजानम् (पतिम्) यः पाति रक्षति चराचरं जगत्तमीश्वरम्, यः पाति रक्षति सज्जनाँस्तम्।

अन्वयः—अस्माकमिमा विश्वा गिरो यं समुद्रव्यचसं रथीनां रथीतमं वाजानां सत्पतिं पतिमिन्द्रं परमात्मानं वीरपुरुषं वाऽवीवृधन् नित्यं वर्द्धयन्ति तं सर्वे मनुष्या वर्द्धयन्तु।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। सर्वा वेदवाण्यः परमैश्वर्यवन्तं सर्वगतं सर्वत्र रममाणं सत्यस्वभावं धार्मिकाणां विजयप्रदं परमेश्वरं प्रकाशयन्ति, धर्मेण बलेन दुष्टमनुष्याणां विजेतारं धार्मिकाणां पालकं [मनुष्यं] च।

भाषार्थ इस प्रकार होगा—

ईश्वर-पक्ष में—हमारी ये (विश्वाः) सब (गिरः) स्तुतियाँ (समुद्रव्यचसम्) आकाशादि में व्यापक, (रथीनां रथीतमम्) रथियों में सबसे बड़े रथी अर्थात् जिसके आश्रय में पृथिवी, सूर्य आदि रमणसाधन विद्यमान हैं ऐसे, (वाजानाम्) संसार-समरों में (सत्पतिम्) जो विनाशरहित प्रकृति आदि कारणद्रव्यों का स्वामी है ऐसे, (पतिम्) चराचर जगत् के रक्षक (इन्द्रम्) विजय के देने वाले परमेश्वर को, उसके गुणानुवादों को (अवीवृधन्) नित्य बढ़ाती रहें।

शूरवीर-पक्ष में—हमारी ये (विश्वाः) सब (गिरः) वाणियाँ (समुद्रव्यचसम्) समुद्र में नौका आदि विजय-साधनों से युक्त, (रथीनाम्) जिन योद्धाओं के रथ नित्य नियुक्त रहते हैं उनमें

(रथीतमम्) बहुत बड़े रथी अर्थात् रमण और विजय के साधन विमान आदि प्रशस्त रथों वाले, (वाजानाम्) जिसमें जय-पराजयों को प्राप्त करते हैं ऐसे युद्धों में (सत्पतिम्) सद्व्यवहारों अथवा सत्पुरुषों के पालक (पतिम्) रक्षक (इन्द्रम्) शत्रुओं के विजेता शूरवीर राजा आदि को (अवीवृधन्) नित्य बढ़ाती रहें।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। सब वेदवाणियाँ परमैश्वर्यवान्, सर्वव्यापक, सर्वत्र रमण करने वाले, सत्यस्वभाव वाले, धार्मिकों को विजय दिलाने वाले परमेश्वर को प्रकाशित करती हैं, और धर्म से तथा बल से दुष्ट मनुष्यों के विजेता, धार्मिकों के पालनकर्ता मनुष्य को भी प्रशंसित करती हैं।

इन्द्र देवता के ही निम्न मन्त्र में ईश्वर और सेनाध्यक्ष परक अर्थ किया गया है—

पुनरीश्वरसेनाध्यक्षौ कीदृशौ स्त इत्युपदिश्यते—

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे।

सखाय इन्द्रमूतये॥ —ऋग् १.३०.७

पदार्थः—(योगेयोगे) अनुपात्तस्योपात्तलक्षणो योगस्तस्मिन् प्रतियोगे (तवस्तरम्) तूयते विज्ञायत इति तवाः सोऽतिशयितस्तम्। सायणाचार्येणात्र विन्प्रत्ययस्य छान्दसो लोप इति यदुक्तं तदशुद्धं प्रमाणाभावात्। (वाजे वाजे) युद्धं प्रति (हवामहे) आह्वयामहि। अत्र लेटोस्मद्बहुवचने लेटोऽडाटौ अ० ३.४.९४ अनेनाडागमे कृते बहुलं छन्दसि। अ० ६.१.३४ इति संप्रसारणम्। (सखायः) सुहृदो भूत्वा (इन्द्रम्) सर्वविजयप्रदं जगदीश्वरं वा दुष्टशत्रुनिवारक-मात्मशरीरबलवन्तं धार्म्मिकं वीरं सेनापतिम् (ऊतये) रक्षणाद्याय विजयसुखप्राप्तये वा।

अन्वयः—वयं सखायो भूत्वा स्वोतये योगे योगे वाजे वाजे तवस्तरमिन्द्रं परमात्मानं सभाध्यक्षं वा हवामहे।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। मनुष्यैर्मित्रतां संपाद्य प्राप्तानां पदार्थानां रक्षणं सर्वत्र विजयश्च कार्यः। परमेश्वरः सेनापतिश्च नित्यमाश्रयणीयः। नेवैतावन्मात्रेणैवैतत्सिद्धिर्भवितुमर्हति। किं तर्हि ? विद्यापुरुषार्थाभ्यामेतस्य सिद्धिर्जायत इति।

सान्वय भाषा-पदार्थ इस प्रकार होगा—

हम लोग (सखायः) परस्पर मित्र होकर (ऊतये) रक्षा आदि के लिए अथवा विजय-सुख पाने के लिए (योगे योगे) प्रत्येक अप्राप्त पदार्थ की प्राप्ति में, और (वाजे वाजे) प्रत्येक युद्ध में (तवस्तरम्) अच्छे प्रकार वेदों से ज्ञात होने वाले (इन्द्रम्) सर्वविजयप्रद जगदीश्वर को और दुष्टशत्रुनिवारक, आत्मिक तथा शारीरिक बल से युक्त, धार्मिक, वीर सेनापति को या सभाध्यक्ष को (हवामहे) बुलावें[११]।

अग्नि

अग्नि देवता के निम्न मन्त्र का अर्थ अध्यात्म में जगदीश्वर-परक तथा अधिभूत में विद्वान्-परक किया गया है—

स नो दूराच्चासाच्च नि मर्त्यादघायोः।
पाहि सदमिद् विश्वायुः॥ —ऋग् १.२७.३

पदार्थः—(सः) जगदीश्वरो विद्वान् वा (नः) अस्मानस्माकं वा (दूरात्) विप्रकृष्टात् (च) समुच्चये (आसात्) समीपात् (च) पुनरर्थे (नि) नितराम् (मर्त्यात्) मनुष्यात् (अघायोः) आत्मनोऽघमिच्छतः शत्रोः (पाहि) रक्ष (सदम्) सीदन्ति सुखानि यस्मिंस्तं शिल्पव्यवहारं देहादिकं वा (इत्) एव (विश्वायुः) विश्वं संपूर्णमायुर्यस्मात् सः।

अन्वयः—स विश्वायुरघायोः शत्रोर्मर्त्याद् दूरादासाच्च नोऽस्मानस्माकं सदं च निपाहि सततं रक्षति।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। मनुष्यैरुपासित ईश्वरः संसेवितो विद्वान् वा युद्धे शत्रूणां सकाशाद् रक्षको रक्षाहेतुर्भूत्वा शरीरादिकं विमानादिकं च संरक्ष्यास्मभ्यं सर्वमायुः संपादयति।

भाषा-पदार्थ इस रूप में होगा—

(विश्वायुः) जिनसे सम्पूर्ण आयु प्राप्त होती है (सः) वह आप जगदीश्वर और विद्वान् मनुष्य (अघायोः) जो पाप करना चाहता है ऐसे (मर्त्यात्) शत्रुजन से (दूरात्) दूर से (आसात् च) और समीप से (नः) हमारी और (सदः च) जिसके आश्रय से सब सुख मिलते

११. स्वामि-भाष्य में अध्यात्म-अधिभूत व्याख्या वाले इन्द्र देवताक अन्य मन्त्र—ऋग् १.११.२,३ ईश्वर, शूरवीर; १.३०.८ जगदीश्वर, सेनापति; १.३०.९ जगदीश्वर, सभासेनाध्यक्ष; १.३०.१६ ईश्वर, सभाध्यक्ष; १.३३.१ ईश्वर, सभापति।

हैं ऐसे हम लोगों के शिल्प-व्यवहार की या देहादि की (नि पाहि) रक्षा कीजिये।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। मनुष्यों से उपासना किया हुआ ईश्वर और सम्यक् सेवित विद्वान् युद्ध में शत्रुओं से रक्षा करने वाला वा रक्षा का हेतु होकर शरीर आदि वा विमान आदि की रक्षा करके हम लोगों के लिए सम्पूर्ण आयु देता है।

यजुर्वेद के निम्न मन्त्रों की अर्थ-योजना भी परमेश्वर और विद्वान् परक की है—

यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मिभिः।

ताभिर्नो अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृधि॥ —यजु० १८.४६

पदार्थः—(याः) (ते) तव (अग्ने) परमेश्वर विद्वन् वा (सूर्ये) सवितरि प्राणे वा (रुचः) दीप्तयः प्रीतयो वा (दिवम्) प्रकाशम् (आतन्वन्ति) सर्वतो विस्तृणन्ति (रश्मिभिः) (ताभिः) रुग्भिः (नः) अस्मान् (अद्य) (सर्वाभिः) (रुचे) प्रीतिकराय जनाय (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु।

अन्वयः—हे अग्ने परमेश्वर विद्वन् वा याः सूर्ये रुचः सन्ति या रश्मिभिर्दिवमातन्वन्ति ताभिः सर्वाभिस्ते रुग्भिरद्य नः संयोजय रुचे जनाय नस्कृधि।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। यथा परमेश्वरः सूर्यादीनां प्रकाशकानामपि प्रकाशकोऽस्ति तथाऽनूचानो विद्वान् विदुषामपि विद्याप्रदो भवति। यथेश्वरोऽत्र जगति सर्वेषां सत्ये रुचिमसत्येऽरुचिं जनयति तथा विद्वानप्याचरेत्।

पदार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर वा विद्वान्, (याः) जो (सूर्ये) सूर्य वा प्राण में (रुचः) दीप्ति वा प्रीति हैं, और जो (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (दिवम्) प्रकाश को (आतन्वन्ति) सब ओर से फैलाती हैं, (ताभिः) उन (सर्वाभिः) सब (ते) अपनी दीप्ति वा प्रीतियों से (अद्य) आज (नः) हम लोगों को संयुक्त करो, और (रुचे) प्रीति करने हारे (जनाय) मनुष्य के अर्थ (नः) हम लोगों को (कृधि) नियत करो।

भावार्थ—जैसे परमेश्वर सूर्य आदि प्रकाश करने वालों का भी प्रकाशक है, वैसे शास्त्रज्ञ विद्वान् विद्वानों को भी विद्या देने वाला

होता है। जैसे ईश्वर इस जगत् में सबकी सत्य में रुचि और असत्य में अरुचि उत्पन्न करता है, वैसा विद्वान् भी आचरण करे।

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ —यजु० ३२.१४

पदार्थः—(याम्) (मेधाम्) प्रज्ञां धनं वा। मेधेति धननाम, निघं० २.१० (देवगणाः) देवानां विदुषां समूहाः (पितरः) पालयितारो विज्ञानिनः (च) (उपासते) प्राप्य सेवन्ते (तया) (माम्) (अद्य) (मेधया) (अग्ने) स्वप्रकाशत्वेन विद्या-विज्ञापक, (मेधाविनम्) प्रशस्ता मेधा विद्यते यस्य तम् (कुरु) (स्वाहा) सत्यया वाचा।

अन्वयः—हे अग्ने विद्वन्नध्यापक, जगदीश्वर वा, देवगणाः पितरश्च यां मेधामुपासते तया मेधया मामद्य स्वाहा मेधाविनं कुरु।

भावार्थः—मनुष्याः परमेश्वरमुपास्याप्तं विद्वांसं संसेव्य शुद्धं विज्ञानं धर्मजं धनञ्च प्राप्तुमिच्छेयुरन्यांश्चैवं प्रापयेयुः।

पदार्थ—हे (अग्ने) स्वयं प्रकाशरूप होने से विद्या जताने हारे ईश्वर, वा अध्यापक विद्वन्, (देवगणाः) अनेकों विद्वान् (च) और (पितरः) रक्षा करने हारे ज्ञानी लोग (याम्) जिस (मेधाम्) बुद्धि वा धन को (उपासते) प्राप्त होके सेवन करते हैं (तया) उस (मेधया) बुद्धि वा धन से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (स्वाहा) सत्य वाणी से (मेधाविनम्) प्रशंसित बुद्धि वा धन वाला (कुरु) कीजिये।

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर की उपासना करके और विद्वान् सम्यक् सेवा करके शुद्ध विज्ञान तथा धर्म से उत्पन्न धन प्राप्त करने की इच्छा करें और अन्यों को प्राप्त करायें।

अग्न आयूंषि पवस आ सुवोर्जमिषञ्च नः।

आरे बाधस्व दुच्छुनाम्॥ —यजु० ३५.१६

पदार्थः—(अग्ने) परमेश्वर विद्वन् वा (आयूंषि) अन्नादीनि जीवनानि वा। आयुरित्यन्ननाम। निरु २.१ (पवसे) पवित्रीकरोषि (आ सुव) जनय (ऊर्जम्) बलम् (इषम्) विज्ञानम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (आरे) दूरे निकटे वा (बाधस्व) (दुच्छुनाम्) दुष्टाः श्वान इव वर्तमानास्तान् हिंस्यान् प्राणिनः। अत्र कर्मणि षष्ठी।

अन्वयः—हे अग्ने, त्वमायूंषि पवसे न ऊर्जमिषं चासुव दुच्छुनामारे बाधस्व।

भावार्थः—ये मनुष्या दुष्टाचरणदुष्टसङ्गौ विहाय परमेश्वराप्तयोः सेवां कुर्वन्ति ते धनधान्ययुक्ताः सन्तो दीर्घायुषो भवन्ति।

पदार्थ—हे (अग्ने) परमेश्वर वा विद्वन् आप (आयूंषि) अन्नादि पदार्थों वा जीवनों को (पवसे) पवित्र करते हैं। आप (नः) हमारे लिये (ऊर्जम्) बल (इषम् च) और विज्ञान को (आ सुव) अच्छे प्रकार उत्पन्न कीजिये तथा (दुच्छुनाम्) कुत्तों के तुल्य दुष्ट हिंसक प्राणियों को (आरे) दूर वा समीप में (बाधस्व) ताड़ना विशेष दीजिये[१२]।

भावार्थ—जो मनुष्य दुष्ट आचरण और दुष्ट संग छोड़कर परमेश्वर तथा आप्त विद्वान् की सेवा करते हैं, वे धनधान्य से युक्त होकर दीर्घायु होते हैं।

रुद्र

यजुर्वेद के निम्न मन्त्र का देवता रुद्र है, जिसका अध्यात्म अर्थ प्राणपरक तथा अधिभूत अर्थ विद्वान्-परक किया है।

एष ते रुद्र भागः सह स्वस्राम्बिकया तं जुषस्व स्वाहा।
एष ते रुद्र भाग आखुस्ते पशुः॥ —यजु० ३.५७

पदार्थः—(एषः) प्रत्यक्षः (ते) तव अस्य वा (रुद्र) रोदयत्यन्यायकारिणो जनान् स रुद्रः स्तोता तत्सम्बुद्धौ। रुद्र इति स्तोतृनामसु पठितम्। निघं ३.१६, रुद्र इत्येतस्य त्रयस्त्रिंशद्देव-व्याख्याने प्राणसंज्ञेत्युक्तम्। (स्वस्रा) सुष्ठ्वस्यति प्रक्षिपति यया विद्यया क्रियया वा तया। ...(स्वाहा) शोभनं देयमादेयमाह यया सा... (आखुः) समन्तात् खनत्यवदृणाति येन भोजनसाधनेन सः। ...(पशुः) यो दृश्यते भोग्यपदार्थसमूहः समक्षे स्थापितः सः।...

अन्वयः—हे रुद्र स्तोतस्ते तवैषो भागोऽस्ति तं त्वमम्बिकया स्वस्रा सह जुषस्व। हे रुद्र, ते तवैषोऽयं भागः स्वाहास्ति तं सेवस्व।

---

१२. अध्यात्म-अधिभूत व्याख्या वाले अग्नि देवताक अन्य मन्त्र—ऋग् १.३१.२,३ ईश्वर, सभाध्यक्ष।

हे रुद्र, ते तवैष आखुः पशुश्चास्ति तं जुषस्व सेवस्वेत्येकः। योऽयं रुद्रः प्राणस्तेऽस्य रुद्रस्य योऽयं भागो यमम्बिकया स्वस्रा सह जुषस्व सेवते तेऽस्य रुद्रस्यैषोऽयं स्वाहा भागस्तथा यस्तेऽस्याखुः पशुश्चास्ति यमयं सततं सेवते।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। यथा भ्राता प्रियया विदुष्या भगिन्या सह वेदादिशब्दविद्यां पठित्वाऽऽनन्दं भुङ्क्ते यथा चाऽयं प्राणः श्रेष्ठया शब्दविद्यया प्रियो जायते, तथैव विद्वान् शब्दविद्यां प्राप्य सुखी जायते। नैताभ्यां विना कश्चिदपि सत्यं ज्ञानं सुखभोगं च प्राप्तुं शक्नोतीति।

भाषार्थ इस प्रकार होगा—

विद्वान्-पक्ष में—हे (रुद्र) अन्यायकारी मनुष्यों को रुलाने वाले विद्वन्, जो (ते) तेरा (एषः) यह (भागः) सेवन करने योग्य पदार्थ-समूह है उसको तू (अम्बिकया) वेदवाणी वा (स्वस्रा) उत्तम विद्या वा क्रिया के (सह) साथ (जुषस्व) सेवन कर, तथा हे (रुद्र) विद्वन्, जो (ते) तेरा (एषः) यह (भागः) धर्म से सिद्ध अंश वा (स्वाहा) वेदवाणी है उसका सेवन कर, और हे (रुद्र) विद्वन्, जो (ते) तेरा (एषः) यह (आखुः) खोदने वाला शस्त्र वा (पशुः) भोग्य पदार्थ है (तम्) उसको (जुषस्व) सेवन कर।

प्राण-पक्ष में—यह जो प्राण है, इसका यह [मुख द्वारा खाया-पिया जाने वाला भोज्य पदार्थ] भाग है, उसे यह (अम्बिकया) शब्द-साधन जिह्वा द्वारा (स्वस्रा) प्रक्षेपण-क्रिया से सेवन करता है। इस प्राण का यह (स्वाहा) सत्य वाणी रूप भाग है। इस प्राण के लिये खोदने का साधन और खोदा जाने वाला भोज्य पदार्थ है, जिस भोज्य पदार्थ का यह निरन्तर सेवन करता है।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। जैसे भ्राता प्रिय विदुषी बहिन के साथ वेद आदि शब्दविद्या को पढ़कर आनन्द भोगता है और जैसे प्राण श्रेष्ठ शब्दविद्या से प्रिय (आनन्ददायक) हो जाता है, वैसे ही विद्वान् मनुष्य शब्दविद्या को प्राप्त कर सुखी होता है। इन दोनों के बिना अर्थात् प्राण और विद्वान् के बिना कोई भी सत्य ज्ञान और सुखभोग को नहीं प्राप्त कर सकता।

मित्र

मित्र-देवताक निम्नलिखित मन्त्र का अध्यात्म अर्थ ईश्वर-परक तथा अधिभूत अर्थ आप्त राजा परक किया गया है[१३]—

अयं मित्रो नमस्यः सुशेवो राजा सुक्षत्रो अजनिष्ट वेधाः।
तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम॥

—ऋग् ३.५९.४

पदार्थः—(अयम्) परमात्माऽऽप्तो राजा वा (मित्रः) सखा (नमस्यः) परिचरितुं सत्कर्तुं योग्यः (सुशेवः) सुष्ठुसुखप्रदः (राजा) भूमिपः (सुक्षत्रः) शुष्ठु सुखि क्षत्रं राष्ट्रं यस्य सः (अजनिष्ट) जायते (वेधाः) मेधावी (तस्य) (वयम्) (सुमतौ) आज्ञायां प्रज्ञायां वा (यज्ञियस्य) न्यायव्यवहारसंपादकस्य (अपि) (भद्रे) कल्याणकरे (सौमनसे) सुमनसि भवे व्यवहारे (स्याम)।

पदार्थ—(अयम्) यह परमात्मा वा यथार्थ वक्ता राजा (मित्रः) मित्र, (सुशेवः) उत्तम सुख का दाता , (सुक्षत्रः) राष्ट्र को उत्तम करने वाला, (राजा) राजमान, (वेधाः) बुद्धिमान् (नमस्यः) और सबसे सत्कार करने योग्य (अजनिष्ट) हुआ है। (तस्य) उस (यज्ञियस्य) न्याय व्यवहार के करने वाले की (सुमतौ) आज्ञा वा बुद्धि में तथा (भद्रे) कल्याणकारक (सौमनसे) श्रेष्ठ मानस व्यवहार में (अपि) भी (वयम्) हम लोग (स्याम) होवें।

अधिदैवत और अधिभूत व्याख्याएँ

इन्द्र

इन्द्र देवता के निम्न मन्त्र के स्वामी-भाष्य में अधिदैवत अर्थ सूर्य-परक तथा अधिभूत अर्थ सेनापति-परक किया गया है[१४]—

पुनरिन्द्रशब्देन सूर्यसेनापतिगुणा उपदिश्यन्ते—

पुराम्भिन्दुर्युवा कविरमितौजा अजायत।
इन्द्रो विश्वस्य कर्मणो धर्ता वज्री पुरुष्टुतः॥ —ऋग् १.११.४

---

१३. इसी सूक्त के २य और ३य मन्त्र का भाष्य भी परमेश्वर तथा आप्त पुरुष उभय-परक है।

१४. ये ही अर्थ ऋग् १.८४.११ के भाष्य में भी किये गये हैं।

पदार्थः—(पुराम्) संघातानां शत्रुनगराणां द्रव्याणां वा (भिन्दुः) भेदकः (युवा) मिश्रणामिश्रणकर्ता (कविः) न्यायविद्याया दर्शनविषयस्य वा क्रमकः (अमितौजाः) अमितं प्रमाणरहितं बलमुदकं वा यस्य यस्माद्वा सः (अजायत) उत्पन्नोऽस्ति (इन्द्रः) विद्वान् सूर्यो वा (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः (कर्मणः) चेष्टितस्य (धर्ता) पराक्रमेणाकर्षणेन वा धारकः (वज्री) वज्राः प्राप्तिच्छेदनहेतवो बहवः शस्त्रसमूहाः किरणा वा विद्यन्ते यस्य सः । अत्र भूम्न्यर्थे इनिः । (पुरुष्टुतः) बहुभिर्विद्वद्भिर्गुणैर्वा स्तोतुमर्हः ।

अन्वयः—अयममितौजा वज्री पुरां भिन्दुर्युवा कविः पुरुष्टुत इन्द्रः सेनापतिः सूर्यलोको वा विश्वस्य कर्मणो धर्ताऽजायतोत्पन्नोऽस्ति ।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः । यथेश्वरेण सृष्ट्वा धारितोऽयं सूर्यलोकः स्वकीयैर्वज्रभूतैश्छेदकैः किरणैः सर्वेषां मूर्तद्रव्याणां भेत्ता बहुगुणहेतुराकर्षणेन पृथिव्यादिलोकस्य धाताऽस्ति, तथैव सेनापतिना स्वबलेन शत्रुबलं छित्त्वा सामदानादिभिर्दुष्टान् मनुष्यान् भित्त्वानेकशुभगुणाकर्षकेण भूत्वा भूमौ स्वराज्यपालनं सततं कार्यमिति वेद्यम् ।

उभय पक्ष में भाषार्थ इस प्रकार होगा—

सूर्य-पक्ष में—यह (अमितौजाः) अपरिमित जल को बरसाने वाला, (वज्री) बहुत-सी किरणों वाला, (पुराम्) संघातमय पदार्थों का (भिन्दुः) भेदक, (युवा) मूर्त पदार्थों को मिलाने व पृथक् करने वाला, (कविः) दृश्य पदार्थों का प्रकाश करने वाला, (पुरुष्टुतः) अनेक गुणों के कारण से वर्णन करने योग्य (इन्द्रः) सूर्यलोक (विश्वस्य) सब जगत् के (कर्मणः) कर्मों का (धर्ता) अपने आकर्षण से धारण करने वाला (अजायत) उत्पन्न हुआ है।

सेनापति-पक्ष में—यह (अमितौजाः) अपरिमित बल वाला, (वज्री) छेदक शस्त्रसमूहों वाला, (पुराम्) शत्रु-नगरों का (भिन्दुः) भेदक, (युवा) जोड़ने-तोड़ने वाला, (कविः) राजनीति-विद्या का द्रष्टा, (पुरुष्टुतः) अनेक विद्वानों से या अनेक गुणों के कारण प्रशंसित (इन्द्रः) विद्वान् सेनापति (विश्वस्य) सम्पूर्ण राष्ट्र के (कर्मणः)

कार्यों का (धर्ता) अपने पराक्रम से धारण करने वाला (अजायत) हुआ है।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। जैसे ईश्वर द्वारा रचकर धारण किया हुआ यह सूर्यलोक अपने वज्रभूत किरणों से सब मूर्तिमान् पदार्थों का भेदक, बहुत से गुणों का हेतु होकर अपने आकर्षण से पृथिवी आदि लोकों का धारण करने वाला है, वैसे ही सेनापति को उचित है कि वह अपने बल से शत्रु के बल को छिन्न-भिन्न करके साम, दान आदियों से दुष्ट मनुष्यों में फूट डाल कर, अनेक शुभ गुणों से आकर्षक होकर भूमि पर स्वराज्य का पालन निरन्तर करे।

इन्द्राग्नी

इन्द्राग्नी युगल वाले अधःप्रदत्त मन्त्र की व्याख्या महर्षि दयानन्द अधिभूत में न्यायाधीश और सेनाधीश परक तथा अधिदैवत में वायु और विद्युत् परक करते हैं।

यदिन्द्राग्नी अवमस्यां पृथिव्यां मध्यमस्यां परमस्यामुत स्थः।
अतः परि वृषणावा हि यातमथा सोमस्य पिबतं सुतस्य॥

—ऋग् १.१०८.९

पदार्थः—(यत्) यौ (इन्द्राग्नी) न्यायसेनाध्यक्षौ वायुविद्युतौ वा (अवमस्याम्) अनुत्कृष्टगुणायाम् (पृथिव्याम्) स्वराज्यभूमौ (मध्यमस्याम्) मध्यमगुणायाम् (परमस्याम्) उत्कृष्टगुणायाम्...।

अन्वयः—हे इन्द्राग्नी यद् युवामवमस्यां मध्यमस्यामुतापि परमस्यां पृथिव्यां स्वराज्यभूमावधिकृतौ स्थस्तौ सर्वदा सर्वै रक्षणीयौ स्तः। अतोऽत्र परिवृषणौ भूत्वा यातं हि खल्वथ तत्रस्थं सुतस्य सोमस्य रसं पिबतमित्येकः। यद् याविमाविन्द्राग्नी अवमस्यां मध्यमस्यामुतापि परमस्यां पृथिव्यां स्थोऽतोऽत्र परिवृषणौ भूत्वाऽऽयातमागच्छतो हि खल्वथ यौ सुतस्य सोमस्य रसं पिबतं पिबतस्तौ कार्यसिद्धये प्रयुज्य मनुष्यैर्महालाभः संपादनीयः इति द्वितीयः।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। उत्तममध्यमनिकृष्टगुणकर्मस्वभावभेदेन यद्यद्राज्यमस्ति तत्र तत्रोत्तमगुणकर्मस्वभावान् मनुष्यान् संस्थाप्य चक्रवर्तिराज्यं कृत्वाऽऽनन्दः सर्वैर्भोक्तव्यः।

एवमेतत्सृष्टिस्थौ सर्वलोकेष्ववस्थितौ पवनविद्युतौ विज्ञाय संप्रयुज्य कार्यसिद्धिं संपाद्य दारिद्र्यादिदुःखं सर्वैर्विनाशनीयम्।

१. हे (इन्द्राग्नी) न्यायाधीश और सेनाधीश, (यत्) जो तुम दोनों (अवमस्याम्) निकृष्ट (मध्यमस्याम्) मध्यम (उत) और (परमस्याम्) उत्तम गुण वाली (पृथिव्याम्) अपनी राज्यभूमि में अधिकार पाए हुए (स्थः) हो, वे सदा से रक्षा करने योग्य हो (अतः) इस कारण इस उक्त राज्य में (परि वृषणौ) सब प्रकार सुखरूपी वर्षा करने हारे होकर (हि) निश्चय के साथ (आ यातम्) आओ। (अथ) इसके उपरान्त उस राज्यभूमि में (सुतस्य) उत्पन्न हुए (सोमस्य) संसारी पदार्थों के रस को (पिबतम्) पिओ।

२. (यत्) जो ये (इन्द्राग्नी) पवन और बिजुली (अवमस्याम्) निकृष्ट (मध्यमस्याम्) मध्यम (उत) और (परमस्याम्) उत्तम गुण वाली (पृथिव्याम्) पृथिवी में (स्थः) हैं, (अतः) इस से यहाँ (परि वृषणौ) सब प्रकार से सुखरूपी वर्षा करने वाले होकर (आ यातम्) आते, और (अथ) इसके उपरान्त (हि) निश्चय के साथ जो (सुतस्य) निकाले हुए (सोमस्य) पदार्थों के रस को (पिबतम्) पीते हैं, उनको कार्य-सिद्धि के लिये कलाओं में संयुक्त करके महान् लाभ सिद्ध करना चाहिये।

भावार्थ—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव के भेद से जो-जो राज्य है, वहाँ-वहाँ उत्तम गुण-कर्म-स्वभाव वाले मनुष्यों को संस्थापित करके चक्रवर्ती राज्य बनाकर आनन्द सबको भोगना चाहिये। इसी प्रकार इस सृष्टि में स्थित, सब लोकों में अवस्थित वायु और विद्युत् को जानकर प्रयोग में लाकर कार्यसिद्धि करके दारिद्र्य आदि का दुःख सबको विनष्ट करना चाहिये।

स्वराट्

यजुर्वेद के निम्न मन्त्र की व्याख्या महर्षि ने अधिदैवत में सूर्य-परक तथा अधिभूत में विद्वान् सभाध्यक्षादि परक की है—

अथ सूर्यसभाध्यक्षगुणा उपदिश्यन्ते—

स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा।
जनराडसि रक्षोहा सर्वराडस्यमित्रहा॥ —यजु० ५.२४

पदार्थः—(स्वराट्) यः स्वयं राजते सः... (सपत्नहा) यः सपत्नान् शत्रून् मेघावयवान् वा हन्ति सः (सत्रराट्) यः सत्रेषु यज्ञेषु राजते सः... (अभिमातिहा) येऽभिमिमत इत्यभिमातयस्तान् हन्ति सः। अत्रौणादिकः क्तिच्। (जनराट्) यो जनेषु धार्मिकेषु विद्वत्सु राजते सः (रक्षोहा) यो रक्षांसि दुष्टान् हन्ति सः (सर्वराट्) यः सर्वस्मिन् राजते सः... (अमित्रहा) यो येन वाऽमित्रान् शत्रून् हन्ति सः...।

अन्वयः—हे विद्वन् मनुष्य, यतस्त्वं स्वराडसि तस्मात्सपत्नहाऽसि भवसि। यतस्त्वं सत्रराडसि तस्मादभिमातिहा वर्तसे। यतस्त्वं जनराडसि तस्माद्रक्षोहाऽसि भवसि। यतस्त्वं सर्वराडसि तस्मादमित्रहाऽसि भवसीत्येकः। यतोऽयं सूर्यलोकः स्वराडस्ति तस्मात् सपत्नहा भवति। यतोऽयं सत्रराडस्ति तस्मादभिमातिहा वर्तते। यतोऽयं जनराडस्ति तस्माद्रक्षोहा जायते। यतोऽयं सर्वराडस्ति तस्मादमित्रहा वर्त्तत इति द्वितीयः।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। हे विद्वन्, यथा सूर्यः स्वप्रकाशेन चोरव्याधादीन् भीषयित्वा सर्वान् सुखयति तथैव त्वं शत्रून्निवार्य प्रजाः सुखय।

विद्वान्-पक्ष में—हे विद्वान् सभाध्यक्ष, जिस कारण आप (स्वराट्) अपने आप प्रकाशमान (असि) हैं, इससे (सपत्नहा) शत्रुओं के मारने वाले होते हैं, जिस कारण (सत्रराट्) यज्ञों में प्रकाशमान हैं, इससे (अभिमातिहा) अभिमानयुक्त मनुष्यों को मारने वाले होते हैं, जिससे (जनराट्) धार्मिक विद्वानों में प्रकाशित हैं, इससे (रक्षोहा) राक्षस दुष्टों को मारने वाले होते हैं, जिससे आप (सर्वराट्) सब में प्रकाशित हैं, इससे (अमित्रहा) अमित्र अर्थात् वैरियों के मारने वाले होते हैं।

सूर्य-पक्ष में—जिस कारण यह सूर्यलोक (स्वराट्) अपने आप प्रकाशित (असि) है, इससे (सपत्नहा) मेघ के अवयवों को काटने वाला होता है, जिस कारण यह (सत्रराट्) शिल्प-यज्ञों में प्रकाशित (असि) है, इससे (अभिमातिहा) अभिमानकारक चोर आदि का हनन करने वाला होता है। जिससे यह (सर्वराट्) सब में प्रकाशमान (असि) है, इससे (अभिमातिहा) अभिमानकारक चोर आदि का

हनन करने वाला होता है, जिस कारण यह (जनराट्) धार्मिक विद्वानों में प्रकाशित (असि) है, इससे (रक्षोहा) राक्षस वा दुष्टों का हनन करने वाला होता है। जिससे यह (सर्वराट्) सब में प्रकाशमान (असि) है, इससे (अमित्रहा) दुष्टों को दण्ड देने का निमित्त होता है।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। हे विद्वन्, जैसे सूर्य अपने प्रकाश से चोर, व्याघ्र आदि को डराकर सबको सुखी करता है, वैसे ही आप शत्रुओं का निवारण करके प्रजाओं को सुखी करें।

अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत व्याख्याएँ

सोम

स्वामी दयानन्द ने कई वेदमन्त्रोंकी तीन-तीन व्याख्याएँ की हैं, जो अध्यात्म, अधिदैवत तथा अधिभूत कोटि में आती है। इन सन्दर्भ में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का सूक्त ९१ विशेष उल्लेखनीय है, जिसका देवता सोम है, तथा जिसके कुल २३ में से ११ मन्त्रों की व्याख्या स्वामी जी ने अध्यात्म में परमेश्वर-परक अधिभूत में विद्वान्-परक तथा अधिदैवत में सोम ओषधि-परक की है। उदाहरणार्थ निम्न दो मन्त्रों का भाष्य द्रष्टव्य है—

त्वं सोमासि सत्पतिस्त्वं राजोत वृत्रहा।
त्वं भद्रो असि क्रतुः ॥ —ऋग् १.९१.५

पदार्थः—(त्वम्) परमेश्वर शालाध्यक्ष ओषधिराजो वा (सोम) सकलजगदुत्पादक सर्वविद्याप्रद सर्वौषधिगुणप्रद वा (सत्पतिः) सतोऽविनाशिनः कारणस्य विद्यमानस्य कार्यस्य सत्यपथ्यकारिणां वा पालकः (राजा) सर्वाध्यक्षो विद्याध्यक्षो रोगनाशकगुणप्रकाशको वा। (वृत्रहा) यो दुःखप्रदान् शत्रून् मेघदोषान् वा हन्ति सः। (भद्रः) कल्याणकारकः सेवनीयो वा। (क्रतुः) प्रज्ञामयः प्रज्ञाप्रदः प्रज्ञाहेतुर्वा।

अन्वयः—हे सोम यतः त्वम् (अयं सोमो वा) सत्पतिः असि (अस्ति वा) उतापि त्वम् (अयं च) वृत्रहा राजा असि (अस्ति वा), यतः त्वम् (अयं च) भद्रोऽसि (भवति वा), क्रतुः असि (भवति वा), तस्मात् त्वम् (अयं च) विद्वद्भिः सेव्यः।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। परमेश्वरो विद्वान् सोमलता-द्योषधिगणो वा सर्वैश्वर्यप्रकाशकः सतां रक्षकोऽधिपति-र्दुःखविनाशको विज्ञानप्रदः कल्याणकार्यस्तीति सम्यग्विदित्वा सेव्यः।

भाषार्थ तीनों पक्षों में पृथक्-पृथक् इस प्रकार होगा—

परमेश्वर-पक्ष में—हे (सोम) समस्त संसार को उत्पन्न करने वाले परमेश्वर, क्योंकि (त्वम्) आप (सत्पतिः) अविनाशी प्रकृति रूप जगत्-कारण के तथा विद्यमान कार्य के रक्षक (असि) हैं, (उत) और (त्वम्) आप (वृत्रहा) दुःखप्रद कामादि शत्रुओं के विनाशक तथा (राजा) सबके राजा हैं, और (त्वम्) आप (भद्रः) कल्याणकारक और सेवनीय तथा (क्रतुः) बुद्धियुक्त व बुद्धि देने वाले हैं, इस कारण विद्वानों से सेवन करने योग्य हैं।

विद्वान्-पक्ष में—हे (सोम) सब विद्याओं को देने वाले पाठशाला के अध्यक्ष विद्वन्, क्योंकि (त्वम्) आप (सत्पतिः) विद्यमान कार्य वस्तुओं के पालन करने वाले (असि) हैं, (उत) और (त्वम्) आप (वृत्रहा) दुःखप्रद विद्याविघ्नकारी शत्रुओं का विनाश करने वाले तथा (राजा) विद्या के राजा हैं, और (त्वम्) आप (भद्रः) कल्याणकारक तथा (क्रतुः) बुद्धिमान् और ज्ञान-प्रदायक हैं, इस कारण विद्यार्थियों से सेवन करने योग्य हैं।

ओषधि-पक्ष में—क्योंकि यह सब ओषधियों में गुणकारी सोम ओषधि (सत्पतिः) ठीक-ठीक पथ्य करने वाले जनों की पालना करने वाली है, (उत) और (वृत्रहा) दोषों की नाशक तथा (राजा) रोगनाशक गुणों का प्रकाश करने वाली है, और (भद्रः) सेवन करने योग्य तथा (क्रतुः) बुद्धिवर्द्धक है, इस कारण सब आरोग्यार्थियों से सेवन करने योग्य है।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। परमेश्वर, विद्वान् मनुष्य और सोमलता आदि ओषधियों का समूह सब ऐश्वर्यों के प्रकाशक, सज्जनों के रक्षक, उनके अधिपति, दुःखों का विनाश करने वाले, विज्ञान के देने वाले और कल्याण करने वाले हैं यह भली-भाँति जानकर इनका सेवन करना चाहिये।

गयस्फानो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः।

सुमित्रः सोम नो भव॥ —ऋग् १.९१.१२

पदार्थः—(गयस्फानः) गयानां प्राणानां वर्धयिता। स्फायी, वृद्धावित्यस्माद्धातोर्नन्द्यादेराकृतिगणत्वाल्ल्युः। छान्दसो वर्णलोप इति यलोपः। अत्र सायणाचार्येण स्फान इति कर्तरि ल्युडन्तं व्याख्यातं तदशुद्धम्। (अमीवहा) अमीवानामविद्यादीनां ज्वरादीनां वा हन्ता (वसुवित्) वसूनि सर्वाणि द्रव्याणि वेत्ति यः, विदन्ति येन वा (पुष्टिवर्द्धनः) शरीरात्मपुष्टेर्वर्धयिता (सुमित्रः) शोभनाः सुष्ठु-कारिणो मित्रा यतः (सोम) (नः) अस्माकम् (भव) भवतु वा।

अन्वयः—हे सोम त्वं नोऽस्माकं गयस्फानोऽमीवहा वसु-वित्सुमित्रः पुष्टिवर्धनो भव।

भावार्थः—अत्र श्लेषालङ्कारः। नहि प्राणिनामीश्वरस्यौषधीनां च सेवनेन विदुषां संगेन च विना रोगनाशो बलवर्द्धनं द्रव्यज्ञानं धनप्राप्तिः सुहृन्मेलनं च भवितुं शक्यं, तस्मादेतेषां समाश्रयः सेवा च सर्वैः कार्या।

पदार्थ—हे (सोम) परमेश्वर वा विद्वन्, आप (नः) हम लोगों के (गयस्फानः) प्राणों के बढ़ाने वाले, (अमीवहा) अविद्या आदि दोषों तथा ज्वर आदि दुःखों के विनाश करने वाले, (वसुवित्) पदार्थों का ज्ञान कराने वाले, (सुमित्रः) जिन से उत्तम कामों के करने वाले मित्र प्राप्त होते हैं ऐसे, (पुष्टिवर्द्धनः) शरीर और आत्मा की पुष्टि को बढ़ाने वाले (भव) हूजिये, और यह ओषधिसमूह हम लोगों को यथायोग्य उक्त गुण देने वाला होवे।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेषालंकार है। ईश्वर के और ओषधियों के सेवन के बिना तथा विद्वानों की संगति के बिना प्राणियों के रोगों का नाश, बल की वृद्धि, पदार्थों का ज्ञान, धन की प्राप्ति और मित्रों का मिलन संभव नहीं है, इस कारण सबको इनका आश्रय लेना चाहिये तथा इनकी यथायोग्य सेवा करनी चाहिए।

वरुण

ऋग्वेद के वरुण-सूक्त १.२५ का निम्न मन्त्र भी अवलोकनीय है, जिसके स्वामि-भाष्य में श्लेष अलंकार द्वारा पंचविध अर्थ-

योजना प्रस्तुत की गयी है, अध्यात्म दृष्टि से परमेश्वर, जीव[१५] और प्राण परक, अधिदैवत दृष्टि से सूर्य-परक तथा अधिभूत दृष्टि से न्यायाधीश मनुष्य परक। फिर परमेश्वर जीव, प्राण और सूर्य में उपमानत्व तथा न्यायाधीश में उपमेयत्व मानकर वाचकलुप्तोपमा अलंकार द्वारा परमेश्वरादि के व्यवहार के समान न्यायाधीश को व्यवहार करने की शिक्षा दी गयी है।

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत्।
प्र ण आयूंषि तारिषत्॥ —ऋग् १.२५.१२

पदार्थः—(सः) वक्ष्यमाणः (नः) अस्मान् (विश्वाहा) विश्वानि चाहानि च तेषु। अत्र सुपां सुलुग् इति सप्तम्या बहुवचनस्याकारादेशः।(सुक्रतुः) शोभनानि प्रज्ञानानि कर्माणि वा यस्य सः (आदित्यः) विनाशरहितः परमेश्वरो जीवः कारणरूपेण प्राणो वा (सुपथा) शोभनश्चासौ पन्थाश्च सुपथस्तेन (करत्) कुर्यात्। लेट्प्रयोगोऽयम्। (प्र) प्रकृष्टार्थे क्रियायोगे (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि (तारिषत्) सन्तारयेत्। अत्रान्तर्गतो ण्यर्थः।

अन्वयः—यथादित्यः परमेश्वर प्राणः सूर्यो वा विश्वाहा सर्वेषु दिनेषु नोऽस्मान् सुपथा करत् नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषत् तथा सुक्रतुरादित्यो न्यायकारी मनुष्यो विश्वाहेषु नः सुपथा करत् नोऽस्माकमायूंषि प्रतारिषत् सन्तारयेत्।

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। ये मनुष्या ब्रह्मचर्येण जितेन्द्रियत्वादिनाऽऽयुर्वर्द्धयित्वा धर्ममार्गे विचरन्ति तान् जगदीश्वरोऽनुगृह्यानन्दयुक्तान् करोति। यथाऽयं प्राणः सूर्यो वा स्वबलतेजोभ्यामुच्चावचानि स्थलानि प्रकाश्य प्राणिनः सुखयित्वा सर्वानहोरात्रादीन् कालविभागान्विभजतस्तथैव स्वात्मशरीरसेना-बलेन न्यायाधीशः धर्म्याणि कनिष्ठमध्यमोत्तमानि कर्माणि प्रचार्याधर्म्याणि निवर्त्योत्तमनीचजनसमूहौ सदा विभजेत्।

पदार्थ—जैसे (आदित्यः) अविनाशी परमेश्वर, जीव प्राण वा सूर्य (विश्वाहा) सब दिन (नः) हम लोगों को (सुपथा) अच्छे मार्ग में (करत्) चलाते और (नः) हमारी (आयूंषि) आयुओं को

---

१५. जीव-परक अर्थ का संकेत संस्कृत-पदार्थ में मिलता है।

(प्रतारिषत्) सुख के साथ परिपूर्ण करते हैं, वैसे ही (सुक्रतुः) श्रेष्ठ कर्म और उत्तम ज्ञान वाला (आदित्यः) विद्याधर्मप्रकाशित न्यायकारी मनुष्य (विश्वाहा) सब दिनों में (नः) हम लोगों को (सुपथा) अच्छे मार्ग में (करत्) करे। और (नः) हम लोगों की (आयूंषि) आयुओं को (प्रतारिषत्) सुख से परिपूर्ण करे।

भावार्थ—इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमा अलंकार हैं। जो मनुष्य ब्रह्मचर्य और जितेन्द्रियता आदि से आयु बढ़ाकर धर्म-मार्ग में विचरण करते हैं उन पर जगदीश्वर अनुग्रह करके उन्हें आनन्दयुक्त करता है। जैसे यह प्राण वा सूर्य अपने बल और तेज से ऊँचे-नीचे स्थलों को प्रकाशित कर प्राणियों को सुख देकर सब दिन-रात्रि आदि काल-विभागों को सिद्ध करते हैं, वैसे ही अपने आत्मा, शरीर और सेना के बल से न्यायाधीश धर्मयुक्त छोटे, बड़े और मध्यम कर्मों का प्रचार करके तथा अधर्मयुक्तों का निवारण करके उत्तम और अधम जनसमूहों का विभाग सदा किया करे।

अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ व्याख्या

यजुर्वेदीय निम्न मन्त्र के स्वामी दयानन्द ने तीन प्रकार के अर्थ किये हैं, एक देवपूजासंगतिकरणदानरूप यज्ञपरक, दूसरा परमेश्वर परक और तीसरा होम एवं शिलपविद्या परक।

भूताय त्वा नारातये स्वरभिविख्येषं दृंहन्तां दुर्य्याः पृथिव्या-मुर्वन्तरिक्षमन्वेमि। पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थे अग्ने हव्यꣳ रक्ष॥
—यजु० १.११

प्रथम अर्थ के अनुसार ईश्वर कहता है कि मैं प्राणियों के सुख के लिए तथा दारिद्र्य आदि दोषों के नाश के लिए पृथिवी पर यज्ञ को स्थापित करता हूँ। **द्वितीय** अर्थ के अनुसार ईश्वरोपासक मनुष्य कहता है कि हे परमेश्वर, मैं संसारी जीवों के सुखार्थ तथा दरिद्रता के विनाशार्थ और दानार्थ पृथिवी के मध्य में सबके स्वामी और उपासनीय जानकर सुखस्वरूप आपको प्रकाशित करता हूँ। **तृतीय** अर्थ के अनुसार शिल्पवित् तथा यज्ञकर्ता मनुष्य कहता है कि मैं सांसारिक प्राणियों के सुख के लिए, दरिद्रता आदि दोषों के विनाश के लिए और दान आदि धर्म-कर्म करने की इच्छा से इस पृथिवी पर होम के

लिए तथा शिल्पविद्या की सिद्धि के लिए भौतिक अग्नि को प्रज्वलित करता हूँ।

अध्यात्म और अधियज्ञ व्याख्या

निम्नलिखित मन्त्र के ऋग्वेदभाष्य में अध्यात्म-परक तथा यजुर्वेदभाष्य में यज्ञविद्या तथा शब्दविद्या-परक व्याख्यान किये गये हैं—

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश॥

—ऋग् ४.५८.३; यजु० १७.९१

चार सींग हैं, तीन इसके पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, तीन प्रकार से बंधा हुआ यह वृषभ शब्द कर रहा है, यह ऐसा महान् देव है जो मर्त्यों में प्रविष्ट है।

ऋग्भाष्य के अनुसार यह महान् देव परमात्म-बोध या धर्म-व्यवहार है, जिसके चार वेद ही चार सींग हैं, कर्म-उपासना-ज्ञान तीन पैर हैं, अभ्युदय और निःश्रेयस दो सिर हैं, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ या कर्मेन्द्रियाँ और अन्तःकरण तथा आत्मा ये सात हाथ हैं, श्रद्धा-पुरुषार्थ-योगाभ्यास इन तीन से बँधा हुआ है, सुखों का वर्षक होने से वृषभ कहलाता है, यह शब्द अर्थात् अत्यधिक उपदेश भी करता है।

यह व्याख्या पदार्थ में दी है। भावार्थ में कतिपय अन्य व्याख्याएँ भी मिलती हैं। तदनुसार इस परमेश्वर से व्याप्त जगत् में चार वेद, नाम-आख्यात-उपसर्ग-निपात, विश्व-तैजस-प्राज्ञ-तुरीय, धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष आदि चार सींग हैं; तीन सवन, तीन काल, कर्म-उपासना-ज्ञान, मन-वाक्-शरीर इत्यादि तीन पैर हैं; व्यवहार-परमार्थ, नित्यशब्द-कार्यशब्द, उदगयन-प्रायणीय, अध्यापक-उपदेशक आदि दो सिर हैं; गायत्री आदि सात छन्द, सात विभक्तियाँ, सात प्राण, पंच कर्मेन्द्रिय-शरीर-आत्मा आदि सात हाथ हैं; मन्त्र-ब्राह्मण-कल्प, उरस्-कण्ठ-सिर, श्रवण-मनन-निदिध्यासन, ब्रह्मचर्य-सुकर्म-सुविचार इन तीन में बँधा हुआ अर्थात् इन तीन से सिद्ध होने वाला यह व्यवहार महान् सत्कर्तव्य है तथा मनुष्यों के बीच प्रविष्ट है।

यजुर्भाष्य में रूपक और श्लेष अलंकार वर्णित करते हुए निरुक्तानुसारी यज्ञपरक तथा महाभाष्यानुसारी शब्दपरक व्याख्या दी गयी है। ऋग्भाष्य तथा यजुर्भाष्य की इन समस्त व्याख्याओं में से परमात्म-बोध या धर्मव्यवहार-परक व्याख्या तथा शब्द परक व्याख्या अध्यात्म-प्रक्रिया में और यज्ञ-परक व्याख्या यज्ञ-प्रक्रिया के अन्तर्गत होगी। ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों में इस मन्त्र का जो संस्कृत-भाष्य दिया है, वह यहाँ उद्धृत किया जाता है।

ऋग्वेद

अथेश्वरविज्ञानमाह—(चत्वारि) चत्वारो वेदाः (शृङ्गा) शृङ्गाणीव, (त्रयः) कर्मोपासनाज्ञानानि (अस्य) धर्म्मव्यवहारस्य (पादाः) पत्तव्याः, (द्वे) अभ्युदयनिःश्रेयसे (शीर्षे) शिरसी इव, (सप्त) पंच ज्ञानेन्द्रियाणि वा कर्म्मेन्द्रियाण्यन्तःकरणमात्मा च (हस्तासः) हस्तवद्वर्तमानाः (अस्य) धर्मयुक्तस्य नित्यनैमित्तिकस्य, (त्रिधा) श्रद्धापुरुषार्थयोगाभ्यासैः (बद्धः) (वृषभः) सुखानां वर्षणात् (रोरवीति) भृशमुपदिशति, (महः) महान् पूजनीयः (देवः) स्वप्रकाशः सर्वसुखप्रदाता (मर्त्यान्) मरणधर्मान् मनुष्यादीन् (आ) समन्तात् (विवेश) व्याप्नोति।

अन्वयः—हे मनुष्याः, यो महो देवो मर्त्यानाविवेश यो वृषभस्त्रिधा बद्धो रोरवीति अस्य परमात्मनो बोधस्य द्वे शीर्षे त्रयः पादाश्चत्वारि शृङ्गा च युष्माभिर्वेदितव्यान्यस्य च सप्त हस्तासस्त्रिधा वद्धो व्यवहारश्च वेदितव्यः।

भावार्थः—हे मनुष्याः, अस्मिन् परमेश्वरव्याप्ते जगति यज्ञस्य चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाता विश्वतैजसप्राज्ञतुरीय-धर्मार्थकाममोक्षाश्चेत्यादीनि शृङ्गाणि, त्रीणि सवनानि त्रयः कालाः कर्म्मोपासनाज्ञानानि वनोवाक्छरीराणि चेत्यादीनि पादाः, द्वौ व्यवहारपरमार्थौ नित्यकार्यौ शब्दात्मानावुदगयनप्रायणीया अध्यापकोपदेशकौ चेत्यादीनि शिरांसि गायत्र्यादीनि सप्त छन्दांसि सप्त विभक्तयः सप्त प्राणाः पञ्च कर्मेन्द्रियाणि शरीरमात्मा चेत्यादयो हस्तास्त्रिषु मन्त्रब्राह्मणकल्पेषूरसि कण्ठे शिरसि श्रवणमनन-निदिध्यासनेषु ब्रह्मचर्यसुकर्मसुविचारेषु सिद्धोऽयं व्यवहारो महान् सत्कर्तव्यो मनुष्येषु प्रविष्टोऽस्तीति सर्वे विजानन्तु।

यजुर्वेद

अथ यज्ञादिगुणानाह—

पदार्थः—(चत्वारि) (शृङ्गा) शृङ्गाणीव चत्वारो वेदा नामाख्यातोपसर्गनिपाता वा (त्रयः) प्रातर्मध्यसायंसवनानि, भूतभविष्यद्वर्तमानाः काला वा (अस्य) यज्ञस्य शब्दस्य वा (पादाः) अधिगमसाधनानि (द्वे) (शीर्षे) शिरसी प्रायणीयोदयनीये, नित्यः कार्यश्च शब्दात्मानौ वा (सप्त) एतत्संख्याकानि गायत्र्यादीनि छन्दांसि विभक्तयो वा (हस्तासः) हस्तेन्द्रियमिव (अस्य) (त्रिधा) त्रिभिः प्रकारैर्मन्त्रब्राह्मकल्पैः, उरसि कण्ठे शिरसि वा (बद्धः) (वृषभः) सुखानामभिवर्षकः (रोरवीति) ऋग्वेदादिना सवनक्रमेण वा शब्दायते (महः) महान् (देवः) संगमनीयः प्रकाशको वा (मर्त्यान्) मनुष्यान् (आ विवेश) आविशति। अत्राहुर्नैरुक्ताः....नि. अ. १३ खं. ७, पक्षान्तरे पतञ्जलिमुनिरेवमाह...महाभा. अ. १, पा. १, आ. १।

अन्वयः—हे मनुष्याः, यूयं यस्यास्य त्रयः पादाश्चत्वारि शृङ्गा द्वे शीर्षे यस्यास्य सप्त हस्तासः सन्ति यस्त्रिधा बद्धो महो देवो वृषभो यज्ञः शब्दो वा रोरवीति मर्त्यानाविवेश तमनुष्ठायाभ्यस्य च सुखिनो विद्वांसो भवत।

भावार्थः—अत्रोभयोक्त्या रूपकः श्लेषालङ्कारश्च। ये मनुष्या यज्ञविद्यां शब्दविद्यां च जानन्ति ते महाशया विद्वांसो भवन्ति।

वाचकलुप्तोपमा द्वारा एकाधिक अर्थों की योजना

योजना-प्रकार

स्वामी दयानन्द ने श्लेषालंकार द्वारा तो किन्हीं मन्त्रों के एकाधिक अर्थ किये ही हैं, इसके अतिरिक्त अनेक स्थलों पर श्लेष और वाचकलुप्तोपमा अलंकार का प्रयोग करके अथवा केवल वाचकलुप्तोपमा या लुप्तोपमा अलंकार लिख कर भी मन्त्र के दो अर्थ लेकर उनमें परस्पर उपमानोपमेयभाव प्रदर्शित किया है, तथा विभिन्न क्षेत्रों में इस विधि से मनुष्य के लिए अनेक शिक्षाएँ या विधियाँ आविष्कृत की हैं। जिन स्थलों पर भाष्य में वाचकलुप्तोपमालंकार लिखा गया है उनकी परीक्षा और विश्लेषणा करने पर हम इस

परिणाम पर पहुँचते हैं कि भाष्य में प्रयुक्त इस अलंकार की कई कोटियाँ हैं। प्रस्तुत प्रकरण में सभी वाचकलुप्तोपमाओं से प्रयोजन न होने के कारण हम केवल उन्हीं के कतिपय उदाहरण यहाँ निरूपित करेंगे, जिनसे मन्त्र के एकाधिक अर्थों की सूचना मिलती है। भाष्य में प्रयुक्त यह वाचकलुप्तोपमा या लुप्तोपमा प्रचलित काव्यशास्त्र के अनुसार व्योङ्ग्योपमा के क्षेत्र में आती है। व्यङ्ग्योपमा को लुप्तोपमा अन्य वेदव्याख्याकारों ने भी कहीं-कहीं कहा है। यथा मण्डूक-सूक्त के "**संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः**" ऋग् ७.१०३.१, मन्त्र की व्याख्या में यास्क लिखते हैं कि "ब्राह्मणाः" में लुप्तोपमा है, अभिप्राय है ब्राह्मणों के समान[१६]।

प्रथम ऐसा उदाहरण लेना उपयुक्त होगा, जिसमें महर्षि ने श्लेष और वाचकलुप्तोपमा दोनों अलंकार माने हैं, जिससे जहाँ केवल वाचकलुप्तोपमा या लुप्तोपमा अलंकार लिखा है, उसका भी स्वरूप स्पष्ट हो सके। ऐसे दो मन्त्रों की व्याख्या पहले दी जा चुकी है, "**सुविवृतं सुनिरजम्**" ऋग् १.१०.७ तथा "**स नो विश्वाहा सुक्रतुः**" ऋक् १.२५.१२। इस प्रसंग में निम्न मन्त्र भी द्रष्टव्य है—

अभीवृतं कृशनैर्विश्वरूपं हिरण्यशम्यं यजतो बृहन्तम्।
आस्थाद् रथं सविता चित्रभानुः कृष्णा रजांसि तविषीं दधानः॥

—ऋग् १.३५.४

इसकी अर्थ-योजना स्वामी-भाष्य में इस प्रकार है—

"**हे सभेश राजन्, त्वं यथा यजतः चित्रभानुः सविता सूर्यो वायुर्वा कृशनैः किरणैः रूपैर्वा बृहन्तं हिरण्यशम्यम् अभीवृतं विश्वरूपं रथं कृष्णानि रजांसि पृथिव्यादिलोकान् तविषीं बलं च दधानः सन् आस्थात् समन्तात् तिष्ठति तथा भूत्वा वर्तस्व।**"

अर्थात् हे सभेश राजन्, आप जिस प्रकार (यजतः) संगति और प्रकाश का दाता, (चित्रभानुः) चित्र-विचित्र दीप्तियों वाला (सविता) सूर्यलोक वा वायु (कृशनैः) सूक्ष्मत्वनिष्पादक किरणों वा विविध रूपों से (बृहन्तम्) बड़े (हिरण्यशम्यम्) जिसमें सुवर्ण वा अन्य ज्योतियाँ शान्त रूप में विद्यमान हैं ऐसे, (अभीवृतम्) सर्वतः साधनों

१६. व्रतचारिणः व्रतं संवत्सरसत्रात्मकं कर्माचरन्तः ब्राह्मणाः, लुप्तोपममेतत्, एवंभूता ब्राह्मणा इव। निरु. ९.६

से परिपूर्ण (विश्वरूपम्) जिसमें सब रूप विद्यमान हैं ऐसे (रथम्) रथ को, (कृष्णानि रजांसि) आकर्षणयुक्त व कृष्ण वर्ण वाले पृथिव्यादि लोकों को, और (तविषीम्) बल को (दधानः) धारण करता हुआ (आस्थात्) चारों ओर स्थित होता है, वैसे ही अपना बर्ताव कीजिये।

भावार्थः—अत्र श्लेषवाचकलुप्तोपमालङ्कारौ। यथा सूर्यादिजननिमित्तः सूर्यादिलोकधारको बलवान् सर्वान् लोकानाकर्षणाख्यं बलं च धरन् वायुर्वर्तते, यथा च सूर्यलोकः स्वसन्निहितान् लोकान् धरन् सर्वं रूपं प्रकटयन् बलाकर्षणाभ्यां सर्वं धरति, नैताभ्यां विना कस्यचित् परमाणोरपि धारणं संभवति, तथैव राजा शुभगुणाढ्यो भूत्वा राज्यं धरेत्।

अर्थात् इस मन्त्र में श्लेष और वाचकलुप्तोपमालंकार है। जैसे सूर्य आदि की उत्पत्ति का निमित्त, सूर्य आदि लोकों का धारण करने वाला, बलवान्, सब लोकों और आकर्षणरूपी बल को धारण करता हुआ वायु विचरता है, और जैसे सूर्यलोक अपने समीप लोकों को धारण करता है, और सब रूप को प्रकट करता हुआ बल वा आकर्षण-शक्ति से सब को धारण करता है, और इन दोनों वायु और सूर्य के बिना किसी परमाणु का भी धारण संभव नहीं होता, वैसे ही राजा उत्तम गुणों से युक्त होकर राज्य का धारण किया करे।

यहाँ श्लेष से सविता के तीन अर्थ किये हैं[१७], सूर्य, वायु और राजा। पुनः वाचकलुप्तोपमा अलंकार का आश्रय लेकर यह शिक्षा ग्रहण की है कि सूर्य और वायु के समान ही राजा को भी बर्ताव करना चाहिए। राजा के पक्ष में सम्पूर्ण मन्त्र का अर्थ नहीं किया है, किन्तु मन्त्र में जो कार्य सूर्य और वायु के बताये हैं तत्सदृश कार्य राजा को भी करने हैं यह कहने से राजा के पक्ष में भी मन्त्रार्थ ग्रहण करना है, यह सूचित हो जाता है। परन्तु इतना अन्तर है कि सूर्य और वायु तो मन्त्रवर्णित कार्यों को करते हैं, किन्तु सभी राजा आवश्यक नहीं है कि उन कार्यों को करते ही हों। उन्हें वैसे कार्य करने उचित है, यह बताने के लिए लुप्तोपमा का आश्रय लिया गया है।

इस भूमिका के पश्चात् अब हम स्वामी-भाष्य के कतिपय ऐसे

---

१७. सविता ऐश्वर्यवान् राजा सूर्यलोको वायुर्वा। सवितेति पदनामसु पठितम् निघं० ५.४, अनेन प्राप्तिहेतोर्वायोरपि ग्रहणम्। पदार्थ

प्रकरण प्रस्तुत करेंगे, जिनमें महर्षि दयानन्द ने श्लेष अलंकार का उल्लेख न करके केवल वाचकलुप्तोपमा लिखते हुए एकाधिक अर्थों को प्रकाशित किया है।

सूर्य और सभासेनाध्यक्ष

इस सम्बन्ध में सर्वप्रतम ऋग्भाष्य प्रथम मण्डल के सूक्त ३२ और ३३ उल्लेखनीय हैं, जिनका देवता इन्द्र है। इनमें से कुछ मन्त्रों में सूर्य के दृष्टान्त से तथा कुछ में परमेश्वर के दृष्टान्त से लुप्तोपमा का आश्रय लेकर सभाध्यक्ष राजा या शूरवीर सेनापति को उद्बोधन दिया गया है।

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्र वोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्र वक्षणा अभिनत् पर्वतानाम्॥

—ऋग् १.३२.१

सूर्यपक्ष में इसका सामान्य अर्थ यह है—"मैं सूर्य के आकर्षण, प्रकाशन आदि कर्मों का प्रकृष्ट रूप से वर्णन करता हूँ, जिन प्रख्यात कर्मों को वह सर्वपदार्थविच्छेदक किरणों वाला सूर्य करता है। वह मेघ का हनन करता है तथा मेघस्थ जलों को भूमि पर बरसाता है और मेघों या पर्वतों की नदियों को छिन्न-भिन्न करके बहाता है।" मन्त्र का राजापरक अर्थ भी ग्रहण करना है यह तथ्य पदार्थ में व्याख्यात "इन्द्रस्य" और "वज्री" पदों के प्रदत्त अर्थ से स्पष्ट है[१८]। तदनुसार तथा अन्वय में निर्दिष्ट कतिपय संकेतों के आधार पर राजपरक अर्थ यह होगा—"मैं सर्वपदार्थविदारक सूर्यलोक के समान शत्रुविदारक राजा के वीरतापूर्ण कार्यों का वर्णन करता हूँ, जिन श्रेष्ठ कर्मों को उस सर्वपदार्थविच्छेदककिरणवान् सूर्य के तुल्य शत्रूच्छेदी राजा को करना चाहिए। सूर्य जैसे मेघ का हनन करता है, वैसे ही राजा को शत्रु का वध करना चाहिए और सूर्य जैसे मेघों या पर्वतों की नदियों को तोड़कर बहाता है, वैसे ही राजा को किलों में से निकल कर युद्ध के लिए आयी हुई सेनाओं का भेदन करना चाहिए"[१९]।

मन्त्र में उपमावाची कोई शब्द नहीं है, अतः लुप्तोपमा का

---

१८. (इन्द्रस्य) सर्वपदार्थविदारकस्य सूर्यलोकस्येव राज्ञः। (वज्री) सर्वपदार्थ-विच्छेदककिरणवानिव शत्रूच्छेदी। पदार्थ

१९. भाष्य के अन्वय में एक अन्य प्रकार से भी अर्थयोजना की गयी है, जिसे भाष्य में देखना चाहिए।

आश्रय लेकर महर्षि इस मन्त्र का भावार्थ इस प्रकार लिखते हैं—**अत्रोपमालंकारः[२०]। ईश्वरेणोत्पादितो ऽयमग्निमयः सूर्यलोको यथा स्वकीयानि स्वाभाविकगुणयुक्तान्यनादीनि प्रकाशाकर्षण-दाहच्छेदनवर्षोत्पत्तिनिमित्तानि कर्माण्यहर्निशं करोति तथैव प्रजापालनतत्परै राजपुरुषैरपि भवितव्यम्।**

अर्थात् ईश्वर से उत्पन्न किया हुआ यह अग्निमय सूर्यलोक जैसे अपने स्वाभाविकगुणयुक्त अनादि प्रकाश, आकर्षण, दाह, छेदन और वर्षा की उत्पत्ति के निमित्तभूत कर्मों को दिन-रात करता है, वैसा ही प्रजा के पालन में तत्पर राजपुरुषों को भी होना चाहिये।

३२वें सूक्त के मन्त्र ५,८ और ११ में वाचकलुप्तोपमा तथा उपमा दो-दो अलंकार लिखे हैं। एक उपमा के लिए उपमावाची शब्द 'इव' और 'न' विद्यमान हैं। अतः सामान्य उपमालंकार है, दूसरा जो सूर्यादि के दृष्टान्त से राजादिपरक अर्थ सूचित किया है, उसके लिए उपमावाचक शब्द न होने से वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। मन्त्र ७,१०,१३ में केवल वाचकलुप्तोपमा अलंकार लिखा है, तथा उपर्युक्त शैली से ही द्विविध अर्थ प्रकाशित किये गये हैं।

ईश्वर, सूर्य और शूरवीर

३३वें सूक्त के निम्न मन्त्र में परमेश्वर, सूर्य और शूरवीर परक अर्थों का प्रकाशन वाचकलुप्तोपमा द्वारा किया गया है—

वधीर्हि दस्युं धनिनं घनेन एकश्चरन्नुपशाकेभिरिन्द्र।
धनोरधि विषुणक् ते व्यायन्नयज्वानः सनकाः प्रेतिमीयुः॥

—ऋग् १.३३.४

हे शूरवीर, जैसे ईश्वर वा सूर्यलोक सफलतादायक कर्मों से एकाकी विचरता हुआ या जानता हुआ दुष्टों का वध करता है, वैसे ही अपने वज्ररूपी शस्त्र से बल और अन्याय द्वारा दूसरे के धन हरने वाले दुष्ट का नाश कीजिए और अधर्म से धर्मात्माओं को दुःख देने वालों के विनाशक[२१] आप धनुष के ऊपर बाणों को चढ़ाकर दुष्टों का

२०. कई स्थलों पर महर्षि ने वाचकलुप्तोपमालंकार के स्थान पर सामान्यतः लुप्तोपमा अथवा उपमालंकार लिखा है। वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिए।
२१. विषुणक् वेविषत्यधर्मेण ये ते विषवः तान् नाशयति सः। अत्र अन्तर्गतो ण्यर्थः। पदार्थ

निवारण कर धार्मिक धनाढ्य की वृद्धि कीजिए। जैसे ईश्वर की निन्दा करने वाले लोग तथा सूर्यलोक के शत्रु मेघावयव ईश्वर-सामर्थ्य से और सूर्य के किरण-समूह से नाश को प्राप्त होते हैं, वैसे ही अयज्ञशील तथा अधर्म से पर-पदार्थों का सेवन करने वाले[22] लोग मृत्यु को प्राप्त हों, ऐसा यत्न कीजिए।

भावार्थ में लिखते हैं—**अथ वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथेश्वरोऽजातशत्रुः, सूर्यलोकोऽपि निवृत्तवृत्रो भवति, तथैव मनुष्यैर्दस्यून् हत्वा धनिनो ह्यवित्वाऽजातशत्रुभिर्भवितव्यम्।**

जैसे ईश्वर अजातशत्रु है और सूर्यलोकभी वृत्ररहित हो जाता है, वैसे ही मनुष्यों को चाहिये कि चोर, डाकू वा शत्रुओं को मार कर, धनिक धर्मात्माओं की रक्षा करके अजातशत्रु हों।

३३वें सूक्त के मन्त्र ८ से १५ तक सभी मन्त्रों में इसी प्रकार वाचकलुप्तोपमा द्वारा ईश्वर, सूर्य या विद्युत् के व्यवहारों को सभाध्यक्ष या सेनाध्यक्ष द्वारा अनुकरण किये जाने का अभिप्राय लिया गया है।

सूर्य-चन्द्र और सभासेनाधीश

अश्विनौ देवता के निम्न मन्त्र में सूर्य-चन्द्रमा के दृष्टान्त से सभाधीश और सेनाधीश के कर्त्तव्य पर प्रकाश डाला गया है—

या नः पीपरदश्विना ज्योतिष्मती तमस्तिरः।

तामस्मे रासाथामिषम्॥ —ऋग् १.४६.६

पदार्थ में अश्विनौ का अर्थ लिखा है—**सूर्याचन्द्रमसाविव सभासेनेशौ**। अन्वय और भावार्थ इस प्रकार है—

अन्वयः—हे अश्विना सभासेनेशौ, युवां यथा सूर्याचन्द्रमसोः ज्योतिष्मती तमः तिरस्कृत्य उषसं रात्रिं च कृत्वा नः सर्वान् पीपरत् तथा अस्मे अविद्यां निवार्य ताम् इषं रासाथाम्।

अर्थात् हे सभासेनाध्यक्षो, जैसे सूर्य और चन्द्रमा की ज्योतिष्मती प्रभा अंधेरी रात्रि का निवारण करके उषा को और शुक्लपक्ष की चाँदनी रात को उत्पन्न कर सबको सुखोंसे पूरित करती है, वैसे आप दोनों हमारी अविद्या को निवारण कर हमें उत्तम-गुणसंपादक अन्नादि औषधसमूह[23] दिया करें।

२२. सनकाः सनन्ति सेवन्ते परपदार्थान् ये ते। पदार्थ
२३. इषम् उत्तमगुणसम्पादकमन्नाद्यौषधसमूहम्। पदार्थ

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथा सूर्याचन्द्रमसावन्धकारं निवार्य प्राणिनः सुखयतः तथैव सभासेनेशावन्यायं निवर्त्य प्रजाः सुखयेताम्।

अर्थात् जैसे सूर्य और चन्द्रमा अन्धकार का निवारण करके प्राणियों को सुखी करते हैं, वैसे ही सभाध्यक्ष और सेनाध्यक्ष को चाहिए कि अन्याय का निवारण कर प्रजाओं को सुखी करें।

वायुगण और राजपुरुष

मरुद्-देवताक निम्न मन्त्र के भाष्य में वायुओं के दृष्टान्त से राजपुरुषों के कर्त्तव्यों का उपदेश किया गया है—

त्यं चिद् घा दीर्घं पृथुं मिहो नपातममृध्रम्।
प्र च्यावयन्ति यामभिः ॥ —ऋग् १.३७.११

अर्थ-योजना इस प्रकार है—"**हे राजपुरुषा यूयं मिहो वृष्ट्या सेचनकर्तारो मरुतो यामभिः घ एव नपातम् अमृध्रम् पृथुं दीर्घं त्यं चिदपि प्रच्यावयन्ति तथा शत्रून् प्रच्याव्य प्रजा आनन्दयत**"। अर्थात् हे राजपुरुषो, तुम लोग जैसे वर्षा-जल से सींचने वाले पवन अपने गमनागमनों से[२४] जल को न गिराने वाले[२५], गीला न करने वाले[२६] बड़े भी स्थूल मेघ को भूमि पर गिरा देते हैं, वैसे शत्रुओं को गिरा कर प्रजाओं को आनन्दित करो।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। राजपुरुषैर्यथा मरुत एव मेघनिमित्तं पुष्कलं जलमुपरि गमयित्वा परस्परं घर्षणेन विद्युतमुत्पाद्य तत्समूहमपतनशीलमतुन्दनीयं दीर्घावयवं मेघं भूमौ निपातयन्ति तथैव धर्मविरोधिनः सर्वे व्यवहाराः प्रच्यावनीयाः।

जैसे पवन ही मेघ के निमित्तभूत प्रचुर जल को ऊपर पहुँचाकर परस्पर घर्षण से विद्युत् उत्पन्न करके जलसमूहरूप, अपतनशील, अप्रक्षेप्य, दीर्घ अवयवों वाले मेघ को नीचे गिरा देते हैं, वैसे ही राजपुरुष सब धर्मविरोधी व्यवहारों को गिरा दें।

---

२४. यामभिः यान्त्यायान्ति यैस्तैः स्वकीयगमनागमनैः। पदार्थ

२५. नपातं यो न पातयति जलं तम्। पदार्थ

२६. अमृध्रम् न मर्धते नोनत्ति तम्। अत्र नञ्पूर्वान्मृधधातोर्बाहुल्य औणादिको रक् प्रत्ययः। पदार्थ

उषा और स्त्री

उषा देवता के मन्त्रों में प्रायः स्वामी-भाष्य में उषा के स्वरूप और कार्यों से स्त्रियों के स्वरूप और कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है। निम्न मन्त्रों का भाष्य द्रष्टव्य है—

उष आ भाहि भानुना चन्द्रेण दुहितर्दिवः।
आवहन्ती भूर्यस्मभ्यं सौभगं व्युच्छन्ती दिविष्टिषु॥

—ऋग् १.४८.९

"हे दिवो दुहितरिव वर्तमाने स्त्रि, यथोषा भानुना चन्द्रेणास्मभ्यं भूरि सौभगमावहन्ती दिविष्टिषु व्युच्छन्ती सती जगद् भाति तथा त्वं विद्याशमाभ्यामाभाहि।" अर्थात् हे प्रकाश की पुत्री तुल्य स्त्री, जैसे उषा सूर्य और चन्द्रमा से हम पुरुषार्थी लोगों के लिए बहुत से शोभन ऐश्वर्यसमूहों को सब ओर से प्राप्त कराती हुई, प्रकाशित कान्तिओं में निवास करती हुई संसार को प्रकाशित करती है, वैसे ही तू विद्या और शमादि से सुशोभित हो।

एषा जनं दर्शता बोधयन्ती सुगान् पथः कृण्वती यात्यग्रे।
बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वोषा ज्योतिर्यच्छत्यग्रे अह्नाम्॥

—ऋग् ५.८०.२

"हे सुशीलाः स्त्रियो, यथैषा बृहद्रथा बृहती विश्वमिन्वा जनै दर्शता बोधयन्ती सुगान् पथः कृण्वती उषा अग्रे याति अह्नामग्रे ज्योतिर्यच्छति तथा यूयं भवत।"

हे सुशील स्त्रियो, जैसे यह बड़े रथों (रमणसाधनों) वाली, विस्तीर्ण, विश्व को सोते से खड़ा कर देने वाली, मनुष्य को द्रष्टव्य भूमियों का बोध कराती हुई, सुगम मार्गों को प्रकाशित करती हुई उषा आगे-आगे चलती है और दिनों के उदय से पहले ज्योति प्रदान करती है, वैसी ही तुम होवो।

भावार्थ में इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है—**अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। याः स्त्रियः प्रभातवेलावत् स्वकीयान् पत्यादीन् सूर्योदयात् प्राक् चेतयन्त्यो गृहस्थान् बाह्यांश्च मार्गाश्छोदयन्त्य आगच्छतां पत्यादीनां कृताञ्जलयोऽग्रे तिष्ठन्ति, सर्वदा विज्ञानं च प्रयच्छन्ति ता एव देशकुलभूषणानि भवन्ति।**

अर्थात् यहाँ वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जो स्त्रियाँ उषा के समान अपने पति आदियों को सूर्योदय से पूर्व जगाती, गृह और बाहर के मार्गों को साफ करतीं, आते हुए पति आदियों के आगे हाथ जोड़कर खड़ी होतीं और सर्वदा विज्ञान को देती हैं, वे ही देश और कुल भी भूषण होती हैं।

आ द्यां तनोषि रश्मिभिरान्तरिक्षमुरु प्रियम्।
उषः शुक्रेण शोचिषा॥ —ऋग् ४.५३.७

"हे उषरिव वर्तमाने स्त्रि, यथोषा रश्मिभिर्द्याम् उरु आ न्तरिक्षं च प्रकाशयति, तथैव त्वं शुक्रेण शोचिषा प्रियं पतिम् आतनोषि, तस्मात् सत्कर्तव्यासि।" हे उषा के समान वर्तमान स्त्री, जैसे उषा किरणों से द्युलोक को और चारों ओर के अन्तरिक्ष को प्रकाशित कर देती है, वैसे ही तू शुद्ध प्रकाश से पति की कीर्ति बढ़ाती है, इस कारण तू सत्कार के योग्य है।

सूर्य और वैद्य

उद्यन्नद्य मित्रमह आरोहन्नुत्तरां दिवम्।
हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय॥ —ऋग् १.५०.११

यहाँ सूर्य का अर्थ एक पक्ष में सविता तथा दूसरे पक्ष में सब ओषधियों तथा रोगनिवारण की विद्या को जानने वाला वैद्य[२७] लेकर इस प्रकार अर्थ-योजना करते हैं—**"हे मित्रमहः सूर्य विद्वन्, त्वं तथा अद्य उद्यन् उत्तरां दिवम् आरोहन् सविता अन्धकारं निवार्य दिनं जनयति तथा मम हृद्रोगं हरिमाणं च नाशय।"** अर्थात् हे मित्रों से सत्कार के योग्य विद्वान् वैद्य, जैसे आज उदित होता हुआ तथा उत्कृष्ट दीप्ति को प्राप्त करता हुआ सूर्य अन्धकार का निवारण करके दिन को प्रकट करता है, वैसे ही आप मेरे हृदय के अज्ञानादि तथा ज्वरादि रोग[२८] को और सुखहरणशील[२९] कुपथ्य को नष्ट कीजिए।

भावार्थ—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा सूर्योदयेऽन्धकारचोरादयो निवर्तन्ते तथा सद्वैद्ये प्राप्ते कुपथ्यरोगा निवर्तन्ते।

---

२७. सूर्य सर्वौषधीरोगनिवारणविद्यावित्। पदार्थ
२८. हृद्रोगं यो हृदयस्याज्ञानादिज्वरादिरोगस्तम्। पदार्थ
२९. हरिमाणं सुखहरणशीलम्। पदार्थ

अर्थात् जैसे सूर्योदय होने पर अन्धकार, चोर आदि हट जाते हैं, वैसे ही श्रेष्ठ वैद्य के प्राप्त होने पर कुपथ्य और रोग हट जाते हैं।

निरिन्द्र भूम्या अधि वृत्रं जघन्थ निर्दिवः।
सृजा मरुत्वतीरव जीवधन्या इमा अपोऽर्चन्ननु स्वराज्यम्॥

—ऋग् १.८०.४

इस मन्त्र के स्वामी-भाष्य में इन्द्र को सूर्य और राजा के अर्थ में लेकर सूर्य के दृष्टान्त से राजा को सूर्यवत् अपना कर्त्तव्य पालन करते हुए स्वराज्य की अर्चना करने की प्रेरणा की गयी है—"**हे इन्द्र, त्वं यथा सूर्यो वृत्रं हत्वा भूम्याः अधि इमाः जीवधन्याः मरुत्वतीः अपः निर्जघन्थ दिवोऽवसृजति तथा दुष्टाचारान् हत्वा धर्माचारं प्रचार्य स्वराज्यमन्वर्चन् राज्यं शाधि विविधं वस्तु सृज**"।

अर्थात् हे परमैश्वर्यप्रद राजन्, जैसे सूर्य मेघ का ताड़न कर भूमि पर जीवों में धनादि की सिद्धि में हितकारक[३०], मनुष्यादि प्रजा के व्यवहारों को सिद्ध करने वाले इन जलों को नित्य पहुँचाता है और प्रकाशों को प्रकट करता है, वैसे ही आप दुष्टाचारियों को दण्ड दें, धर्माचार का प्रचार कर स्वराज्य की यथायोग्य अर्चना करते हुए राज्य किया करें और नाना प्रकार की वस्तुओं को निरन्तर सिद्ध करें।

गौ और विदुषी स्त्री

निम्न मन्त्र के भाष्य में गौ के चरित्र से विदुषी स्त्री के कर्त्तव्य पर प्रकाश डाला गया है—

सूयवसाद् भगवती हि भूया अथो वयं भगवन्तः स्याम।
अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती॥

—ऋग् १.१६४.४०

"**हे अघ्न्ये, त्वं सुयवसाद् भगवती भूयाः हि यतो वयं भगवन्तः स्याम। यथा गौस्तृणं जग्ध्वा शुद्धमुदकं पीत्वा दुग्धं दत्त्वा वत्सादीन् सुखयति तथा विश्वदानीम् आचरन्ती सती अथो सुखम् अद्धि विद्यारसं पिब**"॥

अर्थात् हे गौ के समान विदुषी स्त्री, तू सुन्दर सुखों को भोगने

---

३०. जीवधन्या- या जीवेषु धन्या धनाय हिताः। पदार्थ

वाली[३१], बहुत ऐश्वर्यवती हो, जिससे हम लोग भी ऐश्वर्यवान् हों। जैसे गौ घास खाकर शुद्ध जल पीकर, दूध देकर बछड़े आदियों को सुखी करती है, वैसे ही समग्र दान वाली क्रिया[३२] का आचरण करती हुई तदनन्तर सुख का भोग कर और विद्यारस का पान कर।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यावन्मातरो वेदविदो न स्युस्तावत् तदपत्यान्यपि विद्यावन्ति न भवन्ति। या विदुष्यो भूत्वा स्वयंवरं विवाहं कृत्वा सन्तानानुत्पाद्य सुशिक्ष्य विदुषः कुर्वन्ति ता गाव इव सर्वं जगदाह्लादयन्ति।

भावार्थ यह है कि इस मन्त्र में वाचकलुप्तोपमा अलंकार है। जब तक माताएँ वेद की विदुषी नहीं होतीं, तब तक उनकी सन्तानें भी विद्वान् और विदुषी नहीं होतीं। जो विदुषी होकर स्वयंवर विवाह करके सन्तान उत्पन्न करके उन्हें विद्वान् बनाती हैं वे गौओं के समान सब जगत् को आनन्दित करती हैं।

ईश्वर और विद्वान्

त्वष्टा रूपाणि हि प्रभुः पशून् विश्वान्त्समानजे।
तेषां नः स्फातिमा यज॥ —ऋग् १.१८८.९

इस मन्त्र में जगन्निर्माता त्वष्टा परमेश्वर के उपमान से विद्वान् को कर्त्तव्योपदेश किया गया है—"**हे विद्वन्, यथा त्वष्टा प्रभुरीश्वरो हि विश्वान् पशून् रूपाणि च समानजे तेषां स्फातिं च समानजे तथा नः स्फातिमायज।**" अर्थात् हे विद्वन्, जैसे सब जगत् का निर्माता समर्थ ईश्वर समस्त गौ आदि पशुओं को तथा विविध स्वरूप वाली स्थूल वस्तुओं को अच्छे प्रकार प्रकट करता है और उनकी वृद्धि करता है, वैसे ही आप हमारी वृद्धि कीजिए।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा जगदीश्वरेणातीन्द्रियादतिसूक्ष्मकारणाद् विचित्राणि सूर्यचन्द्रपृथिव्योषधिमनुष्यशरीरावयवादीनि निर्मितानि तथास्याः सृष्टेर्गुणकर्मस्वभाव-क्रमेणानेकानि व्यवहारसाधकानि वस्तूनि निर्मातव्यानि।

मन्त्र का भावार्थ यह है कि जैसे जगदीश्वर ने इन्द्रियातीत अतिसूक्ष्म

---

३१. सूयवसात् या शोभनानि यवसानि सुखानि अत्ति सा। पदार्थ
३२. विश्वदानीम् विश्वं समग्रं दानं यस्यास्ताम्। पदार्थ

कारण से चित्रविचित्र सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, ओषधियों तथा मनुष्य-शरीरों के अवयव आदि रचे हैं, वैसे ही विद्वान् मनुष्यों को इस सृष्टि के गुण-कर्म-स्वभाव के क्रम से अनेक व्यवहारोपयोगी वस्तुओं का निर्माण करना चाहिये।

अग्नि और विद्वान्

स केतुरध्वराणामग्निर्देवेभिरागमत्।
अञ्जानः सप्त होतृभिर्हविष्मते॥ —ऋग् ३.१०.४

इस मन्त्र के स्वामी-भाष्य में भौतिक अग्नि के दृष्टान्त से विद्वान् मनुष्य के आगमन की प्रार्थना की गयी है—**"हे विद्वन्, यथा स केतुरञ्जानः अग्निर्देवेभिः सप्त होतृभिः सह अध्वराणां हविष्मते आगमत् तथा त्वम् आगच्छ"** हे विद्वन्, जैसे वह ध्वज-रूप, दिव्य गुणों को प्रकट करता हुआ यज्ञाग्नि विद्वान् सात होताओं के साथ अहिंसामय यज्ञों में प्रशस्त हवि देने वाले यजमान के कल्याण के लिए आता है, वैसे ही ध्वज के तुल्य प्रज्ञापक, दिव्य गुणों को प्रकट करते हुए, अग्निवत् तेजस्वी आप दिव्य गुणों वाले, विषयों को ग्रहण करने वाले पाँच प्राण, मन और बुद्धि इन सात के साथ इहंसादि धर्मों के विज्ञापन के लिए आइये।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथा विज्ञाय संसेवितोऽग्निर्दिव्यान् गुणान् प्रयच्छति तथैव सेविता आप्ता विद्वांसोऽहिंसादिलक्षणं धर्मं विज्ञाप्य दिव्यानि सुखानि श्रोतृभ्यो ददति।

जैसे अग्नि का ज्ञान प्राप्त करके सम्यक् प्रकार से सेवन किया हुआ अग्नि दिव्य गुण प्रदान करता है, वैसे ही सेवन किये हुए आप्त विद्वान् जन अहिंसादि लक्षणों वाले धर्म का ज्ञान देकर श्रोताओं को दिव्य सुख देते हैं।

विद्युत्, सूर्य, वायु और राजा

इन्द्र-देवताक निम्न मन्त्र के भाष्य में विद्युत्, सूर्य और वायु के दृष्टान्त से राजा आदि मनुष्यों के लिए शत्रु-विदारण तथा विजय की प्रेरणा ग्रहण की गयी है—

वृत्रखादो बलंरुजः पुरां दर्मो अपामजः। स्थाता रथस्य हर्योरभिस्वर इन्द्रो दृळहा चिदारुजः॥ —ऋग् ३.४५.२

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथा विद्युत्सूर्य-वायवो मेघाऽवयवाञ्छिन्दन्ति तथैव धार्मिका राजादयश्शत्रून् विच्छिन्द्युः। अर्थात् जैसे बिजली, सूर्य और पवन मेघों के अवयवों को काटते हैं, वैसे ही धार्मिक राजा आदि लोग शत्रुओं को काटें।

सूर्य और विद्वान्

उर्ध्वं केतुं सविता देवो अश्रेज्ज्योतिर्विश्वस्मै भुवनाय कृण्वन्।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं वि सूर्यो रश्मिभिश्चेकितानः॥

—ऋग् ४.१४.२

"यो देवो विद्वान् यथा सविता रश्मिभिश्चेकितानः सूर्यो विश्वस्मै भुवनाय ज्योतिः कृण्वन्, द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं व्याप्तः तथा ऊर्ध्वं केतुमश्रेत् स एवालंसुखो जायते।" अर्थात् जैसे उत्पादक, किरणों से पदार्थों को प्रज्ञापित करता हुआ सूर्य सब संसार के लिए ज्योति देता हुआ द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष को व्याप्त होता है, वैसे ही जो विद्वान् उत्कृष्ट बुद्धि का आश्रय ले, वही पूर्ण सुखी होता है।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। ये विद्वांसोऽखिला विद्या अधीत्य ब्रह्मचर्ययोगाभ्यासाभ्यां प्रमां प्राप्य रश्मिभिस्सूर्य इव जनान्तःकरणान्युपदेशेनोज्ज्वलयन्ति त एव सर्वेषां पूज्या भवन्ति।

जो विद्वान् लोग सब विद्याओं को पढ़कर ब्रह्मचर्य और योगाभ्यासपूर्वक ज्ञान प्राप्त करके वैसे ही मनुष्यों के अन्तःकरणों को उपदेश से उज्ज्वल करते हैं जैसे सूर्य अपनी किरणों से पदार्थों को प्रकाशित करता है, वे ही सबके पूज्य होते हैं।

सूर्य और राजा

शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।
दिवोदासाय दाशुषे॥ —ऋग् ४.३०.२०

यहाँ महर्षि सूर्य के दृष्टान्त से राजा का विषय व्याख्यात करते हैं—**पुनः सूर्यदृष्टान्तेन राजविषयमाह।**

अन्वयः—"य इन्द्रो रविरिव दिवोदासाय दाशुषे अश्मन्मयीनां पुरां शतं व्यास्यत् स एव विजयी भवितुमर्हेत्।" अर्थात् जैसे सूर्य प्रकाशसेवी दाता के लिए व्याप्त मेघों की पुरियों को छिन्न-भिन्न

करता है, वैसे ही जो राजा पाषाणनिर्मित दृढ़ शत्रु-नगरियों को छिन्न-भिन्न कर सकता है, वही विजयी हो सकता है।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। हे राजन्, यदि त्वमतिप्रवृद्धानां मेघानां सूर्यवदनेकानि शत्रुपुराणि जेतुं शक्नुयास्तर्हि राज्यश्रियं कीर्तिं चाप्तुमर्हेः।

हे राजन्, जैसे सूर्य प्रवृद्ध मेघों के समूहों को तोड़ गिराता है, वैसे ही यदि आप शत्रुओं के बहुत से नगरों को जीत सकें तो राज्यश्री और कीर्ति को पा सकते हैं।

निम्न मन्त्र की भी 'राजा सूर्य के दृष्टान्त का अनुसरण करे' ऐसी व्याख्या की गयी है—

आ क्षोदो महि वृतं नदीनां परिष्ठितमसृज ऊर्मिमपाम्।
तासामनु प्रवत इन्द्र पन्थां प्रार्दयो नीचीरपसः समुद्रम्॥

—ऋग् ६.१७.१२

अन्वयः—"हे इन्द्र, यथा सूर्यो नदीनां महि वृतं परिष्ठितं क्षोदः अपाम् ऊर्मिं च असृजः तासां प्रवतः अनु पन्थाम् अपसः नीचीः समुद्रं प्रार्दयः तथा त्वं सेनां प्रजां च सुखं नीत्वा शत्रूनधोगतिं गमय।" अर्थात् हे सूर्यतुल्य राजन्, जैसे सूर्य नदियों के बड़े, स्वीकृत, सर्वतः स्थित जल को और जलों की तरंग को उत्पन्न करता है और उन जलों की निम्नाभिमुखी धाराओं को मार्ग पर बहाता है तथा जल की निम्नगामिनी नदियों को समुद्र या आकाश में पहुँचाता है, वैसे ही आप सेना और प्रजा को सुख प्राप्त कराके शत्रुओं को अधोगति प्राप्त कराइये।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। ये राजादयो जनाः सूर्यवद् वर्तन्त ते प्रजापालनं शत्रुनिवारणं च कर्तुं शक्नुवन्ति। अर्थात् जो राजा आदि जन सूर्य के सदृश व्यवहार करते हैं वे ही प्रजा का पालन और शत्रुओं का निवारण करने में समर्थ होते हैं।

बृहस्पति देवता के निम्न मन्त्र में बृहस्पति का अर्थ सूर्य और राजा लेते हुए सूर्य को दृष्टान्त बनाकर राजा को तत्सदृश कर्म करने की प्रेरणा दी गयी है—

बृहस्पतिः समजयद् वसूनि महो व्रजान् गोमतो देव एषः।
अपः सिषासन्त्स्वरप्रतीतो बृहस्पतिर्हन्त्यमित्रमर्कैः॥

—ऋग् ६.७३.३

अन्वयः—"हे मनुष्याः, यथा महो देव एषः बृहस्पतिः गोमतः व्रजान् हत्वा अपो वर्षयित्वा जगत् पालयति तथा शत्रुभिः अप्रतीतो बृहस्पतिः राजा अर्कैः प्रजाः सिषासन् अमित्रं हन्ति शत्रून् समजयद् वसूनि प्राप्नोति स्वः जनयति।" हे मनुष्यो, जैसे महान्, देदीप्यमान यह सूर्य बहुत-सी किरणों से युक्त मेघों को छिन्न-भिन्न कर जलों को बरसा कर जगत् की पालना करता है, वैसे ही शत्रुओं से प्रतीत न किया जाता हुआ महती वेदवाणी का तथा महान् राज्य का रक्षक राजा वज्रादि आयुधों से प्रजा के कार्य पूर्ण करना चाहता हुआ अमित्र का वध करता है तथा शत्रुओं को सम्यक् प्रकार जीतता है, धनों को प्राप्त करता है और अक्षय सुख को उत्पन्न करता है।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यो राजा सूर्यवद् विद्याविनयसुसहायैः प्रकाशमानः प्रजाः पालयन् सर्वेभ्योऽभयं ददत् दुष्टकर्मकारिणो निवारयति स एवात्र राजसु महान् राजा जायत इति।

अग्नि और विद्यार्थी

निम्न मन्त्र में अग्नि का अर्थ विद्युदग्नि तथा अग्नि के समान तीव्रप्रज्ञ विद्यार्थी लेते हुए विद्युत् के आदर्श से विद्यार्थी के कर्त्तव्य पर प्रकाश डाला गया है—

अग्ने वीहि हविषा यक्षि देवान्त्स्वध्वरा कृणुहि जातवेदः॥

—ऋग् ७.१७.३

पदार्थः—(अग्ने) वह्निरिव तीव्रप्रज्ञ (वीहि) व्याप्नुहि, (हविषा) आदत्तेन पुरुषार्थेन (यक्षि) यज संगच्छस्व, (देवान्) विदुषोऽध्यापकान् (स्वध्वरा) शोभनोऽध्वरोऽहिंसामयो व्यवहारो येषां तान् (कृणुहि) (जातवेदः) जातविद्य।

अन्वयः—"हे जातवेदः अग्ने विद्यार्थिन्, त्वं विद्युदिव हविषा विद्या वीहि देवान् यक्षि स्वध्वरा कृणुहि।" अर्थात् हे जातविद्य, अग्नि के तुल्य तीव्र बुद्धि वाले विद्यार्थिन्, तू विद्युत् के समान[३३] ग्रहण किये हुए पुरुषार्थ से विद्याओं को प्राप्त हो, विद्वान् अध्यापकों का संग

---

३३. जैसे विद्युत् अपने पुरुषार्थ से मार्ग को व्याप्त करती है, दिव्य पदार्थों से संगत होती है और हिंसारहित शिल्पकार्यों को करती है, वैसे ही।

कर, और सुन्दर अहिंसा रूप व्यवहार वाले कामों को कर।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। विद्यार्थिनो यथा विद्युदध्वानं सद्यो व्याप्नोति तथा पुरुषार्थेन शीघ्रं विद्याः प्राप्नुवन्तु, अध्यापकाश्च तांस्तूर्णं विदुषः कुर्वन्तु। अर्थात् विद्युत् जैसे शीघ्र मार्ग को व्याप्त करती है, वैसे ही विद्यार्थीगण शीघ्र विद्याओं को प्राप्त करें और अध्यापकगण शीघ्र उन्हें विद्वान् कर दें।

दूर्वा और पत्नी

काण्डात्काण्डात् प्ररोहन्ती परुषः परुषस्परि।
एवा नो दूर्वे प्रतनु सहस्रेण शतेन च॥ —यजु० १३.२०

इस मन्त्र के स्वामी-भाष्य में दूर्वा (दूब घास) के दृष्टान्त से पत्नी का कर्त्तव्य बताया गया है—"**हे स्त्रि, त्वं यथा सहस्रेण शतेन च काण्डात् काण्डात् परुषः परुषः परि प्ररोहन्ती दूर्वौषधी वर्तते तथैव नोऽस्मान् पुत्रपौत्रैश्वर्यादिभिः प्रतनु।**" अर्थात् हे स्त्री, जैसे सहस्रों की संख्या में और सैकड़ों प्रकार से काण्ड-काण्ड से और पर्व-पर्व से बहुत अधिक बढ़ती हुई दूब घास होती है, वैसे ही तू हमें पुत्र, पौत्र, ऐश्वर्यादि से बढ़ा।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथा दूर्वौषधी रोगप्रणाशिका सुखवर्द्धिका सुविस्तीर्णा चिरं स्थात्री सती वर्धते तथा सती विदुषी स्त्री कुलं शतधा सहस्रधा वर्धयेत्, तथा पुरुषोऽपि प्रयतेत। अर्थात् जैसे दूर्वा ओषधि (दूब घास) रोगों का नाश करने वाली, सुखों को बढ़ाने वाली, बहुत फैली हुई चिरस्थायिनी होती हुई बढ़ती है, वैसी ही होती हुई विदुषी स्त्री कुल को शत और सहस्र प्रकार से बढ़ाये, वैसा ही पुरुष भी प्रयत्न करे।

इष्टका और पत्नी

निम्न मन्त्र के भाष्य में इष्टका के उपमान से पत्नी के कर्त्तव्य पर प्रकाश डाला गया है।

या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि।
तस्यास्ते देवीष्टके विधेम हविषा वयम्॥ —यजु० १३.२१

अन्वयः—"हे इष्टके इष्टकावद् दृढाङ्गि देवि स्त्रि, यथेष्टका शतेन प्रतनोति सहस्रेण विरोहति, तथा या त्वमस्मान् शतेन प्रतनोषि

सहस्रेण च विरोहसि तस्यास्ते तव हविषा वयं विधेम त्वां परिचरेम।'' हे ईंट के समान दृढ़ अवयवों से युक्त और शुभगुणों से सुशोभित देवी स्त्री, जैसे ईंट सैकड़ों की संख्या से मकान आदि का विस्तार करती है और सहस्रों की संख्या से उसे बढ़ा देती है, वैसे ही जो तू हमें सैकड़ों पुत्र-पौत्रादि सम्पत्तियों से विस्तारयुक्त करती है और सहस्रों पदार्थों से विविध प्रकार बढ़ाती है, उस तेरी हम भेंट करने योग्य पदार्थों से सेवा करें।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालंकारः। यथा शतशः सहस्राणीष्टका गृहाकारा भूत्वा सर्वान् सुखयन्ति, तथैव याः साध्व्यः स्त्रियः पुत्रपौत्रभृत्यादिभिः सर्वानानन्दयेयुस्ताः पुरुषाः सततं सत्कुर्युः। नहि सत्पुरुषस्त्रीसमागमेन विना शुभगुणाढ्या-न्यपत्यानि जायेरन्। एवंभूतैः सन्तानैर्विना मातापितृणां कुतः सुखं जायेत।

जैसे सैकड़ों प्रकार से सहस्रों ईंटें घर का आकार धारण कर सब को सुख देती हैं, वैसे ही जो साध्वी स्त्रियाँ पुत्र, पौत्र, भृत्य आदियों से सब को आनन्दित करें, उनका पुरुषों को निरन्तर सत्कार करना चाहिये। सत्पुरुष और साध्वी स्त्री के समागम के बिना सन्तान शुभ गुणों से युक्त नहीं हो सकते। ऐसे सन्तानों के शुभ गुणयुक्त हुए बिना माता-पिता को सुख कहाँ से होगा।

अपामार्ग और पापशोधक जन

अपाघमप किल्विषमप कृत्यामपो रपः।
अपामार्ग त्वमस्मदप दुःष्वप्न्यꣳ सुव॥ —यजु० ३५.११

अपामार्ग एक ओषधि है, जिसके गुणों का वर्णन अथर्ववेद में विस्तार से किया गया है[३४]। प्रस्तुत मन्त्र में उसके उपयोग द्वारा शारीरिक मलों, रोगों एवं दुःस्वप्न की हानियों से बचने का निर्देश है। स्वामी दयानन्द ने वाचकलुप्तोपमा द्वारा अपामार्ग से अपामार्ग के समान पापशोधक मनुष्य अर्थ लेकर उसके कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला है।

अन्वयः—हे अपामार्ग, त्वम् अस्मद् अघम् अपसुव, किल्विषम्

३४. अथर्व० ४.१७-१९, ७.६५

अप सुव, कृत्याम् अपसुव, रपः अपो सुव, दुःष्वप्न्यम् अपसुव।

पदार्थ—हे (अपामार्ग) अपामार्ग ओषधि जैसे रोगों को दूर करती है, वैसे पापों को दूर करने वाले सज्जन पुरुष, (त्वम्) आप (अस्मत्) हमारे निकट से (अघम्) पाप को (अप) दूर कीजिये, (किल्विषम्) मन की मलिनता को (अप) दूर कीजिये, (कृत्याम्) दुष्क्रिया को (अप) दूर कीजिये, (रपः) बाह्य इन्द्रियों के चंचलता रूप अपराध को (अपो) दूर कीजिये, और (दुःष्वप्न्यम्) बुरे प्रकार की निद्रा में होने वाले बुरे विचार को (अप) दूर कीजिये[३५]।

भावार्थ—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। यथाऽपामार्गाद्योषधयो रोगान् निवार्य प्राणिनः सुखयन्ति तथा स्वयं सर्वेभ्यो दोषेभ्यः पृथग् भूत्वाऽन्यानशुभाचरणात् पृथक् कृत्वा ये शुद्धा भवन्त्यन्यान् भावयन्ति च त एव मनुष्यादीनां पवित्रकराः सन्ति।

जैसे अपामार्ग आदि ओषधियाँ रोगों को निवारण करके प्राणियों को सुख देती हैं, वैसे ही स्वयं सब दोषों से पृथक् होकर, अन्यों को अशुभ आचरण से पृथक् करके जो लोग शुद्ध हो जाते हैं तथा अन्यों को शुद्ध करते हैं, वे ही मनुष्य आदियों के पवित्रकर्ता होते हैं।

पृथिवी और गृहिणी

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी।

यच्छा नः शर्म सप्रथाः। अप नः शोशुचदघम्। —यजु० ३५.२१

इस मन्त्र की व्याख्या में महर्षि लिखते हैं कि गृहिणी को पृथिवी के समान होना चाहिए—"**गृहिणी कीदृशी स्यादित्याह। हे पृथिवि भूमिरिव वर्तमाने स्त्रि, त्वं यथाऽनुक्षरा निवेशनी भूमिः स्योना भवति तथा नो भव, सप्रथाः सती नः शर्म यच्छ, यथा न्यायेशो नः अघम् अपशोशुचत् तथा अपराधं दूरं गमय**"। हे भूमि के तुल्य वर्तमान क्षमाशील स्त्री, जैसे भूमि कण्टक आदि से रहित, बैठने का आधार और सुख देने वाली होती है, वैसे ही तू हमारे लिये हो। तू विस्तीर्ण प्रशंसा के साथ वर्तमान हुई हमारे लिये

---

३५. अघं पापम् किल्विषम् स्वान्तःस्थं मलम् कृत्यां दुष्क्रियाम्, रपः बाह्येन्द्रियचाञ्चल्यजन्यमपराधम्, अपामार्ग रोगनिवारकोऽपामार्ग ओषधिरिव पापदूरीकर्तः दुःष्वप्न्यम् दुष्टश्चासौ स्वप्नो निद्रा च तस्मिन् भवम्। सं० पदार्थ

सुख दे। जैसे न्यायाधीश हमारे पाप को शीघ्र दूर करता व हमें शुद्ध करता है, वैसे तू अपराध को दूर कर।

भावार्थः—अत्र वाचकलुप्तोपमालङ्कारः। या स्त्री पृथिवीवत् क्षमाशीला क्रूरतादिदोषरहिता बहुप्रशंसिता अन्येषामपि दोष-निवारिका भवति सैव गृहकृत्ये योग्या भवति।

यहाँ यह सूचित किया है कि जैसे भूमि क्षमाशील है, वैसे ही स्त्री भी क्षमाशील हो; जैसे निवासभूमि अकंटक होती है, वैसे स्त्री क्रूरता आदि दोषों से रहित हो; जैसे भूमि बैठने का आधार होती है, वैसे स्त्री आश्रय देने वाली हो; जैसे भूमि विस्तीर्ण होती है, वैसे स्त्री प्रशंसा और कीर्ति में विस्तीर्ण हो और जैसे भूमि दोषनिवारिका होती है, वैसे स्त्री भी अपराध और दोषों को निवारण करने वाली हो। इस प्रकार वाचकलुप्तोपमा के आधार से उनमें परस्पर उपमानोपमेयभाव सूचित होते हैं।

इन कतिपय उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द ने जहाँ श्लेष द्वारा अनेक वेदमन्त्रों के एकाधिक अर्थ वर्णित किये हैं, वहाँ वाचकलुप्तोपमा या लुप्तोपमा अलंकार के आश्रय से भी बहुत स्थानों पर एकाधिक अर्थों की सूचना दी है[३६]। स्वामी-भाष्य के वाचकलुप्तोपमा के स्थलों की परीक्षा करते हुए इस ओर ध्यान देना आवश्यक है कि कई मन्त्रों के भाष्य में प्रदर्शित पदार्थ से द्विविध अर्थ प्रकट नहीं होते, किन्तु भावार्थ से स्पष्ट हो जाते हैं। फिर भी यह समझना भ्रान्ति होगी कि जहाँ भी स्वामी जी ने वाचकलुप्तोपमालंकार लिखा है, वहाँ दो अर्थ तथा उनमें उपमानोपमेय भाव ही वर्णित हैं। वस्तुस्थिति यह है कि भाष्य-वर्णित वाचकलुप्तोपमा के आधे से अधिक स्थल ऐसे हैं, जहाँ दो अर्थ विवक्षित नहीं हैं, अपितु अन्य

३६. स्वामी-भाष्य में वाचकलुप्तोपमालंकार के द्विविध अर्थ वाले अन्य कतिपय मन्त्र निम्न हैं, यद्यपि इनसे अतिरिक्त भी ऐसे अनेक मन्त्र है—ऋग् १.५५.३,८-१०, १.३६.३,६,१७, १.३७.१२, १.३९.३, १.१८५.५, १.१९१.८, २.४२.२, ३.५.१, ३.८.३, ३.९.७, ३.१०.७, ३.११.६, ३.१२.४,५,७,८, ३.२७.४, ३.३४.१, ४.१४.३, ४.२१.३, ६.११.२, ६.१६.२१, ६.२८.७, ६.६९.६, ६.७४.१, ७.१.८, ७.२०.२, ७.२७.३; यजु. १२.५०, १३.३२, १५.३७, २०.३६, ३०.४, ३३.९, ३३.३१, ३३.३५, ३४.३३, ३५.१४।

दृष्टि से ही यह अलंकार लिखा है।

उपसंहार

इस सम्पूर्ण अध्याय में वेदमन्त्रों के स्वामी दयानन्द द्वारा किये गये एकाधिक अर्थों को प्रदर्शित किया गया है। सायणप्रभृति वेदभाष्यकारों ने जो वेदमन्त्रों के एकाधिक अर्थ किये हैं, वे द्वितीय अध्याय में वर्णित किये जा चुके हैं। सायण आदि ने जहाँ एकाधिक अर्थ किये हैं, वहाँ कहीं-कहीं नैरुक्त, अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ आदि प्रक्रियाओं का नामोल्लेख भी कर दिया है कि अमुक अर्थ इस प्रक्रिया का है, यद्यपि अधिकतर 'यद्वा' लिखकर ही दूसरा अर्थ किया है, और प्रक्रिया का नाम नहीं लिखा है। तथापि भाष्यकार को प्रचलित प्रक्रियाओं में से उस अर्थ में कौन-सी प्रक्रिया अभिमत है, यह पाठक स्वतः समझ लेता है। परन्तु दयानन्द-भाष्य के विषय में यह बात लागू नहीं होती, क्योंकि दयानन्द सरस्वती के संमुख तो वेद के दो ही प्रकार के अर्थ हैं, व्यावहारिक या पारमार्थिक। हाँ, पाठक को स्वेच्छा से यह विश्लेषण करने का अधिकार है कि पूर्व-प्रचलित वेदार्थ-प्रक्रियाओं में से महर्षि दयानन्द-कृत अमुक अर्थ किस प्रक्रिया का है। तदनुसार ही विवेचन करते हुए हमने इस अध्याय में यह निरूपित करने का प्रयास किया है कि महर्षि ने वेदमन्त्रों के जो एकाधिक अर्थ किये हैं, उनमें कहीं अध्यात्म और और अधिदैवत, कहीं अध्यात्म और अधिभूत, कहीं अधिदैवत और अधिभूत, कहीं अध्यात्म, अधिदैवत और अधिभूत, कहीं अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ तथा कहीं अध्यात्म और अधियज्ञ व्याख्याएँ की गयी हैं।

जहाँ स्वामी दयानन्द ने श्लेष अलंकार लिखकर अथवा किसी अलंकार का नामोल्लेख किये बिना किसी मन्त्र के स्पष्टतः दो या अधिक अर्थ किये हैं, वहाँ तो अनेकार्थक योजना स्पष्ट ही है। किन्तु अनेक स्थलों पर वाचकलुप्तोपमा अलंकार मानकर भी द्विविध अर्थों का निर्देश किया है, इस तथ्य को भी इस अध्याय में सोदाहरण विशद करने का यत्न किया गया है। उन उदाहरणों पर दृष्टिपात करने से पाठक को अनुभव होगा कि वेदार्थ में स्वामी दयानन्द की प्रतिभा कितनी उज्ज्वल, प्रखर, विशद और क्रान्तदर्शिनी थी। जो व्यक्ति अग्नि में विद्वान् पुरुष की; सूर्य में राजा और सेनापति की;

उषा, पृथिवी, गौ, दूर्वा और इष्टका में विदुषी नारी की प्रतिमा को देख सकता है, और साथ ही अग्नि, सूर्य, वायु, मातरिश्वा आदि में परमेश्वर की भी प्रतिमूर्ति को पा सकता है, वह कितना व्यवहारवित्, कितना ब्रह्मवित् और कैसा अद्भुत वेदवित् है, यह देक आश्चर्यचकित हो जाना पड़ता है।

प्राचीन आचार्यों ने वेदार्थ की जो प्रक्रियाएँ उद्घोषित की थीं, उन्हें उनका नामोल्लेख किये बिना भी, महर्षि दयानन्द ने जितना अधिक वेद-व्याख्यान में क्रियात्मक रूप से अपनाया है, उतना उनसे पूर्व के अन्य किसी वेद-भाष्यकार ने अपनाने की आवश्यकता नहीं समझी। दयानन्द की वेदार्थ-सम्बन्धी व्यापक दृष्टि और दूरदर्शिता ही रूढ़िवादी कर्मकाण्ड मात्र की थाती बने हुए वेदों को सर्वसाधारण की अमूल्य धरोहर बनाने में समर्थ हुई है। दयानन्द की वेदार्थ-प्रक्रिया ने यह सिद्ध कर दिया है कि वेद जितने किसी समाधिस्थ ब्रह्मयोगी या विद्याप्रेमी ब्राह्मण के हैं, उतने ही राष्ट्र का शासन करने वाले राज्याधिकारी के या रणक्षेत्र में शस्त्र उठाने वाले सिपाही के हैं, खेतों में हल चलाने वाले किसान के या व्यापारी के हैं, सेवा में आनन्द लेने वाले शूद्र के हैं, परिव्राजक संन्यासी के हैं, निस्पृह वानप्रस्थ के हैं, ऐश्वर्यवान् गृहस्थ के हैं, और गुरुचरणसेवी ब्रह्मचारी के हैं। वेदों में सबके लिए कर्तव्य-निर्देश और प्रेरणाएँ हैं। वेदों में अध्यात्म भी है, अधिभूत भी है; परलोक भीं है, इहलोक भी है; श्रेय भी है, प्रेय भी है। दयानन्द की वेदार्थ-दृष्टि ही प्राचीन वेदार्थ-प्रक्रियाओं को बल देकर वेदों को उनके उचित गौरवशाली पद पर प्रतिष्ठित करने वाली है। आज तक पर्याप्त अंशों में वैदिक अनुसन्धान का मार्गदर्शन दयानन्द ने किया है। देश-विदेश में होने वाले भावी वैदिक अनुसन्धान का मार्गदर्शन भी महर्षि दयानन्द से प्राप्त किया जाये, तभी वेद का वास्तविक स्वरूप हमारे सम्मुख आ सकेगा।

□□

परिशिष्ट

१. स्वामि-भाष्य में श्लेषालंकार के स्थल

ऋग्वेद-भाष्य

	पता	देवता	विभिन्न अर्थ
	१.१.१	अग्निः	परमेश्वर, भौतिक अग्नि
*	२	,,	,, ,,
	३	,,	,, ,,
	४	,,	,, ,,
	५	,,	,, ,,
*	१.२.१	वायुः	ईश्वर, भौतिक वायु
	२	,,	,, ,,
	३	,,	,, ,,
	१.३.४	इन्द्रः	ईश्वर, सूर्य
	१.५.१	,,	परमेश्वर, वायु
	२	,,	,, ,,
	३	,,	,, ,,
	४	,,	परमेश्वर, सूर्यलोक
	५	,,	परमेश्वर, वायु, सूर्य
*	१.६.१	,,	परमेश्वर, आदित्य, अग्नि, प्राण
	१.७.५	,,	परमेश्वर, सूर्य, वायु
	८	,,	ईश्वर, सूर्य
	१.९.१	,,	,, ,,
	१.१०.७	,,	,, ,,
	१.११.१	,,	ईश्वर, विजेता वीर

	२	,,	जगदीश्वर, सेनाध्यक्ष
	३	,,	परमेश्वर, सभासेनाध्यक्ष
	४	,,	सेनापति, सूर्यलोक
	१.१२.३	अग्निः	ईश्वर, भौतिक अग्नि
	७	,,	,, ,,
	८	,,	,, ,,
	९	,,	,, ,,
	१०	,,	,, ,,
	११	,,	,, ,,
	१२	,,	,, ,,
	१.१३.१	इध्मः	,, ,,
	१०	त्वष्टा	,, ,,
	१.१४.१	अग्निः	,, ,,
	२	,,	,, ,,
	७	,,	,, ,,
	९	विश्वे देवाः	परमेश्वर, सूर्यलोक
	१.१५.७	द्रविणोदाः	परमेश्वर, भौतिक अग्नि
*	८	,,	,, ,,
*	१.१९.२	अग्निः	,, ,,
*	३	,,	,, ,,
	१.२२.७	सविता	परमेश्वर, सूर्य
	८	,,	,, ,,
	१.२४.८	वरुणः	जगदीश्वर, वायु
	९	,,	राजा, प्रजापुरुष
	१०	,,	जगदीश्वर, सूर्य
*	११	,,	जगदीश्वर, वायु, सूर्य

१२	,,	परमेश्वर, सूर्य
१३	,,	परमेश्वर, प्राण
१.२५.१२	,,	परमेश्वर, प्राण, सूर्य
१३	,,	वायु, सूर्य, विद्वान्
१४	,,	परमेश्वर, विद्वान्
* १५	,,	परमेश्वर, वायु, विद्वान्
* १९	,,	परमेश्वर, विद्वान्
१.२६.१	अग्निः	होता, यजमान
१.२७.३	,,	जगदीश्वर, विद्वान्
१.३०.७	इन्द्रः	जगदीश्वर, सेनापति
११	,,	सखीनां=मित्र, सखी
१.३१.२	अग्निः	परमेश्वर, सभासेनाध्यक्ष
१.३३.१	इन्द्रः	परमेश्वर, न्यायाधीश
१.३५.२	सविता	परमेश्वर, सूर्यलोक
४	,,	सूर्य, वायु, राजा
१.४२.७	पूषा	परमेश्वर, सभाध्यक्ष
१०	,,	सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष
* १.४३.१	रुद्रः	परमेश्वर, जीव, वायु
७	सोमः	परमेश्वर, सभाध्यक्ष
१.५६.१	इन्द्रः	सभाद्यक्ष, सूर्य, अध्यापक, उपदेशक
१.५७.२	,,	सभाध्यक्ष, विद्युत्
१.५९.५	अग्निर्वैश्वानरः	परमेश्वर, सभाध्यक्ष
१.६१.९	इन्द्रः	सभाध्यक्ष, सूर्य
१.६२.६	,,	सभाध्यक्ष, स्तनयित्नु
१.६३.६	,,	जगदीश्वर, सभाध्यक्ष
१.६७.४	अग्निः	ईश्वर, विद्वान्, उदक

५	,,	ईश्वर, विद्युत्
१.६८.१	,,	,, ,,
३	,,	,, ,,
५	,,	जगदीश्वर, आप्त पुरुष
१.६९.१	,,	विद्यार्थित्व, विद्युद्विद्या
५	,,	परमेश्वर, विद्वान्
१.७०.१	,,	ईश्वर, जीवात्मा
२	,,	,, ,,
४	,,	,, ,,
६	,,	परमेश्वर, सभाध्यक्ष
१.७१.१	,,	,, ,,
१.७२.७	,,	ईश्वर, विद्वान्
१.८०.६	इन्द्रः	विद्युत्, सूर्य, सभाध्यक्षादि
१.८९.५	पूषा	ईश्वर, मनुष्य
१.९१.१	सोमः	परमेश्वर, विद्वान्
२	,,	,, ,,
३	,,	,, ,,
५	,,	परमेश्वर, शालाध्यक्ष, ओषधिराज
६	,,	ईश्वर, विद्वान्, ओषधि
७	,,	,, ,,
८	,,	,, ,,
९	,,	,, ,,
१०	,,	,, ,,
११	,,	,, ,,
१२	,,	,, ,,
१३	,,	ईश्वर, ओषधि

१४	,,	ईश्वर, विद्वान्, ओषधि
१८	,,	विद्वान्, ओषधिगण
१९	,,	परमेश्वर, विद्वान्
२०	,,	विद्वान्, ओषधिगण
१.९४.४	अग्निः	विद्वान्, यज्ञाग्नि
५	,,	परमेश्वर, सभाध्यक्ष
६	,,	,, ,,
७	,,	सभाध्यक्ष, भौतिक अग्नि
८	,,	शिल्पी, भौतिक अग्नि
१०	,,	,, ,,
१३	,,	ईश्वर, सभाध्यक्ष
१५	,,	जगदीश्वर, विद्वान्
१.९५.११	,,	विद्वान्, काल, विद्युदग्नि
* १.९८.१	वैश्वानरः	ईश्वर सूर्य, विद्युत्, जाठराग्नि
२	,,	ईश्वर, भौतिक अग्नि
* ३	,,	ईश्वर, विद्वान्
१.१०२.२	इन्द्रः	ईश्वर, अध्यापक
१.१०५.७	विश्वे देवाः	ईश्वर, विद्वान्
१.१०८.९	इन्द्राग्नी	न्यायसेनाध्यक्षौ, वायुविद्युतौ
१.१२१.१३	इन्द्रः	सभाध्यक्ष, सूर्यलोक
२.१२.९	,,	ईश्वर, विद्युत्
* ६.४५.९	,,	राजा, आचार्य, अध्यापक

यजुर्वेद-भाष्य

१.८	अग्निः	परमेश्वर, भौतिक अग्नि
११	,,	यज्ञ, परमेश्वर, भौतिक अग्नि

१६	वायुः, सविता	अग्नि, सूर्य, वायु, परमेश्वर, विद्वान्
१७	अग्निः	परमेश्वर, भौतिक अग्नि
१८	,,	परमेश्वर, विद्वान्, वायु
२२	यज्ञः	अग्नि=यज्ञाग्नि, शरीराग्नि
		सविता=परमेश्वर, सूर्य
३०	,,	ईश्वर, यज्ञ
३१	,,	,, ,,
२.४	अग्निः	जगदीश्वर, भौतिक अग्नि
११	द्यावापृथिवी	ईश्वर, सूर्यलोक
१४	अग्निः	जगदीश्वर, भौतिक अग्नि
१७	,,	,, ,,
२०	अग्निसरस्वत्यौ	,, ,,
२७	अग्निः	परमेश्वर, भौतिक अग्नि, विद्वान्
३.१२	,,	ईश्वर, भौतिक अग्नि
१३	इन्द्राग्नी	ईश्वर, भौतिक अग्नि, वायु
१५	अग्निः	ईश्वर, भौतिक अग्नि
१७	,,	,, ,,
१८	,,	,, ,,
१९	,,	,, ,,
२३	,,	,, ,,
३८	,,	,, ,,
३९	,,	,, ,,
५२	इन्द्रः	ईश्वर, सूर्यलोक
५६	सोमः	ईश्वर, सोम ओषधि
५७	रुद्रः	विद्वान्, प्राण
४.१५	अग्निः	जागरण, जन्मान्तर

१६	,,	ईश्वर, भौतिक अग्नि
१८	वाग्विद्युतौ	वाणी, विद्युत्
१९	,,	,, ,,
२०	,,	परमेश्वर, विद्वान्
२१	,,	,, ,,
२५	सविता	परमेश्वर, सभाध्यक्ष
३०	वरुणः	परमेश्वर, सूर्य, वायु
३१	,,	,, ,,
३२	अग्निः	परमेश्वर, प्राण
३३	सूर्यविद्वांसौ	सूर्यविद्वांसौ, अग्निजले
३५	ईश्वरसवितारौ	ईश्वर, सूर्य
३६	सूर्यः	,, ,,
३७	यज्ञः	परमेश्वर, विद्वान्
५.५	विद्युत्	परमेश्वर, विद्युत्
६	अग्निः	,, ,,
७	सोमः	ईश्वर, विद्वान्, विद्युत्
१६	विष्णुः	ईश्वर, सूर्य
२४	सूर्यविद्वांसौ	सूर्य, विद्वान् सभाध्यक्ष
२९	ईश्वरसभाध्यक्षौ	ईश्वर, सभाध्यक्ष
३०	,,	,, ,,
३१	अग्निः	ईश्वर, विद्वान्
८.४५	ईश्वरसभेशौ	ईश्वर, सभापति राजा
९.११	इन्द्राबृहस्पती	राजा, अध्यापक
१२.३	सविता	जगदीश्वर, सूर्य
१४.९	प्रजापत्यादयः	वयः और छन्दः के विभिन्न अर्थ
१०	विद्वांसः	,, ,, ,,

११	इन्द्राग्नी	विद्युत्सूर्यौ, स्त्रीपुरुषौ
१८.४६	अग्निः	परमेश्वर, विद्वान्
४७	बृहस्पतिः	गौ=किरण, इन्द्रिय, गाय
४८	,,	जगदीश्वर, विद्वान्
३४.१३	अग्निः	राजा, ईश्वर
३८.२१	यज्ञः	जगदीश्वर, विद्वान्

पुष्पांकित स्थलों में स्वामि-भाष्य में श्लेषालंकार लिखा नहीं है, किन्तु अर्थ एकाधिक किये हैं, अतः श्लेष है। भाष्य में ऐसे स्थल इनके अतिरिक्त भी हो सकते हैं।

२. मन्त्रानुक्रमणिका

मन्त्र	पृष्ठ
अग्न आयूंषि पवस	१९७
अग्निना तुर्वशं यदुं	५७
अग्निः पशुरासीत्	१५२
अग्ने वीहि हविषा	२२६
अग्ने सहस्व पृतना	१५३
अग्ने सुखतमे रथे	१३२
अजोहवीदश्विना	६०
अदित्यास्त्वगसि	१९०
अपश्यं गोपामनिपद्य	१०६
अपाघमप किल्विष	२२८
अभीवृतं कृशनै	२१३
अयं मित्रो नमस्यः	२००
अवः परेण पर एना	९८
अश्याम ते सुमतिं	१५५
अद्भुतमसि हविर्धानं	१५१
आ कृष्णेन रजसा	१८७
आ क्षोदो महि वृतं	२२५
आ तू न इन्द्र कौशिक	१४१
आ त्वेता निषीदत	१८३
आ द्यां तनोषि	२२०
आधत्त पितरो गर्भं	१५८
आपः पृणीत भेषजं	१४७
आयं गौः पृश्नि	१३४
आर्ष्टिषेणो होत्रमृषि	६२
आ वां रथो अश्विना	१६३
इडे रन्ते हव्ये काम्ये	१६४
इदं विष्णुर्विचक्रमे	१११
इन्द्र आसां नेता	१५७
इन्द्रश्च मृडयाति नो	१८४
इन्द्रस्य नु वीर्याणि	२१५
इन्द्रं विश्वा अवीवृधन्	१९२
इन्द्राग्नी अपादिर्य	११७
इन्द्रो अङ्ग महद्भय	१३३
इन्द्रो जयाति न पराजयाता	७०
इमं तं पश्य वृषभस्य	६३
इमं यज्ञमिदं वचो	१७२
इमामग्ने शरणिं	११२
इमा रुद्राय स्थिरधन्वने	७०
इयं शुष्मेभिर्बिसखा	९२,१२६
उग्रश्च भीमश्च	१४५
उच्छ्रयस्व वनस्पते	१६०
उतासि मैत्रावरुणो	७४
उदुत्तमं वरुण पाश	६५
उद्यन्नद्य मित्रमह	२२०
उपयामगृहीतोऽसि	१४७
उष आ भाहि भानुना	२१९
ऊर्ध्वं केतुं सविता	२२४
ऋचां त्वः पोषमास्ते	३१
ऋचो अक्षरे परमे	२२,८४
एकं पादं नोत्खिदति	१०७
एकः सुपर्णः स समुद्र	१०२
एन्द्र सानसिं रयिं	९४

मन्त्र	पृष्ठ	मन्त्र	पृष्ठ
एष ते रुद्र भागः	१९८	धूरसि धूर्व धूर्वन्तं	१७८
एषा जनं दर्शता	२१९	ध्रुवं ज्योतिर्निहितं	९९
कद्रुद्राय प्रचेतसे	१९१	निरिन्द्र भूम्या अधि	२२१
कनिक्रदज्जनुषं	१६८	नूचित् सहोजा अमृतः	१४४
कविमग्निमुपस्तुहि	१७७	पतङ्गमक्तमसुरस्य	१०३
काण्डात् काण्डात्	२२७	पतङ्गो वाचं मनसा	१०५
कुमारं माता युवतिः	५०	पुनर्मनः पुनरायुर्म	१४९
क्षत्रेणाग्ने स्वायुः	१५४	पुराम्भिन्दुर्युवा	२००
गयस्फानो अमीवहा	२०७	पृथक् प्रायन् प्रथमा	३२
गूहता गृह्यं तमो	९६	प्र सूनव ऋभूणां	४९
गौरीर्मिमाय	९८	प्राता रथो नवो योजि	३४
चतुष्कपर्दा युवतिः	१०१	बृहस्पतिः समजयद्	२२५
चत्वारि वाक् परिमिता	८७	भूताय त्वा नारातये	२०९
चत्वारि शृङ्गा	३१,४२,२१०	मा भेर्मा संविक्था	१५१
तद् विष्णोः परमं	१४०	मित्रं हुवे पूतदक्षं	७४
तयोरिद् घृतवत् पयो	११०	य ईं चकार न सो	२८,९०
तरणिर्विश्वदर्शतो	९५	यः पृथिवीं व्यथमाना	१३६
ता विद्वांसा हवामहे	१६२	यत् त्वा देव प्रपिबन्ति	८६
तिर्यग्बिलश्चमस	८३	यत्रा सुपर्णा अमृतस्य	८१
तिस्रः क्षपस्त्रिरहा	५१	यदा ते हर्यता हरी	१८५
त्यं चिद् घा दीर्घं	२१८	यदिन्द्राग्नी अवमस्यां	२०२
त्र्यायुषं जमदग्नेः	३९	यन्त्री राड् यन्त्र्यसि	१६६
त्वं सोम पितृभिः	१३५	यस्याश्वासः प्रदिशि	१३७
त्वं सोमासि सत्पतिः	२०५	या नः पीपरदश्विना	२१७
त्वष्टा रूपाणि हि	२२२	याभिः शुचन्तिं धनसां	४८
त्वादत्तेभी रुद्र	१६७	या शतेन प्रतनोषि	२२७
दनो विश इन्द्र	४६	या सुरथा रथीतमा	१३२
दिव्यं सुपर्णं वायसं	२४	यां मेधां देवगणाः	१९७

मन्त्र	पृष्ठ
यास्ते अग्ने सूर्ये	१९६
युञ्जते मन उत	१३९
युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं	१८२
युवा सुवासाः परिवीत	१६०
येनेदं भूतं भुवनं	१७३
योगे योगे तवस्तरं	१९४
रथाय नावमुत नो	३३
रुक्मप्रस्तरणं वह्यं	७१
रूपं रूपं प्रतिरूपो	१००
वधीर्हि दस्युं	२१६
वयं सोम व्रते तव	१८८
वाचं ते शुन्धामि	१६१
वायो तव प्रपृञ्चती	१८१
विधुं दद्राणं समने	८५
विभक्तारं हवामहे	१८६
विश्वकर्मा विमना	६४,८१,१००
विश्वानि देव सवितर्	४
विश्वामित्रा अरासत	१५७
विश्वेत्ता विष्णुराभरत्	४७
विश्वे देवास आ गत	१५९
वृत्रखादो बलंरुजः	२२३
वेदाहमस्य भुवनस्य	२५
व्यञ्जिभिर्दिव आता	१६३
व्रजं कृणुध्वं	१०८
शतमश्मन्मयीनां	२२४
शासद् वह्निर्दुहितुर्	६७
शुनं नः फाला वि कृषन्तु	१६९
शुनःशेपो ह्यह्वद्	६५
स केतुरध्वराणा	२२३
सनेमि चक्रमजरं	२३
स नो दूराच्चासाच्च	१९५
स नो विश्वाहा सुक्रतुः	२०८
सप्त ऋषयः प्रतिहिताः	८२
समानं वत्समभि	३३
सिनीवालि पृथुष्टुके	१६५
सुकिंशुकं वहतुं	७१
सुपर्णा एत आसते	४६
सुभूः स्वयम्भूः	१४२
सुविवृतं सुनिरज	१८४
सूयवसाद् भगवती	२२१
सोम गीर्भिष्ट्वा वयं	९४
सोमं मन्यते पपिवान्	८६
सोमापूषणा जनना	१४६
स्तृणीत वर्हिरानुषग्	१५०
स्थिरा वः सन्त्वायुधा	७०
स्थिरो भव वीड्वङ्ग	१६६
स्योना पृथिवि नो	२२९
स्वयुरिन्द्र स्वराडसि	१५६
स्वराडसि सपत्नहा	२०३
हंसः शुचिषद्	११४
हिरण्यपाणिमूतये	१३८

३. सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

१. अथर्ववेदसंहिता, मूल, स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४३।

२. अथर्ववेदसंहिता, सायण-भाष्य, वि. वै. शोध-संस्थान, होशियारपुर।

३. अस्यवामीय सूक्त, आत्मानन्द, संपा. सी. कुन्हन राजा।

४. आर्याभिविनय, स्वामी दयानन्द।

६. उणादिकोष, स्वामी-दयानन्द-वृत्ति, रामलाल कपूर ट्रस्ट।

७. उपनिषत्समुच्चय, मोतीलाल बनारसीदास।

८. ऋग्वेदसंहिता, मूल, स्वाध्याय मण्डल, औंध, १९४०।

९. ऋग्वेदसंहिता, सायण-भाष्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना।

१०. ऋग्वेदसंहिता, स्वामी-दयानन्द-भाष्य, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

११. ऋग्वेदसंहिता, स्कन्दस्वामी-उद्गीथ-वेंकटमाधव-मुद्गल-भाष्य, वि. वै. शोध-संस्थान।

१२. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, स्वामी दयानन्द।

१३. ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन, युधिष्ठिर मीमांसक।

१४. ऐतरेय ब्राह्मण, सायणभाष्य, आनन्दाश्रमग्रन्थावलि।

१५. ऐतरेय ब्राह्मण, हिन्दी अनुवाद, गंगाप्रसाद उपाध्याय।

१६. काव्यप्रकाश, मम्मट।

१७. कौशिकसूत्रम्, कौशिक।

१८. चतुर्वेदवैयाकरणपदसूची, वि. वै. शोध-संस्थान।

१९. तैत्तिरीयब्राह्मणम्, भट्टभास्करसायणभाण्योपेतम्।

२०. तैत्तिरीयारण्यकम्, सायणभाष्योपेतम्, आनन्दाश्रमग्रन्थावलि।

२१. निरुक्त और वेद में इतिहास, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु।

२२. निरुक्तभाष्य, चन्द्रमणि विद्यालंकार।

२३. निरुक्तम्, यास्काचार्यप्रणीतम्, दुर्गटीका।

२४. निरुक्तम् यास्काचार्यप्रणीतम्, स्कन्दटीका।

२५. निरुक्तसमुच्चयः, वररुचि।

२६. निरुक्तसम्मर्शः, स्वामी ब्रह्ममुनि।

२७. बृहद् देवता, शौनक, संपा, रामकुमार राय, चौखम्बा वाराणसी।

२८. ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, मोतीलाल बनारसीदास।

२९. ब्राह्मणोद्धारकोषः, वि. वै. शोध-संस्थान।

३०. महाभाष्य, पतंजलि, गुरुकुल झज्जर, हरयाणा।

३१. यजुर्वेद, काठकसंहिता, स्वाध्याय मण्डल, किला पारडी।

३२. यजुर्वेदभाष्यविवरण, भूमिकासहित, प्रथमभाग, ब्रह्मदत्त जिज्ञासु।

३३. यजुर्वेद (वा. मा. शुक्ल) संहिता, उवटमहीधरभाष्योपेता, मोतीलाल बनारसीदास।

२४. यजुर्वेद (वा. मा. शुक्ल) संहिता, स्वामिदयानन्दभाष्य, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

२५. वेदरहस्य, श्री अरविन्द, श्री अरविन्दाश्रम, पांडिचेरी।

२६. वेदों की वर्णनशैलियाँ, रामनाथ वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय।

२७. वैदिक कोष, सूर्यकान्त, हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी।

२८. वैदिक कोष, राजवीर शास्त्री, आर्यसाहित्य प्रचार ट्रस्ट, कमला नगर, दिल्ली।

२९. वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भगवद्दत्त विश्वश्रवा।

३०. वैदिक सिद्धान्त मीमांसा, युधिष्ठिर मीमांसक।

३१. शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिनीयम्) हरिस्वामी तथा सायणकृत भाष्य।

३२. शतपथब्राह्मण (हिन्दी अनुवाद), गंगाप्रसाद उपाध्याय।

३३. सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर।

३४. सत्यार्थप्रकाश, स्वामी दयानन्द, शताब्दी संस्करण, रामलाल कपूर ट्रस्ट।

३५. सामवेदसंहिता, सायणभाष्य, आनन्दाश्रमग्रन्थावलि।

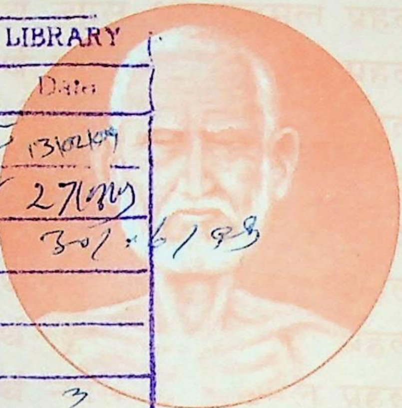
A History of Sanskrit Literature	Macdonell
Brihad Devata	Macdonell
Hymns of the Atharvaveda	Griffith
Hymns of the Rigveda	,,
The White Yajurveda	,,
Sanskrit-English-Dictionery	Moneir Williams
Sanskrit-English-Dictionery	Apte
Secret of the1 Veda	Shri Aurobindo.
Sciences in the Vedas	V.N. Shastri
Vedic 1ndex	Macdonell & Keith
Vedic Mythology	Macdonell

४. संकेत-सूची

अथर्व	अथर्ववेद संहिता
अनु.	अनुवाक
अ.प.	अथर्ववेद-परिशिष्ट
आश्व. गृ.	आश्वलायन गृह्यसूत्र
उ.	उणादि
ऋग्	ऋग्वेद संहिता
ऋ. भा.	ऋग्वेदभाष्य
ऋ. भा. भू., दयानन्द	ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका
ऋ. भा. भू., सायण	ऋग्वेदभाष्यभूमिका
ऐ. उ.	ऐतरेय उपनिषद्
ऐ. ब्रा.	ऐतरेय ब्राह्मण
क. उ.	कठ उपनिषद्
काठ	काठक संहिता
केन	केन उपनिषद्
कौ. ब्रा.	कौषीतकी ब्राह्मण
कौ. सू.	कौशिक सूत्र
छा. उ.	छान्दोग्य उपनिषद्
जै. ब्रा.	जैमिनीय ब्राह्मण
टि.	टिप्पणी
तै. आ.	तैत्तिरीय आरण्यक
तै. उ.	तैत्तिरीय उपनिषद्
तै. ब्रा.	तैत्तिरीय ब्राह्मण
तै. सं.	तैत्तिरीय संहिता
द. भा.	दयानन्द-भाष्य
दया.	दयानन्द
निघं.	निघण्टु
निरु.	निरुक्त

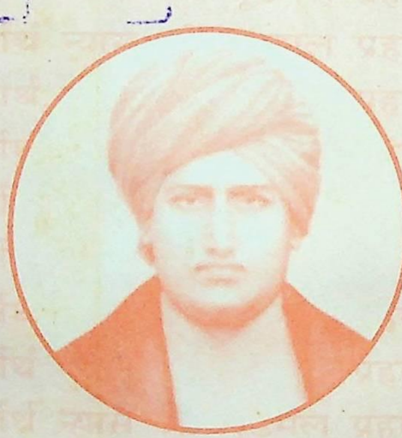
नि. स.	निरुक्तसमुच्चयः, वररुचि
पा.	पाणिनीय अष्टाध्यायी
पा. शि.	पाणिनीय शिक्षा
प्रश्न.	प्रश्न उपनिषद्
बृ. दे.	बृहद्देवता
ब्र. सू.	ब्रह्म सूत्र
मनु.	मनुस्मृति
य. भा.	यजुर्वेदभाष्य
यजु.	यजुर्वेदसंहिता (वाजसनेयि माध्यन्दिन)
वे. ज्यो.	वेदाङ्गज्योतिष
श.	शतपथब्राह्मण (माध्यन्दिन)
स. प्र.	सत्यार्थप्रकाश
सा. भा.	सायणभाष्य
स्क. टी.	स्कन्द-टीका (निरुक्त)

□□□



गुरुवर्य विरजानन्दजी

ओ३म्

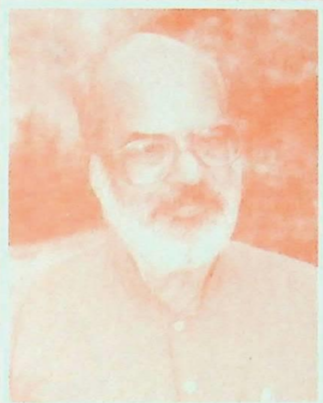


ऋषिराज दयानन्द

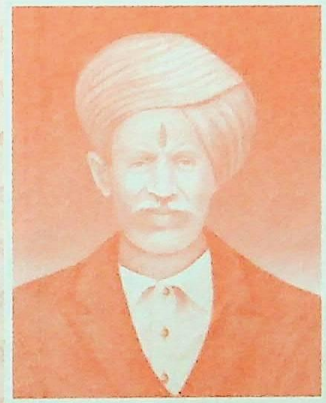


पं० गुरुदत्त विद्यार्थी

हमारे प्रेरक एवं सहयोगी



स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती



स्मृ० श्री घूडमल आर्य



स्मृ० श्री प्रहलाद आर्य



डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालङ्कार वैदिक साहित्य के ख्याति-प्राप्त मर्मज्ञ विद्वान् हैं । आपका जन्म ७ जुलाई १९१४ को फरीदपुर, बरेली, (उ०प्र०) में माता श्रीमती भगवती देवी एवं पिता श्री गोपालराम के घर हुआ । शिक्षा गुरुकुल काङ्गड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार में हुई । इसी संस्था में ३८ वर्ष वेद-वेदाङ्ग, दर्शनशास्त्र, काव्यशास्त्र, संस्कृत साहित्य आदि विषयों के शिक्षक एवं संस्कृतविभागाध्यक्ष रहते हुए समय-समय पर आप कुलसचिव तथा आचार्य एवं उपकुलपति का कार्य भी करते रहे । इस संस्था ने आपको विद्यामार्तण्ड की मानद् उपाधि से भी सम्मानित किया । आपने आगरा विश्व-विद्यालय से संस्कृत में एम० ए० तथा पी-एच०डी० परीक्षाएँ उत्तीर्ण की हैं । आपका पी-एच०डी० का शोधप्रबन्ध 'वेदों की वर्णन-शैलियाँ' है, जो प्रकाशित है। १९७६ में आप गुरुकुल विश्वविद्यालय से सेवानिवृत्त होकर तीन वर्ष के लिए पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में **'महर्षि दयानन्द वैदिक अनुसन्धान पीठ'** के **प्रथम आचार्य एवं अध्यक्ष नियुक्त हुए** । वहाँ से आपके तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए—वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ, महर्षि दयानन्द के शिक्षा, राजनीति और कलाकौशल सम्बन्धी विचार, वैदिक शब्दार्थ विचार । आप द्वारा लिखित अन्य विशिष्ट ग्रन्थ हैं—**वेदमञ्जरी, वैदिक नारी, वैदिक मधुवृष्टि, आर्ष ज्योति, ऋग्वेद-ज्योति तथा सामवेद का संस्कृत एवं हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य** । वैदिक एवं संस्कृत साहित्य की सेवा के उपलक्ष्य में आप कई पुरस्कारों एवं सम्मानों से सम्मानित हो चुके हैं, जिनमें आर्यसमाज सान्ताक्रूज मुम्बई का वेद-वेदाङ्ग पुरस्कार, उत्तरप्रदेश संस्कृतसंस्थान का विशिष्ट संस्कृत पुरस्कार, महामहिम राष्टपति द्वारा सम्मान तथा भारतीय विद्याभवन बैंगलूर का गुरु गंगेश्वरानन्द वेदरत्न पुस्कार प्रमुख हैं।

आवरण : श्रीमहालक्ष्मी, ०११-६५८८०५११, ९३१३३७८२३२